हिन्दी निबन्ध की विभिन्न शैलियाँ

सम्पादक

डॉ० मोहन अवस्थी, एम० ए०, डी० फ़िल०

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

सरस्वती प्रेस

इलाहाबाद, वाराणसी, दिल्ली

प्रकाशक

सरस्वती प्रेस,
५, सरदार पटेल मार्ग
इलाहाबाद–१

प्रथम संस्करण
जून, १९६६
मूल्य : सोलह रुपए

मुद्रक

कैक्सटन प्रेस,
१-ए/१ बाई का बाग,
इलाहाबाद–३

अनुक्रम

निबंध : स्वरूप और शिल्प

निबंध क्या है ? इस प्रश्न का एक निश्चित उत्तर अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है। विभिन्न विचारकों ने उसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। आधुनिक समालोचकों ने निबंध के स्वरूप को स्पष्ट करने के जितने प्रयत्न किए, निबंध की परिभाषा उतनी ही दुष्कर होती गई। उदाहरणार्थ प्रो० विलियम्स 'The most delightful airy mould of thought which admits of every literary grace and every high quality of mind compatible with its essential smallness of scale' को निबंध मानते हैं, तो ऑसबोर्न की दृष्टि में निबंध 'A light gossipy article on a topical subject' है। और जे० बी० प्रीस्टले 'a genuine expression of an original personality—an artful and enduring kind of talk' को निबंध कहते हैं।

उपर्युक्त तीन परिभाषाओं में तीन पारस्परिक विरोधी लक्षण उपलब्ध होते हैं। विलियम्स विचारों के उल्लासयुक्त वायवीय ढाँचे में साहित्यिक उदात्तता तथा मस्तिष्क की उच्चता से सम्बद्ध सब कुछ निबंध के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं, लेकिन ऑसबोर्न सामयिक विषय पर गप्पमयी रचना को निबंध मानते हैं और प्रीस्टले महोदय मौलिक व्यक्तित्व की सही अभिव्यक्ति के साथ कलात्मक सह्य बातचीत को महत्व देते हैं। विलियम्स तथा ऑसबोर्न के कथन तो स्पष्टरूपेण उत्तर-दक्षिण दिशाओं की भाँति परस्परविरोधी हैं, किन्तु प्रीस्टले की उक्ति अपने में ही भ्रमात्मक है। उसमें एक ओर तो मौलिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को निबंध कहा गया है और दूसरी ओर artful and enduring talk कहकर पूर्वकथित का खंडन कर दिया गया है। मौलिक व्यक्तित्व के लिए यह जरूरी नहीं कि वह कलात्मक और सह्य वार्तालाप के रूप में ही अभिव्यक्त हो। जब

व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति किन्हीं शर्तों के भीतर रहकर होगी, तो व्यक्तित्व की मौलिकता खंडित हो जाएगी। इस प्रकार निबंध की सभी परिभाषाएँ अपूर्ण तथा एकांगी हैं।

हिन्दी के विद्वानों ने भी निबंध के स्वरूप पर अपने विचार प्रकट किए हैं। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल निबंध को गद्य की कसौटी मानते हैं और निबंध का चरम उत्कर्ष वहाँ स्वीकार करते हैं, जहाँ 'एक-एक पैराग्राफ़ में विचार दबा-दबाकर ठूँसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड के लिए हो।' स्पष्ट है कि शुक्लजी विचार गांभीर्य तथा भाषा की सामासिकता को तरजीह देते हैं। लेकिन बाबू गुलाबराय ने स्वच्छन्दता, निजीपन एवं सजीवता पर बल दिया है—'निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।' निबंध की इस परिभाषा में आए विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव, सजीवता सापेक्षिक शब्द हैं। और फिर विशेष निजीपन तथा स्वच्छन्दता एक साथ रहें ही, यह जरूरी नहीं है। बेकन के निबंधों में विशेष निजीपन है, लेकिन स्वच्छन्दता नहीं है। इसके साथ ही सीमित आकार भी किसी खास मात्रा का बोधक नहीं है। बाबूजी ने जो भी सराहनीय बातें एक रचना में होनी चाहिए, वे सब यहाँ रख दी हैं; किन्तु परिभाषा देखने में अच्छी होने पर भी अस्पष्ट है।

एक अन्य समीक्षक ने एक ऐसी परिभाषा प्रस्तुत की है, जो अपने भीतर सभी कुछ अन्तर्भुक्त कर लेती है। उसके अनुसार निबंध एक 'short discursive article on any literary, philosophical or social subject, viewed from a personal or historical standpoint.' है। यह परिभाषा निबंध, प्रबंध और लेख सभी को हज़म करने की सामर्थ्य रखती है। पूर्वोक्त परिभाषाएँ यदि अव्याप्ति या असंगति दोष के कारण अस्वीकार्य थीं, तो यह परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से दूषित है।

ऊपर दी गई आधे दर्जन परिभाषाएँ भी वास्तव में हमारी असली समस्या सुलझा नहीं पातीं। लेकिन इन परिभाषाओं से एक बात जरूर स्पष्ट हो जाती है कि निबंध की सामग्री के विषय में इतना वाद-विवाद नहीं, जितना प्रस्तुति-प्रकार के संबंध में है। इस समस्या को हल करने

के लिए 'निबंध' शब्द के अर्थ-विकास पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। संस्कृत में निबंध पद्य या गद्य किसी भी रचना के लिए आता था और विशेष रूप से अमुक्तक पद्यकाव्य ही निबंध संज्ञा से अभिहित होता था। निबंध का अर्थ है 'अच्छी तरह बंधा हुआ।' तुलसीदास ने भी रामचरितमानस को 'भाषा निबंधम्' कहा है और उस निबंध का कारण स्वान्तः सुख बताया है, अर्थात् निबंध में वर्णन किसी का भी हो, लेकिन लेखक का मन उसमें सुख प्राप्त करे। इस प्रकार रमणीयता लेखक की दृष्टि से निबंध की अनिवार्यता सिद्ध होती है। आशय यह कि कसावट यानी सुश्रृङ्खलता और रमणीयता निबंध-रचना के दो प्रधान तत्व हैं। एक बात अब सुनिश्चित हो गई है कि इस युग में निबंध गद्य रचना को ही कहते हैं, पद्य को नहीं। अँगरेज़ी साहित्य में भी पद्य में लिखे Essay on Criticism तथा Essay on Mind निबंध कहे गए हैं। परन्तु अब उस साहित्य में भी निबंध का अर्थ गद्य रचना से ही होता है।

निबंध का समानार्थक अँगरेज़ी में एसे (Essay) शब्द है। सबसे प्रथम मोतेन ने इसका प्रयोग अपनी रचनाओं के लिए किया था। मोतेन ने समय-समय पर लिखी अपनी टिप्पणियों को Essai कहा है। Essai का अर्थ है प्रयास। प्रयास के भीतर अपूर्णता, अवैज्ञानिकता, अक्रम एवं अव्यवस्था का होना स्वाभाविक है। मोतेन द्वारा प्रदत्त इस शब्द की अर्थ-व्याप्ति को लेकर ही कदाचित् डॉ० जानसन ने निबंध की यह परिभाषा दी होगी कि 'Essay is a loose sally of mind, an irregular, indigested piece, not a regular and orderly performance.' यही शब्द ऐसे (Essay) बेकन द्वारा अपने निबंधों के लिए व्यवहृत हुआ है। परंतु बेकन ने उसके परिवर्तित (भाषाविज्ञानियों के अनुसार विकसित) अर्थ के बजाय उसका मूल अर्थ ग्रहण किया। यह शब्द लैटिन शब्द Exagium से व्युत्पन्न है और इसका अर्थ है 'तोलना।'

बेकन के निबंधों में यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। कक्षाओं में लिखे जानेवाले निबंधों में किया गया गुण-दोष-विवेचन भी इसी भाव के अन्तर्गत है। गुण-दोष-विवेचन loose sally of the mind नहीं हो सकता। अतएव निबंध में व्यवस्था, क्रम तथा चिन्तन की स्थिति आवश्यक हो जाती है। आशय यह कि भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों व्याख्याओं से यही सिद्ध होता है कि संगति तथा रोचकता निबंध के लिए अनिवार्य है। इन दोनों में से किसी एक को न मानने से बहुत

सी उत्कृष्ट और मनोरम रचनाएँ निबंध क्षेत्र से बहिष्कृत करनी पड़ेंगी। संगति मस्तिष्क का कार्य है और रोचकता हृदय की माँग है। संगति विहीन वार्तालाप पागलपन है और केवल चिंतन-विवेचन भार तथा बोरियत का पर्याय। अतएव निबंध की परिभाषा में इन दोनों का समन्वय होना चाहिए। हृदय को कोई चीज बहुत देर तक नहीं रुच सकती। इसलिए रचना का बड़ा होना रोचकता में घातक सिद्ध होता है। यही कारण है कि निबंध के लिए छोटा होना आवश्यक समझा जाता है, वैसे लम्बी होने से ही किसी रचना को हम अनिबंध क़रार नहीं दे सकते। पं० रामचन्द्र शुक्ल के कई निबंध लम्बे हैं, किन्तु वे निबंध नहीं हैं, यह कहना दुराग्रह मात्र होगा। अस्तु, हमारी समझ में **निबंध वह छोटी ललित गद्य रचना है, जिसमें विषय-प्रतिपन्नता के साथ हृदय का निर्बन्ध विचरण हो।** मैंने यहाँ 'प्रतिपन्नता' तथा निर्बन्ध' शब्दों का प्रयोग सोद्देश्य किया है। यद्यपि निबंध शब्द की परिभाषा देना वायु को मुट्ठी में बन्द करने की चेष्टा करना है, क्योंकि चाहे संस्कृत-हिन्दी को लें, चाहे अँगरेजी को, इस विधा के इतने रूप और इतनी शैलियाँ प्रचलित हैं कि उन सभी को किसी विशिष्ट परिभाषा के भीतर समेटकर रख देना असंभव-सा प्रतीत होता है; फिर भी यदि 'प्रतिपन्नता' तथा 'निबंध' शब्दों की अर्थ-सामर्थ्य पर ध्यान रहे, तो इस परिभाषा के अनुसार निबंध न तो केवल loose sally of mind है और न सिर्फ़ एसे, जिसमें विचार कूट-कूटकर भरे हों।

निबंध में आत्म-प्रकाशन रहता है। शैली में उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष या अन्य पुरुष सर्वनाम के प्रयोग से यहाँ तात्पर्य नहीं है। शैली किसी भी प्रकार की हो सकती है, जैसे "इत्यादि की आत्मकहानी' का निम्नांकित उदाहरण—

"अपने जन्म का सन्-संवत्-मिती-दिन मुझे कुछ भी याद नहीं। याद है इतना ही कि जिस समय 'शब्द का महा अकाल' पड़ा था, उसी समय मेरा जन्म हुआ था। मेरी माता का नाम 'इति' और पिता का 'आदि' है। मेरी माता अविकृत 'अव्यय' घराने की है। मेरे लिए यह थोड़े गौरव की बात नहीं है; क्योंकि भगवान् फणीन्द्र की कृपा से 'अव्यय' वंशवाले, प्रतापी महाराज 'प्रत्यय' के कभी अधीन नहीं हुए। वे सदा स्वाधीनता से विचरते आए हैं।"

इस खंड में यदि सर्वनाम के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग करते चलें,

तो एक विचार-प्रधान लेख तैयार हो जाएगा। यहाँ विचार हैं, विश्लेषण है, लेकिन शैली पांडित्य-भाराक्रान्त नहीं है। शैली की वार्तालाप-सुकरता तथा भाषा की सरलता लेखक और पाठक के बीच आत्मीयता का भाव जगाती है। यह क्यों? क्योंकि इस लेख की शैली में जो व्यंग्य, हास्य या भंगिमा-चित्र रक्खे गए हैं, वे विषय-प्रतिपादन से कहीं अधिक लेखक से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार यह आत्मकहानी निबंध के अन्तर्गत आएगी।

निबंधकार यद्यपि न इतिहासकार है, न दार्शनिक; न कवि है, न उपन्यासकार, तो भी इन सबके गुण उसमें पाए जाते हैं। वह अपने पाठक से किसी प्रकार का दुराव नहीं करता। वह अपने व्यक्तित्व को एक गति प्रदान करके छोड़ देता है। छोटी से छोटी बात को भी वह निस्संकोच होकर कह देता है। यदि चलते-चलते जूता उसके पैर में काटने लगता है, तो वह झट चिल्ला पड़ता है—अरे, मुझे जूता काट रहा है।

इसलिए चरित्र-चित्र, पत्र, आत्मकथा आदि किसी भी शैली में लिखी रचना निबंध हो सकती है। जिस प्रकार एक विशेष शैली निबंध की शर्त नहीं है, उसी प्रकार विषय भी। दार्शनिक, बौद्धिक, धार्मिक कोई भी विषय निबंध-क्षेत्र से बाहर नहीं है। उसका विषय गंभीर तथा शैली आलंकारिक हो सकती है, लेकिन उसमें आत्मीयता का सूत्र अनिवार्य रूपेण विद्यमान रहना चाहिए। निबंधकार चाहे एक विशाल प्रासाद में सबसे पृथक् ही क्यों न बैठे; परन्तु उसके सारे मार्ग, खिड़कियाँ और दरवाज़े जनसाधारण के लिए उन्मुक्त रहने चाहिए। निबंधकार भले ही एकांतसेवी हो, लेकिन पाठक उसे देखते ही पहचान ले कि वह बैठे हैं हमारे जिगरी दोस्त। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निबंध एक ललित रचना है और ललित को मात्र उपयोगी एवं विचारात्मक से पृथक् करना ही निबंध, प्रबंध तथा लेखादि का अन्तर स्पष्ट करना है।

ऐतिहासिक विकास

पश्चिम में निबंध का उद्गम प्लेटो, अरिस्टाटिल, थियोफ्रेस्टस, सेनेका, प्लूटार्क एवं सिसरो आदि चिंतकों की कृतियों में खोजा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि दो एक तत्व प्लेटो, सिसरो या सेनेका की रचनाओं में मिल जाते हैं; लेकिन निबंध में जो तन्मयता अथवा आत्मपरकता अभीष्ट है, वह इनमें नहीं मिलती। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार आधुनिक निबंध के बीज अरिस्टाटिल के चरित्र-चित्रों में उपलब्ध हैं। उसने 'आदर्श

मानव' का जो स्केच अथवा चित्र अंकित किया है, वह निबंध कहा जा सकता है। अरिस्टाटिल की प्रणाली का थियोफ्रेस्टस ने सफलतापूर्वक अनुकरण किया। थियोफ्रेस्टस से कुछ काल बाद सेनेका ने कुछ 'नैतिक पत्र' लिखे थे, जिन्हें बेकन ने निबंध कहकर अभिहित किया है।

लेकिन आधुनिक निबंध का मूल रूप फ्रांसीसी लेखक मोतेन (सन् १५३३-१५९२) की रचनाओं में प्राप्त होता है। मोतेन सच्चे अर्थों में सबसे पहला निबंधकार है, जिसने न केवल विषय-वस्तु प्रस्तुत की, अपितु ऐसे शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम किया। मोतेन ने अपने को ही निबंध का विषय बनाया। उसका कथन था कि उसने अपने को ही निबंध का विषय क्यों चुना ? इसलिए कि वह जिसे अच्छी तरह समग्रता से जानता है, वह स्वयं वही है। अतएव मोतेन अपने निबंध के संबंध में कहता है :-
'I speak unto paper as unto the first man.'

मोतेन के १५८० ई० में प्रकाशित निबंधों का प्रथम अँगरेज़ी अनुवाद सन् १५९३ में छपा। इंग्लैण्ड में उस समय तक यद्यपि कोई निबंध-संग्रह प्रकाश में नहीं आया था, मगर फ्रांसिस बेकन (सन् १५६१-१६२६ ई०) तब तक अपने कुछ निबंध लिख चुका था। बेकन का निबंध-संग्रह सन् १६१२ में प्रकाशित हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से अँगरेज़ी साहित्य में निबंध-परंपरा का विकास इसी समय से माना जाता है।

बेकन के निबंधों में प्लेटो, अरिस्टाटिल तथा सिसरो का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं तो उसका सारा नैतिक चिंतन अरिस्टाटिल के तर्कों पर स्पष्ट आधारित है। बेकन की भाषा कसी हुई गंभीर, विचार-बोझिल तथा सूत्रात्मक है। उसके एक-एक वाक्य में, एक-एक पैराग्राफ़ का भाव अन्तर्हित रहता है, जैसे 'Revenge is a kind of wild justice.' उसके निबंध सूक्तियों के भंडार से प्रतीत होते हैं। 'Men fear death as children fear to go in the dark,' अथवा 'Virtue is like precious odours.' जैसे वाक्य उसके निबंधों में भरे पड़े हैं। यदि विचारपूर्वक देखें, तो ये निबंध मोतेन के निबंधों से मेल नहीं खाते। दोनों की शैलियाँ अलग-अलग हैं। मोतेन के निबंध जहाँ आत्मनिष्ठ हैं, वहाँ बेकन में वस्तुनिष्ठता तथा विचारों की प्रधानता मिलती है। लेकिन उसकी ये कृतियाँ निबंध का एक लक्षण ज़रूर रखती हैं और वह यह कि उसके निबंध किसी विचार-सरणि की पूर्व-योजना ध्यान में रखकर प्रारंभ नहीं होते। फलस्वरूप उसके एक निबंध में दो-दो

तीन-तीन विषय तक घुस बैठते हैं और बेकन परस्परविरोधी बातें कहने लगता है। परस्परविरोधी तत्वावधान की एक वजह यह भी है कि बेकन अपने निबंधों में निर्वैयक्तिक चिन्तन के साथ सांसारिक व्यवहार-साफल्य का समझौता भी कराना चाहता है। इसे हम उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी कह सकते हैं। यह व्यक्तिपरकता गौण है। परन्तु उसके निबंध क्रमबद्ध चिंतन न होकर बिखरी विचार टिप्पणियाँ मात्र हैं और बेकन ने स्वयं भी उन्हें dispersed meditation कहा है। इस तरह उसके निबंध loose sally of mind तो नहीं हैं, मगर irregular piece अवश्य हैं। उनमें अपूर्णता है, जिसको कि निबंध का एक लक्षण माना जाता है।

अँगरेज़ी साहित्य में मोतेन की शैली पर निबंध सर्वप्रथम अब्राहम काउली (सन् १६१८-१६६७) ने लिखे। लेकिन जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, थियो फ्रेस्टस ने चरित्र-चित्र प्रस्तुत किए थे। ये चित्र इतने प्रभावी सिद्ध हुए कि अंगरेज़ी साहित्य में इस प्रकार की एक धारा चल पड़ी, जिसने एडिसन (सन् १६७२-१७१९ ई०) और स्टील (सन् १६७२-१७२९ ई०) के निबंधों में अपनी चरम कला प्रदर्शित की। एडिसन-स्टील ने निबंध को जो मोड़ प्रदान किया, उससे उपन्यास का विकास हुआ। पत्रकारिता के साथ यह शैली उन्नत होती गई। एडिसन-स्टील के स्केच 'निबंध' कहे जा सकते हैं या नहीं, यह एक कठिन प्रश्न है। वस्तुतः उन्हें निबंध कोटि में नहीं रखा जाना चाहिए, क्योंकि वे स्केच वर्गप्रकार हैं। लेकिन लेखकों के एक वर्ग ने इन निबंधकारों से पृथक् मार्ग पकड़ा। इसी वर्ग के लेखकों ने निबंध को अपने वर्तमान रूप में प्रतिष्ठित किया। डी क्विन्सी, ले हंट, हैज़लिट से होता हुआ निबंध चार्ल्स लैम्ब (सन् १७७५-१८३४ ई०) के हाथों में पहुँचकर कलात्मक पूर्णत्व प्राप्त करता है। लैम्ब के निबंधों में आत्मकथन, चरित्र-चित्रण, आत्मीयता, सम्वादात्मकता, वाग्वैदग्ध्य, मर्मस्पर्शिता, हास्य, करुणा तथा संस्मरण का एक ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण है, जैसा पहले किसी निबंधकार में नहीं देखा गया था। लैम्ब से पूर्व मैकाले (सन् १८००-१८५९ ई०), मैथ्यू आर्नल्ड (सन् १८२२-१८८८), थैकरे (सन् १८११-१८६३), रस्किन (सन् १८१९-१९००), इमर्सन (सन् १८१९-१९००), कार्लाइल (सन् १७९५-१८८१) आदि अनेक महान् नाम हैं। इन लोगों ने ऐतिहासिक, समीक्षात्मक तथा जीवनचरितात्मक विषयों को गंभीर शैली में मौलिक विचारों के साथ प्रस्तुत किया। इनकी रचनाएँ वास्तव में प्रबंध हैं, उन्हें निबंध नहीं कहा

जा सकता। लैम्ब से पहले गोल्डस्मिथ (सन् १८२८-१७७४) ही एक ऐसा लेखक है, जिसके निबंध सुखद तथा भारीपन से मुक्त हैं। लैम्ब के बाद स्टीवेन्सन (सन् १८५०-१८६४) तक अनेक निबंधकार हुए, परन्तु लैम्ब का तो 'रंग ही नया है, कूचा ही दूसरा है।' उसकी निबंध-कला सर्वोच्च ठहरती है। अधुनातन अँगरेजी निबंध लैम्ब के निबंध से प्रकृति में भिन्न नहीं है। बस, उसमें एक विशेषता अधिक उभरी है कि वह प्रगीत की भाँति प्रधानतः व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मात्र बनता जा रहा है।

भारतेन्दु युग—उन्नीसवीं शताब्दी तक अँगरेजी-निबंध-कला स्पृहणीय बन चुकी थी। अँगरेजी राज्य की स्थापना तथा अँगरेजी भाषा के अध्ययन से हिन्दी लेखकों का ध्यान इस विधा की ओर भी गया होगा। हिन्दी गद्य के अधिकारी विद्वान् डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय निबंध को पाश्चात्य साहित्य की ही देन मानते हैं। उनका कथन है, 'उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अँगरेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान साहित्य के केवल काव्य भेद के अतिरिक्त गद्य के विविध रूपों की ओर भी गया। जिस रचना को हम आज 'निबंध' नाम से पुकारते हैं, वह सर्वथा नवीन और पाश्चात्य साहित्य की देन है।'

हिन्दी में निबंध-लेखन सही अर्थों में भारतेन्दु युग से ही प्रारंभ हुआ। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि निबंध का विकास प्रौढ़ गद्य-परंपरा के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि भावान्दोलन तथा मर्मस्पर्शिता लाने के लिए भाषा में पर्याप्त सामर्थ्य की आवश्यकता होती है। हिन्दी-गद्य भारतेन्दु तक आते-आते प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका था। पत्र-पत्रिकाओं के कारण गद्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। आर्थिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक सभी प्रकार के लेख लिखे गए। भाषा के संबंध में भारतेन्दुजी लोक-पोषक थे, अतः इन रचनाओं की भाषा सरल तथा स्वाभाविक है। अँगरेजी राज्य के कारण उत्पन्न परिस्थितियों ने इस युग के लेखकों को व्यंग्यनिपुण बना दिया। भारतेन्दु युग के सभी प्रसिद्ध निबंधकार किसी न किसी पत्र के सम्पादक अथवा लेखक हैं। स्वयं भारतेन्दुजी (सन् १८५०-१८८५), पं० बालकृष्ण भट्ट (सन् १८४४-१६१४), पं० प्रतापनारायण मिश्र (सन् १८५६-१८६४), बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (सन् १८५५-१६२३) आदि सभी लेखक जनता से सम्पर्क रखकर उसे हँसाते, रुलाते और गुदगुदाते थे। इनके निबंधों में एक विचित्र निजीपन, अद्भुत सजीवता

तथा मनोहर रंगीनी मिलती है। परिस्थितियों के प्रहारों ने निबंधों में जो करुण स्वर उत्पन्न किया, उससे उनमें गहरी मर्मस्पर्शिता का समावेश हो गया। विषय-संबद्धता के साथ ताज़गी तथा ज़िंदादिली इस युग के निबंधों का स्मरणीय गुण है। बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में मननशीलता तथा विवेचन के साथ करुण व्यंग्य और प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में स्वच्छन्दता के साथ एक खास वेतकल्लुफ़ी के दर्शन होते हैं। 'प्रेमघन' में आडंबर के कारण स्वाभाविकता का अभाव है। इन लेखकों के अतिरिक्त भारतेन्दु युग में लाला श्रीनिवासदास (सन् १८५०-१८८७), केशवराम भट्ट (सन् १८५४-१९०४), राधाचरण गोस्वामी (सन् १८५९-१९२५), अंबिकादत्त व्यास (सन् १८४२-१९००), जगमोहन सिंह (सन् १८४३-१८९९) आदि और अन्य अनेक प्रसिद्ध गद्यकार हैं, लेकिन उनकी अधिकांश कृतियाँ निबंध की परिधि के भीतर नहीं आतीं।

द्विवेदी युग—भारतेन्दु युग के पश्चात् समालोचनात्मक लेखों की ओर तो प्रवृत्ति बढ़ी, किन्तु निबंध साहित्य में वृद्धि नहीं हुई। इस समय सन् १९०३ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। द्विवेदीजी ने संस्कृतनिष्ठ भाषा का समर्थन किया। परिणामतः देशी कहावतें तथा मुहावरे बहिष्कृत होने लगे। इस प्रकार भाषा में लोक-सम्पर्क-तत्व धीरे-धीरे क्षीण होता गया। इस समय के निबंधों में भारतेन्दु युग की ज़िंदादिली तथा ताज़गी नहीं मिलती। ये निबंध अधिकांश में या तो लेख हैं या प्रबंध। द्विवेदीजी के निबंध स्वयं निबंध की शर्तें पूरी नहीं करते। उनका निबंध 'प्रभात' ही निबंध कहा जा सकता है।

द्विवेदी युग के निबंधकारों में चार नाम अपनी शैली के कारण पाठक का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट करते हैं। सरदार पूर्णसिंह (सन् १८८१-१९३१), चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (सन् १८८३-१९२२), बालमुकुंद गुप्त (सन् १८६५-१९०७) तथा पं० माधवप्रसाद मिश्र (सन् १८७१-१९०७) के निबंध शुद्ध निबंध-गुण-मंडित हैं। पूर्णसिंह के 'सरस्वती' में प्रकाशित तीन ही निबंध 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'सच्ची वीरता' मिलते हैं; लेकिन इन्हीं निबंधों ने उन्हें हिन्दी निबंधकारों में उच्च स्थान का अधिकारी बना दिया है। इन निबंधों का भाषा-प्रवाह, लाक्षणिक प्रयोग तथा वेगवती भावधारा देखते ही बनती है। पूर्णसिंहजी का एक-एक शब्द एक-एक भावमुद्रा है। ऐसा प्रतीत होता है कि हृदय

ही भाषा के रूप में ढल गया है। गुलेरीजी में हास की एक अनूठी छटा है। उनका हास पांडित्याश्रित हास है; इतिहास-पुराण के प्रसंगों से सम्बद्ध विशिष्ट हास है। इन निबंधों में सरल भाषा के सहारे मुस्कराते हुए लेखक ने पाठक को गंभीर विषयों का ज्ञान कराया है। "कछुआ धर्म" और 'मारेसि मोहि कुठांव' उनके प्रसिद्ध निबंध हैं। माधव मिश्र ने पर्व, त्योहार, उत्सव, यात्रा तथा राजनीति संबंधी सभी प्रकार के निबंध लिखे, क्योंकि वह पत्रकार थे। परंतु उनके 'रामलीला', 'श्रीपंचमी' तथा 'सब मिट्टी हो गया' जैसे निबंधों की शैली निराली छटा रखती है। माधवजी के निबंधों में जोश तथा आवेग निश्छलता से प्रकट हैं और बालमुकुन्द गुप्त चुटकी लेने में अपना सानी नहीं रखते। बालमुकुन्द गुप्त के निबंध कहीं चुहल भरी छेड़छाड़ करते हैं और कहीं व्यंग्य की लपेट में हलकी चोट लगाते हैं। उनके 'शिव-शंभु के चिट्ठे', 'चिट्ठे और खत' साहित्य की मूल्यवान सम्पत्ति बन गए हैं। गुप्तजी की भाषा हिन्दी-उर्दू मिश्रित स्वाभाविक प्रवाहमयी भाषा है। मुहावरों-कहावतों ने उसमें प्रभाव और व्यंजना का समावेश करके उसे गत्वर बना दिया है। अन्य निबंधकारों में यशोदानंदन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, गोविन्दनारायण मिश्र (सन् १८५९-१९२६) तथा पद्मसिंह शर्मा (सन् १८७६-१९३३), प्रेमचंद (सन् १८८०-१९३६) और श्यामसुंदरदास (सन् १८७५-१९४५) का नाम लिया जा सकता है।

दो ऐसे निबंधकारों के दर्शन भी इस युग में होते हैं, जिनका उदय तो हो गया था, लेकिन जो अपने रंग में द्विवेदी-युगीन समाज से एकदम भिन्न थे। इन स्वतंत्रचेता निबंधकारों की शैली आगे चलकर पल्लवित-पुष्पित हुई। इन लेखकों में पं० रामचन्द्र शुक्ल (सन् १८८४-१९४०) तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (सन् १८९५-........) प्रकाश-स्तंभ के समान हैं। बख्शीजी के निबंधों की वार्तालाप-शैली और भाषा की स्वाभाविक गति पाठक का चित्त बरबस खींच लेती है। विषय तो जैसे बख्शीजी के लिए बहाना मात्र है। उनके निबंध हमें पाश्चात्य निबंध-शैली की याद दिला देते हैं। 'कुछ' तथा 'मेरे प्रिय निबंध' उनके निबंध-संग्रह हैं। रमणीयता उनकी शैली का विशिष्ट गुण है। यह शैली उनके लेखन का अभिन्न अंग बन चुकी है। क्या निबंध, क्या समालोचना, उनकी शैली की यह विशेषता सब जगह देखी जा सकती है। निबंधों में कथा की रवानगी है और उस कथात्मकता में भावों की तरंग। गोल्ड-

स्मिथ और एडिसन-स्टील की निबंध-शैली के तत्व बख्शीजी के निबंधों में उपलब्ध होते हैं।

बख्शीजी से नितांत पृथक् व्यक्तित्व पं० रामचन्द्र शुक्ल का है। शुक्लजी अपनी विश्लेषणपरक प्रतिभा तथा सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के कारण हिन्दी-समालोचना में युगांतर उपस्थित करनेवाले आचार्य तो हैं ही, निबंध-क्षेत्र में भी उनकी समकक्षता का दूसरा निबंध-लेखक नहीं है। उनके निबंध 'निबंध' शब्द के अर्थ की पूर्ण रक्षा करने पर भी 'एसे' (Essay) की कोटि में आते हैं। अँगरेजी-साहित्य में तुलना के लिए किसी की खोज की जाय, तो केवल 'बेकन' ही ऐसा लेखक है। लेकिन शुक्लजी बेकन से श्रेष्ठ हैं। मेरी इस बात से वे अँगरेजी-भक्त चौंक सकते हैं, जो अँगरेजी के अलावा और कोई साहित्य नहीं पढ़ते; किन्तु बिना पढ़े ही अँगरेजीतर सभी कुछ हेय समझते हैं। शुक्लजी के निबंध बेकन के निबंधों से कहीं अधिक उत्कृष्ट हैं, इसे मैं 'साहित्यकार' में प्रकाशित अपने लेख 'दो निबंधकार : बेकन और पं० रामचन्द्र शुक्ल' में अच्छी तरह दिखा चुका हूँ। शुक्लजी की सूक्ति-अन्वेषणक्षमता, सूत्र शैली, गंभीरता तथा भाषा की कसावट तो बेकन में है, परंतु शुक्लजी की विषय-चिंतन-सम्बद्धता एवं मनन के तारतम्य का उसमें अभाव है। बेकन का विषय-प्रतिपादन भ्रमात्मक तथा विशृङ्खल है। बेकन में विचारों की शुष्कता तथा विवेचन की निर्वैयक्तिकता विषय को बोझिल बना देती है। इसके विपरीत शुक्लजी में वैयक्तिकता का पुट विचारों की गंभीरता को भार-स्वरूप बनने से बचाता है। निजी जीवन तथा सामाजिक अनुभव पर आधारित उनका विवेचन पाठक के हृदय को सीधे स्पर्श करता है। विवेचना और मार्मिकता का समन्वय बेकन में कहाँ ?

शुक्लजी की विवेचना सर्वथा त्रुटिहीन हो, ऐसी बात नहीं है। उनसे भी ग़लतियाँ हुई हैं। कहीं-कहीं उनकी सूक्तिबद्ध परिभाषाएँ एकदम युक्तिहीन हैं। उदाहरणार्थ उनके द्वारा दी गई भक्ति की परिभाषा बहुत प्रसिद्ध एवं प्रशंसित है। परिभाषा यों है : 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' परंतु मैंने इस पर जब-जब विचार किया, मुझे यह परिभाषा नितांत असंगत प्रतीत हुई। धर्म का अर्थ है कर्तव्य, और सामान्यतः पुण्य-संचय के उद्देश्य से की गई क्रियाएँ धर्म के अन्तर्गत आती हैं। दान देना, दूसरे के प्राण बचाना, अहिंसा-पालन आदि धर्म हैं। मान लीजिए, कोई व्यक्ति दान देने में रस का अनुभव करता है, तो

क्या आप इसे भक्ति कहेंगे ? यही बात अहिंसा के लिए भी है। कोई भी क्रिया या भाव, भक्ति की संज्ञा तब तक प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक उसका संबंध प्रेम से न हो। भक्ति साधारण प्रेम से भिन्न है, क्योंकि उसमें पूज्य बुद्धि का मेल भी रहता है। भक्त भगवान् के समक्ष अपना समर्पण कर देता है। अतः भक्ति में प्रेम, रस तथा समर्पण इन तीन तत्वों की स्थिति होने से हम उसे इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं : **भक्ति प्रेम की समर्पणमयी रसात्मक अनुभूति है।**

लेकिन इन दो-एक भूलों से शुक्लजी की महत्ता कम नहीं होती। वह हिन्दी के मूर्धन्य शैलीकार हैं। उन्होंने मनोभाव-सम्बन्धी जो निबंध लिखे हैं, वे हिन्दी की गर्व-सम्पत्ति हैं। इन निबंधों की गहराई तथा भाव और भाषा की रमणीयता अन्यत्र दुर्लभ है।

शुक्लजी के मनोभाव-सम्बन्धी निबंध उन्हीं के शब्दों में वस्तुतः उनकी 'अन्तर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं । यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहां कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है।' शुक्लजी के निबंधों में हिन्दी निबंध-कला उस ऊँचाई पर पहुँच गई है, जहाँ से देखने पर आसपास के अन्य समकालीन निबंधकार बौने नजर आते हैं।

शुक्लोत्तर युग—शुक्लजी के पश्चात् निबंध-लेखन में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। शुद्ध निबंध लिखनेवालों का वर्तमान समय में जैसे अभाव ही है। अधिकतर लेखक समालोचनात्मक या सूचनात्मक लेख लिखते हैं। समाचार-पत्रों में राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विषयों पर लेख निकलते रहते हैं। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक शोध प्रबंध लिखते हैं। इस तरह निबंध की ओर या तो ध्यान नहीं दिया जा रहा है या लेखकों में उमंग नहीं है। इस युग में सभी छायावादी कवियों ने गद्य लिखा, लेकिन शुद्ध निबंधों की सीमा छूनेवाली रचनाएं सिर्फ महादेवी वर्मा की हैं। महादेवी की वेदनानुभूति ने उनके रेखाचित्रों में मार्मिकता का समावेश किया है। अन्य कवियों में 'प्रसाद', पन्त तथा निराला के लेख निबंध नहीं कहे जा सकते।

इस युग के वास्तविक निबंधकारों में हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन् १९०७....), गुलाबराय (सन् १८८६-१९६३) रामवृक्ष बेनीपुरी (सन्

१९०२-१९६८) तथा विद्यानिवास मिश्र (सन् १९२५....) पर ही दृष्टि पड़ती है। भाषा की सरलता, पांडित्य के साथ अनुभव और भावुकता का मिश्रण हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के निवंधों को आकर्षक बनाता है। उनकी व्यासशैली निवंध में दुरूहता नहीं आने देती। गुलाबराय के निवंधों में विश्लेषण और व्यंग्य का सुन्दर संयोग घटित हुआ है। बेनीपुरीजी शब्दों से सजीव चित्र खींचते हैं और विद्यानिवास मिश्र संस्कृत अध्ययन का आधार लेने पर भी स्वानुभूति को सहज ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। उनके निवंधों में भाषा भरी नदी-सी उमगती हुई चलती है और धरती की सौंधी महक-बसे भाव मृगछौनों के समान किलोलें करते हैं। माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि तथा राय कृष्णदास ने भावात्मक रचनाएँ की हैं, जो अनुभव-वैविध्य-जनित विभिन्न-वर्ण-परावर्तन के अभाव में काव्यात्मकताधिक्य के कारण गद्यगीत बनकर रह गई हैं। फिर भी निवंध की भिन्न-भिन्न शैलियों के उदाहरणों के अन्तर्गत उनके कुछ निवंध भावात्मक श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार जैनेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा नगेन्द्र के कतिपय निवंधों को हम विचारात्मक निवंध कह सकते हैं।

वर्तमान युग परिस्थिति-जटिल तथा समस्या-बहुल युग है। यदि विषयों की ओर दृष्टिपात करें, तो विषयों की इतनी विविधता इस युग से पहले कभी नहीं दिखाई पड़ी थी। भारत ही नहीं, अपितु सारा संसार हमारे दृष्टिपथ में है। हमारी अनुभूति बहुवर्णी तथा दुरूह हो गई है। ऐसी अवस्था में भाव-तरंग का आरोहावरोह पहले से कहीं अधिक संभाव्य हो गया है। ऐसी परिस्थितियों में निवंध का क्षेत्र तो अपने-आप व्यापकतर हो गया है। आवश्यकता बस प्रतिभा की है, जो अपनी संवेदना को शब्दों का परिधान पहनाकर पाठकों को भावाकुल बना दे।

इस विकसनशील विधा की विविध शैलियों से परिचय कराने के उद्देश्य से ही इस संग्रह में इतने अधिक निवंध रखे गए हैं। संग्रह इस रूप में न प्रस्तुत हो पाता, यदि उसे श्रद्धेय दादा देवीदयालजी चतुर्वेदी 'मस्त' का परिश्रम तथा आदरणीय बंधु श्रीपतरायजी का उत्साह सुलभ न होता। अतः इनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। पुस्तक पाठकों को रुची, तो मुझे सन्तोष होगा।

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
१८-११-१९६८

—मोहन अवस्थी

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'
[सन् १८२३-१८९५]

राजा भोज का सपना

वह कौन सा मनुष्य है, जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो ? उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने, चाँदी और रत्नों की खान से दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू माँगने आता, उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता, उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियाँ बाँटता और मेह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता। एक-एक श्लोक के लिए ब्राह्मणों को लाख-लाख रुपया उठा देता और सवा लक्ष ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान, दान और व्रत-उपवास में सदा तत्पर रहता। उसने बड़े-बड़े चांद्रायण किए थे और बड़े-बड़े जंगल-पहाड़ छान डाले थे।

एक दिन शरद् ऋतु में संध्या के समय सुन्दर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुंड के तीर, जिसमें कुमुद और कमलों के बीच जलपक्षी कलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिये के सहारे स्वस्थ चित्त बैठा हुआ वह महलों की—सुनहरी कलसियाँ लगी हुई—संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय होता पूर्णिमा का चंद्रमा देख रहा था और निर्जन एकांत होने के कारण मन ही मन में सोचता था कि अहो ! मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाश किया, जैसे सूर्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव-जंतु, मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं का भला करने में गँवाया और व्रत-उपवास करते-करते फूल से शरीर को काँटा बनाया। जितना मैंने दान किया, उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी न आया होगा। जो मैं ही नहीं, तो फिर और कौन हो

सकता है ? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह अवश्य मुझे अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे कुछ दोष लगे ?

इसी अर्से में चोबदार ने पुकारा—'चौधरी इंद्रदत्त निगाह रूबरू ! श्री महाराज सलामत।' भोज ने आँख उठाई, दीवान ने साष्टांग दंडवत की, फिर सम्मुख जा हाथ जोड़ यों निवेदन किया—'पृथ्वीनाथ, सड़क पर वे कुएं, जिनके वास्ते आपने हुक्म दिया था, बनकर तैयार हो गए हैं और आम के बाग भी सब जगह लग गए। जो पानी पीता है, आपको असीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता, आपकी बढ़ती दौलत मनाता है।'

राजा अति प्रसन्न हुआ और बोला कि 'सुन, मेरी अमलदारी भर में जहाँ जहाँ सड़कें हैं, कोस-कोस पर कुएँ खोदवा के सदाव्रत बैठा दे और दुतरफा पेड़ भी जल्द लगवा दे।'

इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया—'धर्मावतार ! यह जो पांच हजार ब्राह्मण हर साल जाड़े में रजाई पाते हैं, सो डेवढ़ी पर हाजिर हैं।'

राजा ने कहा—'अब पांच के बदले पचास हजार मिला करे और रजाई की जगह शाल-दुशाले दिये जावें।' दानाध्यक्ष दुशालों के लाने वास्ते तोशेखाने में गया।

इमारत के दारोगा ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि 'महाराज ! उस बड़े मंदिर की, जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है, आज नींव खुद गई, पत्थर गढ़े जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं।'

महाराज ने तिउरियाँ बदलकर उस दारोगा को खूब घुड़का, 'अरे मूर्ख, वह पत्थर और लोहे का क्या काम है ? बिलकुल मंदिर संगमर्मर और संगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में आवे, जिसमें भगवान् भी उसे देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे।'

यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि 'धन्य महाराज ! क्यों न हो ? जब ऐसे हो, तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया, मानो धर्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है ? हमने तो पहले ही से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।'

व्यासजी ने कथा आरंभ की, भजन-कीर्तन होने लगा। चांद सिर पर चढ़ आया। घड़ियाली ने निवेदन किया कि 'महाराज ! आधी रात के निकट है।'

राजा की आँखों में नींद आ रही थी; व्यास कथा कहते थे, पर राजा को ऊँघ आती थी। वह उठकर रनवास में गया।

जड़ाऊ पलंग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दबाने लगीं। राजा की आँख झप गई, तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया। जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है, वहाँ उसने बारीकी और सफाई में हाथीदाँत को भी मात कर दिया है। जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है, वहाँ जवाहिरों को पत्थरों में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुलालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाए हैं, कहीं पुखराजों की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने की चोबों पर शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौजों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं। मनों धूप जल रहा है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमंड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे, कभी ऊपर, कभी दाहने, कभी बाएँ निगाह करता और मन में सोचता कि अब इतने पर भी मुझे क्या कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है; दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा?

इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मंदिर में खड़ा-खड़ा क्या देखता है कि एक ज्योति-सी उसके सामने आसमान से उतरी चली आती है। उसका प्रकाश तो हजारों सूर्य से भी अधिक है, परंतु जैसे सूर्य को बादल घेर लेता है, उस प्रकार उसने मुँह पर घूँघट-सा डाल लिया है, नहीं तो राजा की आँखें कब उस पर ठहर सकती थीं; इस घूँघट पर भी वे मारे चकाचौंध के झपकी चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही काँप उठा और लड़खड़ाती-सी जबान से बोला कि हे महाराज! आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आए हैं? उस पुरुष ने बादल की गरज के समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूँ, अंधों की आँखें खोलता हूँ, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ, मैं मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूँ और सपने के भूले हुए को नींद से जगाता हूँ। हे भोज! अगर कुछ हिम्मत रखता है तो आ, हमारे साथ आ और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन के मंदिरों का भेद ले, इस समय हम तेरे ही मन को जांच रहे हैं।

राजा के जी पर एक अजब दहशत सी छा गई। नीची निगाह करके वह गर्दन खुजलाने लगा। सत्य बोला—भोज! तू डरता है, तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है? भोज ने कहा—नहीं, इस बात से तो नहीं

२

डरता, क्योंकि जिसने अपने तईं नहीं जाना, उसने फिर क्या जाना ? सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल-सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते-देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ।

सत्य बोला—ठीक, पर भोज यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है ? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते हैं ? पर सूर्य की किरण पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं ! क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं ? पर जब खुर्दबीन शीशे को लगाकर देखो, तो एक-एक बूंद में हजारों ही जीव सूझने लग जाते हैं। जो तू उस बात के जानने से जिसे अवश्य जानना चाहिए डरता नहीं, तो आ मेरे साथ आ, मैं तेरी आँखें खोलूंगा।

निदान सत्य यह कह राजा को उस बड़े मंदिर के ऊँचे दरवाजे पर चढ़ा ले गया, जहाँ से सारा बाग दिखलाई देता था और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पापकर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता, क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रखा है; पर यह तो बतला कि तूने पुण्यकर्म कौन कौन से किए हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर संतुष्ट होगा ?

राजा यह सुनके अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह तो मानो उसके मन की बात थी। पुण्यकर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल-सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है, कि भारी से भारी पाप उसके पासंग में न ठहरेगा। राजा, कोवहाँ उस समय सपने में तीन पेड़ बड़े ऊँचे अपनी आँख के सामने दिखाई दिए। फलों से वे इतने लदे हुए थे कि मारे बोझ के उनकी टहनियाँ धरती तक झुक गई थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य, यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड़ हैं। देख, फलों के बोझ से ये धरती पर नए हैं। ये तीनों मेरे ही लगाए हैं। पहले में तो ये सब लाल-लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वे पीले-पीले मेरे न्याय से और तीसरे में ये सब सफेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखाते हैं। मानो उस समय यह ध्वनि चारों ओर से राजा के कानों में चली आती थी कि धन्य हो ! भोज तुम सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं, तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो, इस लोक में भी तुमने बड़ा पद पाया है और उस लोक में भी इससे अधिक

मिलेगा; तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आँखों में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य के मंडल में लोग कलंक बतलाते हैं, पर तुम पर एक छींटा भी नहीं लगाते।

सत्य बोला कि भोज, जब मैं इन पेड़ों के पास था, जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया के बतलाता है, तब तो इनमें फल-फूल कुछ भी नहीं थे, ये निरे ठूंठ-से खड़े थे। ये लाल, पीले और सफेद फल कहाँ से आ गए? ये सचमुच उन पेड़ों में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और वश में करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिए हैं? चल, उन पेड़ों के पास चलकर देखें तो सही। मेरी समझ में तो ये लाल-लाल फल, जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है, यश और कीर्ति फैलाने की चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड़ में लगाए हैं।

निदान ज्योंही सत्य ने उस पेड़ के छूने को हाथ बढ़ाया, राजा सपने में क्या देखता है कि सारे फल जैसे आसमान से ओले गिरते हैं, एक आन की आन में धरती पर गिर पड़े। धरती सारी लाल हो गई; पेड़ों पर सिवाय पत्तों के और कुछ न रहा।

सत्य ने कहा—राजा, जैसे कोई किसी चीज को मोम से चिपकाता है, उसी तरह तूने अपने भुलाने को प्रशंसा की इच्छा से ये फल इस पेड़ पर लगा लिये थे। सत्य के तेज से यह मोम गल गया, पेड़ ठूंठ का ठूठ रह गया। जो तूने दिया और किया, सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिए, केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं दिया। यदि कुछ दिया हो या किया हो, तो तू ही क्यों नहीं बतलाता! मूर्ख, इसी के भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था?

भोज ने एक ठंडी साँस ली। उसने तो औरों को भूला समझा था, पर वह सबसे अधिक भूला हुआ निकला। सत्य ने उस पेड़ की तरफ हाथ बढ़ाया, जो सोने की तरह चमकते हुए पीले-पीले फलों से लदा हुआ था।

सत्य बोला—राजा, ये फल तूने अपने भुलाने को, स्वर्ग की स्वार्थसिद्धि करने की इच्छा से लगा लिये थे। कहनेवाले ने ठीक कहा है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उसके मन की भावना का विचार करता है और ईश्वर मनुष्य के मन की भावना के अनुसार उसके कर्मों का हिसाब लेता है। तू अच्छी तरह जानता है कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़ है। जो न्याय न करे, तो फिर यह राज्य तेरे हाथ में क्योंकर रह सके? जिस राज में न्याय नहीं, वह तो बेनींव का घर है, बुढ़िया के दाँतों की तरह हिलता है, अब गिरा, तब गिरा। मूर्ख, तू ही क्यों नहीं बतलाता कि यह तेरा न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सांसारिक

सुख पाने की इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से ?

भोज की पेशानी पर पसीना हो आया, उसने आँखें नीची कर लीं, उससे जवाब कुछ न बन पड़ा। तीसरे पेड़ की बारी आई। सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी वही हालत हुई। राजा अत्यंत लज्जित हुआ।

सत्य ने कहा कि मूर्ख ! ये तेरे तप के फल कदापि नहीं, इनको तो इस पेड़ पर तेरे अहंकार ने लगा रखा था। वह कौन-सा व्रत व तीर्थयात्रा है, जो तूने निरहंकार केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से की हो ? तूने यह तप केवल इसी वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तईं औरों से अच्छा और बढ़कर विचारे। ऐसे ही तप पर गोबरगनेस, तू स्वर्ग मिलने की उम्मेद रखता है ? पर यह तो बतला कि मंदिर के उन मुंडेरों पर वे जानवर-से क्या दिखलाई देते हैं; कैसे सुन्दर और प्यारे मालूम होते हैं। पर तो उनके पन्ने के हैं और गर्दन फिरोजे की, दुम में सारे किस्म के जवाहिरात जड़ दिए हैं।

राजा के जी में घमंड की चिड़िया ने फिर फुरफुरी ली, मानो बुझते हुए दीये की तरह वह जगमगा उठा। जल्दी से उसने जवाब दिया कि हे सत्य, यह जो कुछ तू मंदिर की मुंडेरों पर देखता है, मेरे संध्यावंदन का प्रभाव है। मैंने जो रातों जागकर और माथा रगड़ते-रगड़ते इस मंदिर की देहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति-वंदना और विनती-प्रार्थना की है, वे ही अब चिड़ियों की तरह पंख फैलाकर आकाश को जाती हैं, मानो ईश्वर के सामने पहुँचकर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं।

सत्य ने कहा कि राजा, दीनबंधु करुणासागर श्रीजगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की विनती सदा सुनता रहता है और जो मनुष्य शुद्ध हृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने दुष्कर्मों का पश्चाताप अथवा उनके क्षमा होने का टुक भी निवेदन करता है, वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य-चाँद को वेधकर पार हो जाता है, फिर क्या कारण कि ये सब अब तक मंदिर के मुंडेरे पर बैठे रहे ? आ चल, देखें तो सही, हम लोगों के पास जाने पर आकाश को उड़ जाते हैं या उसी जगह पर परकटे कबूतरों की तरह फड़फड़ाया करते हैं ?

भोज डरा, लेकिन उसने सत्य का साथ न छोड़ा। जब वह मुंडेरे पर पहुँचा, तो क्या देखता है कि वे सारे जानवर जो दूर से ऐसे सुन्दर दिखलाई देते थे, मरे हुए पड़े हैं; पंख नुचे-खुचे और बहुतेरे बिलकुल सड़े हुए, यहाँ तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा। दो एक ने, जिनमें कुछ दम बाकी था, जो उड़ने का इरादा भी किया, तो उनका पंख पारे की तरह भारी हो गया और

उसने उन्हें उसी ठौर दवा रखा। वे तड़पा जरूर किए, पर उड़ जरा भी न सके।

सत्य बोला—भोज, बस यही तेरे पुण्य कर्म हैं। इसी स्तुति-वंदना और विनती-प्रार्थना के भरोसे पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है। सूरत तो इनकी बहुत अच्छी है, पर जान बिलकुल नहीं। तूने जो कुछ किया, केवल लोगों के दिखलाने को, जी से कुछ भी नहीं। जो तूने एक बार भी जी से पुकारा होता कि 'दीनबंधु, दीनानाथ, दीनहितकारी! मुझ पापी महाअपराधी डूबते हुए को बचा और कृपादृष्टि कर' तो वह तेरी पुकार तीर की तरह तारों से पार पहुँची होती।

राजा ने सिर नीचा कर लिया, उससे उत्तर कुछ न बन आया। सत्य ने कहा कि भोज! अब आ, फिर इस मंदिर के अंदर चलें और वहाँ तेरे मन के मंदिर को जाँचें। यद्यपि मनुष्य के मंदिर में ऐसे-ऐसे अँधेरे तहखाने और तलघरे पड़े हुए हैं कि उनको सिवाय सर्वदर्शी घट-घट-अंतर्यामी सकल-जगत्स्वामी के और कोई भी नहीं देख अथवा जांच सकता, तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा।

राजा सत्य के पीछे खिचा-खिचा फिर मंदिर के अंदर घुसा, पर अब तो उसका हाल ही कुछ से कुछ हो गया। सचमुच सपने का खेल सा दिखलाई दिया। चाँदी की सारी चमक जाती रही, सोने की बिलकुल दमक उड़ गई, सोने में लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ, जहाँ-जहाँ से मुलम्मा उड़ गया था, भीतर का ईंट-पत्थर कैसा बुरा दिखलाई देता था। जवाहिरों की तरह केवल काले-काले दाग रह गए थे, और संगमर्मर की चट्टानों में हाथ-हाथ भर गहरे गढ़े पड़ गए थे। राजा यह देखकर भौंचक्का सा रह गया, औसान जाते रहे, हक्का-बक्का बन गया। उसने धीमी आवाज से पूछा कि ये टिड्डीदल की तरह इतने दाग इस मंदिर में कहाँ से आए? जिधर मैं निगाह उठाता हूँ, सिवाय काले-काले दागों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता। ऐसा तो छीपी छींट भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा ही देख पड़ेगा। सत्य बोला कि राजा, ये दाग जो तुझे इस मंदिर में दिखलाई देते हैं, दुर्वचन हैं, जो दिन-रात तेरे मुख से निकला किए हैं। याद तो कर, तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी-कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं। क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त प्रसन्न करने को, क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबर वाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखलाने को तूने कितना झूठ बोला है। अपने ऐब छिपाने और दूसरे की आंखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ पाने के

लिए तूने कैसी-कैसी शेखियाँ हांकी हैं और अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहाँ तक बातें बनाई हैं, सो क्या अब कुछ भी याद न रहा, बिलकुल एकबारगी भूल गया ? पर वहाँ तो वे तेरे मुँह से निकलते ही वहीं में दर्ज हुईं। तू इन दागों के गिनने में असमर्थ है, पर उस घट-घट निवासी अनंत अविनाशी को एक-एक बात जो तेरे मुँह से निकली है, याद है और याद रहेगी। उसके निकट भूत और भविष्य वर्तमान सा है।

भोज ने सिर न उठाया, पर उसी दबी जबान से इतना मुँह से और निकाला कि दाग तो दाग, पर ये हाथ-हाथ भर के गढ़े क्योंकर पड़ गए, सोने-चाँदी में मोर्चा लगकर ये ईंट-पत्थर कहाँ से दिखलाई देने लगे ? सत्य ने कहा कि राजा, क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात नहीं कही अथवा बोली-ठोली नहीं मारी ? अरे नादान, यह बोली-ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है, तू तो इन गढ़ों ही को देखकर रोता है, पर तेरे ताने तो बहुतों की छातियों से पार हो गए। जब अहंकार का मोर्चा लगा, तो फिर यह देखलावे का मुलम्मा कब तक ठहर सकता है ? स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट-पत्थर प्रकट हो गया।

राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तंग कर रखा था। मारे बू के सिर फटा जाता था। भुनगों और पतंगों से सारा मकान भर गया था, बीच-बीच में पंखवाले साँप और बिच्छू भी दिखलाई देते थे। राजा घबराकर चिल्ला उठा कि यह मैं किस आफत में पड़ा, इन कमबख्तों को यहाँ किसने आने दिया ? सत्य बोला—राजा, सिवाय तेरे इनको और कौन आने देगा ? तू ही तो इन सबको लाया। ये सब तेरे मन की बुरी वासनाएँ हैं। तूने समझा था कि जैसे समुद्र में लहरें उठा और मिटा करती हैं, उसी तरह मनुष्य के मन में भी संकल्प की मौजें उठकर मिट जाती हैं। पर रे मूढ़ ! याद रख, कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच-विचार कोई नहीं आता, जो जगकर्ता, प्राणदाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। ये चिमगादड़ और भुनगे और साँप-बिच्छू और कीड़े-मकोड़े जो तुझे दिखलाई देते हैं, वे सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अभिमान, मद, ईर्ष्या के संकल्प-विकल्प हैं, जो दिन-रात तेरे अन्तःकरण में उठा किए और इन्हीं चिमगादड़ और भुनगों और साँप-बिच्छू और कीड़े-मकोड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उड़ते रहे। क्या कभी तेरे जी में किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्क माल पर लोभ नहीं आया या अपनी बड़ाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुन्दर स्त्री देखकर उस पर दिल न चला ?

राजा ने एक बड़ी लंबी ठंडी साँस ली और अत्यंत निराश होके यह बात कही कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो कह सके कि मेहरादय

शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं। इस संसार में निष्पाप रहना बड़ा ही कठिन है। जो पुण्य करना चाहते हैं, उनमें भी पाप निकल आता है। इस संसार में पाप से रहित कोई भी नहीं, ईश्वर के सामने पवित्र पुण्यात्मा कोई भी नहीं। सारा मंदिर वरन् सारी धरती, आकाश गूंज उठा—'कोई भी नहीं, कोई भी नहीं।'

सत्य ने जो आँख उठाकर उस मंदिर की एक दीवार की ओर देखा, तो उसी दम संगमर्मर से आईना बन गया। उसने राजा से कहा कि अब टुक इस आईने का भी तमाशा देख और जो कर्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं, उनका भी हिसाब ले।

राजा उस आईने में क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की बढ़ी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बहे जाते हैं, उसी प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलतीं और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं। कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आईने में दिखलाई देते, जिन्हें राजा खाने-पहनने को दे सकता था; पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे-कट्टे, मोटे-मुसंड खाते-पीतों को देता रहा, जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफारिश ले आते थे या उसके कारदारों को घूस देकर मिला लेते थे या सवारी के समय माँगते-माँगते और शोरगुल मचाते-मचाते उसे तंग कर डालते थे या दर्बार में आकर उसे लज्जा के भँवर में गिरा देते थे या झूठा छापा-तिलक लगाकर उसे मक्र के जाल में फँसा लेते थे या जन्मपत्र के भले-बुरे ग्रह बतलाकर कुछ धमकी भी दिखला देते थे या सुन्दर कवित्त और श्लोक पढ़कर उसके चित्त को लुभाते थे। कभी वे दीन-दुखी दिखलाई देते, जिन पर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तहकीकात और उपाय न किया। कभी उन बीमारों को देखता, जिनका चंगा कर देना राजा के अख्तियार में था। कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति के मारे दिखलाई देते, जिनका जी राजा के दो बात कहने से ठंढा और संतुष्ट हो सकता था; कभी अपने लड़के, लड़कियों को देखता था, जिन्हें वह पढ़ा-लिखाकर अच्छी-अच्छी बातें सिखाकर बड़े-बड़े पापों से बचा सकता था। कभी उन गाँव और इलाकों को देखता, जिनमें कुएं-तालाब और किसानों को मदद देने और उन्हें खेती-बारी की नई-नई तरकीबें बतलाने से हजारों गरीबों का भला कर सकता था। कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तों को देखता, जिन्हें दुरुस्त करने से वह लाखों मुसाफिरों को आराम पहुँचा सकता था।

राजा से अधिक देखा न जा सका। थोड़ी देर में घबराकर हाथों से उसने

अपनी आंखें ढांप लीं। वह अपने घमंड में उन सब कामों को तो सदा याद रखता था और उनकी चर्चा किया करता, जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किए हुए समझता था; पर उसने उन कर्तव्य कामों का कभी टुक सोच न किया, जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था।

सत्य बोला—राजा, अभी से क्यों घबरा गया ? आ इधर आ, इस दूसरे आईने में तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूं, जो तूने अपनी उमर में किए हैं।

राजा ने हाथ जोड़ा और पुकारा कि बस महाराज, बस कीजिए, जो कुछ देखा, उसी में मैं तो मिट्टी हो गया, कुछ भी बाकी न रहा; अब आगे क्षमा कीजिए। पर यह बतलाइए कि आपने यहां आकर मेरे शर्बत में क्यों जहर घोला और पकी-पकाई खीर में सांप का विष उगला और मेरे आनंद को इस मंदिर में आकर नाश में मिलाया, जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् के अर्पण किया है ? चाहे जैसा यह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो, पर मैंने तो उसी के निमित्त बनाया है। सत्य ने कहा—'ठीक, पर यह तो बतला कि भगवान् इस मंदिर में बैठा है ? यदि तूने भगवान् को इस मंदिर में बिठाया होता, तो फिर वह अशुद्ध क्यों रहता ? जरा आंख उठाकर उस मूर्ति को तो देख, जिसे तू जन्म भर पूजता रहा है।

राजा ने जो आंख उठाई, तो क्या देखता है कि वहां उस बड़ी ऊंची वेदी पर उसी की मूर्ति पत्थर की गढ़ी हुई रखी है और अभिमान की पगड़ी बांधे हुए है।

सत्य ने कहा कि मूर्ख, तूने जो काम किए, केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिए। इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिए तूने अपनी आप पूजा की। रे मूर्ख, सकल जगत्स्वामी घट-घट-अंतर्यामी, क्या ऐसे मनरूपी मंदिरों में भी अपना सिंहासन बिछने देता है, जो अभिमान और प्रतिष्ठा-प्राप्ति की इच्छा इत्यादि से भरा है ? यह तो उसकी बिजली पड़ने के योग्य है।

सत्य का इतना कहना था कि सारी पृथ्वी एकबारगी कांप उठी, मानो उसी दम टुकड़ा-टुकड़ा हुआ चाहती थी। आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि जैसे प्रलयकाल का मेघ गरजा। मंदिर की दीवारें चारों ओर से अड़अड़ाकर गिर पड़ीं, मानो उस पापी राजा को दबा ही लेना चाहती थीं। उस अहंकार की मूर्ति पर एक ऐसी बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे मुंह आ पड़ी। 'त्राहि माम्, त्राहि माम्, मैं डूबा', कहके भोज जो चिल्लाया, तो आंख उसकी खुल गई और सपना सपना हो गया।

इस अर्से में रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी, चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, एक ओर से शीतल मंद सुगंध पवन चली आती थी, दूसरी ओर से वीन और मृदंग की ध्वनि। वंदीजन राजा का यश गाने लगे, हर्कारे हर तरफ काम को दौड़े, कमल खिले, कुमुद कुम्हलाए। राजा पलँग से उठा, पर जी भारी, माथा थामे हुए, न हवा अच्छी लगती थी, न गाने-बजाने की कुछ सुधबुध थी। उठते ही पहले उसने यह हुक्म दिया कि इस नगर में जो अच्छे से अच्छे पंडित हों, जल्द उनको मेरे पास लाओ। मैंने एक सपना देखा है कि जिसके आगे अब यह सारा खटराग सपना मालूम होता है। उस सपने के स्मरण ही से मेरे रोंगटे खड़े हुए जाते हैं।

राजा के मुख से हुक्म निकलने की देर थी, चोवदारों ने तीन पंडितों को, जो उस समय वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे, वात की वात में राजा के सामने ला खड़ा किया।

राजा का मुँह पीला पड़ गया था, माथे पर पसीना हो आया था। उसने पूछा कि 'वह कौन सा उपाय है, जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे ?' उनमें से एक वड़े बूढ़े पंडित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि धर्मराज धर्मावतार, यह भय तो आपके शत्रुओं को होना चाहिए। आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी में ऐसा संदेह क्यों उत्पन्न हुआ ? आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहनके वेखटके परमेश्वर के सामने जाइए, न तो वह कहीं से फटा-कटा है और न किसी जगह से मैला-कुचैला है।

राजा क्रोध करके बोला कि बस, अपनी वाणी को अधिक परिश्रम न दीजिए और इसी दम अपने घर की राह लीजिए। क्यों आप फिर उस पर्दे को डाला चाहते हैं, जो सत्य ने मेरे सामने से हटाया है ? बुद्धि की आँखों को बंद किया चाहते हैं, जिन्हें सत्य ने खोला है ? उस पवित्र परमात्मा के सामने अन्याय कभी नहीं ठहर सकता। मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है। यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा, तो नाश हो जाऊँगा, मेरा कहीं पता भी न लगेगा।

इतने में दूसरा पंडित बोल उठा कि महाराज, परब्रह्म परमात्मा जो आनंदस्वरूप है, उसकी दया के सागर का कब किसी ने वारा-पार पाया है, वह क्या हमारे इन छोटे-छोटे कामों पर निगाह किया करता है, वह कृपा-दृष्टि से सारा बेड़ा पार लगा देता है।

राजा ने आँखें दिखलाके कहा कि महाराज ! आप भी अपने घर को सिधारिए। आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया है कि वह किसी पापी

को सजा नहीं देता, सब धान बाईस पसेरी तौलता है, मानो हरबोंगपुर का राज करता है। इसी संसार में क्यों नहीं देख लेते, जो आम बोता है, वह आम खाता है और जो बबूल लगाता है, वह कांटे चुनता है। क्या उस लोक में जो जैसा करेगा, सर्वदर्शी घट-घट-अंतर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा? सारी सृष्टि पुकारे कहती है, और हमारा अंतःकरण भी इस बात की गवाही देता है कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा; जो जैसा करेगा, वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा।

तब तीसरा पंडित आगे बढ़ा और उसने यों जबान खोली कि महाराज! परमेश्वर के यहां हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा, जैसा कि हम लोग काम करते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं, आप बहुत यथार्थ फरमाते हैं। परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, पर ये इतने प्रायश्चित्त और होम और यज्ञ और जप, तप, तीर्थयात्रा किस लिए बनाए गए हैं? वे इसी लिए हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगों का अपराध क्षमा करे और वैकुंठ में अपने पास रहने को ठौर देवे।

राजा ने कहा, 'देवताजी, कल तक तो मैं आपकी सब बात मान सकता था, लेकिन अब तो मुझे इन कामों में भी ऐसा कोई दिखलाई नहीं देता, जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे। वह कौन-सा जप, तप, तीर्थयात्रा, होम, यज्ञ और प्रायश्चित्त है, जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आ जावे? आदमी को फुसला लेना तो सहज है, पर उस घट-घट के अंतर्यामी को क्योंकर फुसलावे। जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है, तो फिर उससे पुण्यकर्म कोई कहां से बन आवे। पहले आप उस स्वप्न को सुनिए, जो मैंने रात को देखा है, तब फिर पीछे वह उपाय बतलाइए, जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पाता है।'

निदान राजा ने जो कुछ स्वप्न रात में देखा, सब ज्यों का त्यों उस पंडित को कह सुनाया। पंडितजी तो सुनते ही अवाक् हो गए, उन्होंने सिर झुका लिया। राजा ने निराश होकर चाहा कि तुषानल में जल मरे, पर एक परदेशी आदमी सा, जो उन पंडितों के साथ बिना बुलाए घुस आया था, यों निवेदन करने लगा—'महाराज, हम लोगों का कर्ता ऐसा दीनबंधु कृपासिंधु है कि अपने मिलने की राह आप ही बतला देता है। आप निराश न हूजिए, पर उस राह को ढूंढ़िए। आप इन पंडितों के कहने में न आइए, पर उसी से उस राह के पाने की सच्चे जी से मदद मांगिए।'

हे पाठकजनो ! क्या तुम भी भोज की तरह ढूंढ़ते हो और भगवान् से उस राह के मिलने की प्रार्थना करते हो ? भगवान् तुम्हें ऐसी बुद्धि दे और अपनी राह पर चलावे, यही हमारे अंतःकरण का आशीर्वाद है।

'जिन ढूंढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ ।।'

०

श्रद्धाराम फुल्लौरी
[सन् १८३७—१८८१]

कहित का सुधारना

कहित बोलने का नाम है। बहुत मत बोलो, इसमें प्रतिष्ठा भंग होती है। बहुत बोलनेवाले का सत्य भी झूठ ही प्रतीत होता है। शीघ्र न बोलो, इसमें श्रोता को अर्थ का ज्ञान नहीं होता। वाक्य में हठ न करो, इसमें अंत को विवाद हो जाता है। जैसा कि किसी ने कहा, कल मध्याह्न के समय वर्षा हुई थी; दूसरा बोला, मध्याह्न में तो नहीं, प्रातःकाल हुई थी। ऐसे स्थल में आग्रह करने से अवश्य विवाद हो जाता है। योग्य है कि यदि कोई पुरुष किसी बात में वृथा हठ बाँध बैठे, तो एक-दो बार रोक के अन्त को विवाद-शमन के निमित्त आप मौन को धारण करें, नहीं तो बोलते-बोलते विरोध खड़ा हो जाएगा। प्रश्न का उत्तर देने के समय शीघ्रता और चंचलता न करें। इसमें जो मुख से यद्वातद्वा वाक्य निकल जाता है, इस कारण वक्ता को लज्जा उठानी पड़ती है। प्रश्न के बिना उत्तर न देवे। इसमें यह दोष है कि तुम्हारा उत्तर किसी को ग्रहण नहीं होवेगा। किसी का वाक्य काट मत डालो। सो यह काटना दो भाँति का होता है :—

एक यह कि जब कोई कुछ बात कर रहा है, उसकी समाप्ति के पूर्व ही अपनी बात का आरंभ कर देना।

दूसरा यह कि जब कोई पुरुष कुछ कह रहा हो, उसको छल, बल और हठ से मिथ्या बना देना।

अति धीरे और अति ऊँचे शब्द न बोले, इसमें प्राणी सबको कटु प्रतीत होने लगता है। यदि कोई पुरुष किसी बात को तुमसे छिपावे, तो पूँछने में अत्यन्त हठ न करो। इसमें अन्त को क्रोधाग्नि प्रचंड हो जाती है। अपने वाक्य की पुष्टि के निमित्त किसी के वाक्य को मिथ्या न बनावे। श्रोता की बुद्धि पर्यन्त वाक्य कहे और अति गूढ़ और सूक्ष्म वाक्य या पराविद्या का वाक्य सबके सामने न कहे। स्थान के योग्य वाक्य कहे, क्योंकि मंगल में अमंगल तथा

अमंगल में मंगल वाक्य कहना निन्दित होता है । कटाक्ष से वाक्य न कहे, इसमें श्रोता को कभी-कभी लज्जा उठानी पड़ती है । वचन के समय विना प्रयोजन हाथ, पाँव, शिर, मुख, आँख प्रभृति किसी अवयव को न हिलावे, क्योंकि संभाषण के लिए केवल जिह्वा ही है । मिथ्या वाक्य कभी उपहास प्रभृति में भी न कहे, क्योंकि इसमें संसार का अविश्वास होता है। यह मिथ्यालाप दो प्रकार का होता है । एक शारीरिक, दूसरा मानसिक :

शारीरिक यह है कि जिह्वा और नेत्र वा हस्त, मुख आदिक हिला के मिथ्या सैन का करना ।

मानसिक यह है : वाणी में तो चाहे सत्य ही भरा हो, परन्तु मन में झूठ का होना, जैसा कि यदि कोई किसी वेश्यागृह से समागत पुरुष को पूछे, तुम कहाँ से आते हो । वह उत्तर देता है कि तड़ाग की ओर से आता हूँ । सो यद्यपि उधर कोई तड़ाग वर्तमान होने से उसकी वाणी सत्य भी है, परन्तु मन में झूठ के होने से वह सत्य संभाषी नहीं गिना जाता । सत्य वक्ता वह है कि जो मन और वाणी इन दोनों अंग से सत्य बोले, नहीं तो उसमें मानसिक झूठ अवश्य गिना जावेगा । जिस वाक्य को सुनके किसी का मन दुःखित हो जावे, उसको महाविपत्ति के समय भी मुख से न निकाले । जिस वाक्य को कहिने से तुम्हें पश्चात्ताप और शोक भयादि में कम्पित होना पड़े, वह कधी भी उच्चारण न करो। अपने देश के लोगों से अन्य देश की भाषा में वार्तालाप न करे, क्योंकि इसमें वक्ता की तुच्छता और वाचालता प्रकट होती है और श्रोता लोग उपहास करते हैं । यद्यपि भाषांतर का सीखना तो एक प्रकार का चातुर्य है, परन्तु स्वकीय लोगों से भाषान्तर में सम्भाषण करने को बुद्धिमान लोग अनुचित जानते हैं । गाली और अशुद्ध शब्द कधी मुख पर न लावे । किसी की निन्दा का वाक्य कभी न कहे । निन्दक पुरुष यद्यपि निन्दा के समय तो किसी अंश में प्रसन्न होता है परन्तु पीछे सर्वदा अपने कथन की लज्जा में मरता है ।

अपने सम्भाषण में कभी कोई व्यर्थ शब्द न कहे, जो प्रस्ताव में सार्थ और सापेक्ष न होवे । किसी को ऐसे शब्द से न बुलावे कि जो उसकी पदवी से न्यून हो । तात्पर्य यह कि जो शब्द परोपकार वा लौकिक व्यवहार से रहित हो, उसमें कदाचित् भी वाणी को न खोलो ।

वालकृष्ण भट्ट
[सन् १८४४—१६१४]

कालचक्र का चक्कर

सच है—'अपना सोचा होत नहि, प्रभु चेता तत्काल'—

'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।
शेपा जीवितुमिच्छन्ति किमश्चर्यमतः परम् ॥'

वरावर देख रहे हैं, आज यह गए, कल उनकी वारी आई, परसों उन्हें चिता पर सोला आये। पर जो वचे हुए हैं, उन्होंने यही मन में ठान रखा है कि हम अजर-अमर और अविनाशी हैं, सदा स्थायी रहेंगे। यह तो कभीउनको कलुषित चित्त में धँसता ही नहीं कि एक दिन आवेगा कि हम शव-रूप में ऐसे ही चिता पर सोलाए जायँगे। न जानिए; हजार, लाख या करोड़ वर्ष की नेह गाड़े हुए निश्चिन्त वैठे हैं। निस्सन्देह इससे वढ़कर अचरज की वात और क्या होगी? हमारे मन में आता है कि ऐसों ही के लिए कई वर्ष से प्लेग मनुष्य के जीवन को पानी का वुल्ला सा करता, मानो चितावनी दे रहा है। पर काहे को कोई चेतै और क्यों चेतै? किसी वात की कमी नहीं, रुपयों से खचाखच खजाना भरा है। २४ घंटे के दिन-रात में ३६ भाँति की उमंग और हौसिले मन में उठते रहे हैं। सच है—

'दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिर वसन्ती पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशावायुः ।'

चार भाइयों के वीच में एक लड़का है। वाप, माँ, चाचा, ताऊ, वावा, नाना, वड़े लोग सव दिन-रात मुँह जोहते रहते हैं और अपने प्रिय पुत्र की सोहावनी सूरत पर वार-वार पानी पी रहे हैं। अँगुलियों दिन गिनते वीतता है कि कव वह समय आवे कि हम अपने ललन का व्याह करें। वहू घर में आवै, चन्द्रसेनी हार मुँहदिखाई में भेंटकर उसका चाँद सा मुखड़ा देख अपना जी जुड़ावें। हमारे सव मनोरथ सफल हों, वड़ी से वड़ी महफिल साज सात भाँति की मिठाई परसैं, चार भाई-विरादरी का जूठन पड़े, हमारा घर पवित्र हो।

वर्षों के पहिले से नगर की प्रसिद्ध वारवनिताओं को बयाना दे दिया गया, ब्याह की तैयारियाँ हो रही थीं कि अचानक ललन को ज्वर आया, दवा-दारू, झाड़-फूंक, टोना-टनमन में सैकड़ों रुपयों को फूंक डाला। जरा भी फुरसत न हुई, गिलटी प्रगट हो आई, दो ही तीन दिन में ललनजी जहाँ के थे, वहीं चल बसे।

बड़ी से बड़ी डिगरी हासिल किए हुए हैं; छात्र मण्डली में जिनकी कुशाग्र बुद्धि की शाहरत है; बड़ी-बड़ी उमंग मन में भरी हुई हैं कि कंपटीशन में हम विलाइतवालों को अपने नीचे करेंगे; मातृभूमि के लिए हम ऐसी कोई बात कर गुजरें, जिसमें भारत के सत्पुत्र कहलावें; आहार-विहार की गड़बड़ी से एक दिन दो-चार दस्त और कै हुई; दोस्तों ने समझा अजीर्ण है, दौड़-धूप करने लगे, इधर इनका हाल बिगड़ता ही गया, १२ घंटे के भीतर ही समाप्त हो गए। यह किसी ने न समझा कि अन्तक देव ने एक बड़ा भारी कालेज खोल रक्खा है, सर्वविद्या पारंगत इनको वहाँ का प्रोफेसर किया चाहते हैं। यह न्याय है या अन्याय, इसका विचार कभी मन में न आया; अधम से अधम काम करने में कभी हिचक न हुई; कई लाख और करोड़ की माया जोड़ने में बराबर महा अर्थपिशाच रहे आये; फिर भी दिन-रात सोचा करते हैं, ५० हजार फलाने आसामी के बाकी हैं, एक लाख अमुक सेठ के नीचे दबा है और वह टाट पलटने पर है; २५ हजार ब्याज का चिथरूमल गोधनदास से अब तक न वसूल हुआ।

ऐसी ही ऐसी चिन्ता में व्यग्र एक रात को नींद न आई, अधिक शीत के कारण फाजिल आ टूटा, जबान बन्द हो गई। मुँह टेढ़ा पड़ गया, सुबह होते-होते चल बसे। साथ अपने एक पाई भी न ले गए। एक-एक पैसे के लिए जेर-बार हैं; रोज का भोजन बड़ी कठिनाई से चलता है। दैव संयोग से एक ऐसा भाग्यवान् कुल-उजागर जन्मा कि उसने कुल की प्रतिष्ठा चौगुनी कर दी; मिट्टी छूते सोना होने लगा; बरसाती नदी की बाढ़ के समान धन-सम्पत्ति सब ओर से आ इकट्ठा होने लगी; दौलत की बाढ़ के साथ हौसिले और उमंग भी बढ़ने लगे; संगीन पक्का मकान छोड़ दिया गया; जड़ाऊ ठोस गहने पिटने लगे; जमींदारी की भी खरीद होने लगी; बात-बात में नफासत और वजेदारी को तराश-खराश पल्ले दर्जे तक पहुँची। अकस्मात् वह पुरुष-रत्न जिसकी बदौलत यह सब कुछ था, चल बसा। सूर्यास्त होने पर अन्धकार सा छा गया! जिनके मिजाज कुतुबमीनार की ऊँचाई तक चढ़ गए थे, अब कौड़ी के तीन-तीन हो गए। इस तरह इस कालचक्र की अद्भुत महिमा भूरी भरें भरी ढरकावे की भांत कुछ समझ में नहीं आती।

अब दूसरी ओर देखिए, कुछ अकिल नहीं काम करती, क्यों इस कालचक्र

का चक्कर ऐसा टेढ़ा-मेढ़ा है ? युग-व्यवस्था के सम्बन्ध में पुराणवालों की पुरानी अकिल चाहे जो मान बैठी हो, हमें तो कुछ ऐसा ही जंचता है कि यह युग-व्यवस्था भी इसी कालचक्र की विकराल गति है। जहां और जब इस चक्र का चक्कर अपने अनुकूल है, तहां और तब सतयुग है, उसका प्रतिकूल होना ही कलियुग है। भारत पर वह चक्कर नितान्त प्रतिकूल है, इसलिए यहां घोर कलियुग बरत रहा है। विलायत पर अनुकूल है, वहां शुद्ध सतयुग राज करता है; वहांवालो मे जो बुराइयां हैं, वे भी भलाई में शामिल कर ली गई हैं। उसी कालचक्र को प्रतिकूलता से हमारे में बची-खुची जो दो-एक भलाई थी, वह भी बुराई समझ ली गई। कालचक्र की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण और क्या होगा कि आदि में जो यहां सौदागरी करने के बहाने आये, वे अब समस्त भारत के काश्मीर से कन्याकुमारी तक अखण्ड एकचक्रा पृथ्वी के राज्य के अधिकारी हो गए। वही यहांवाले जिनको अनादि काल से यहाँ की भूमि से मातृवात्सल्य रहा और जिनके नस-नस में यहां के जलवायु का असर चुभा हुआ है, वे कालचक्र की प्रतिकूलता से निकाल बाहर कर दिये गए; बैठे-बैठे ललचाते और मुंह ताकते रह जाते हैं; जो कुछ सार पदार्थ और रस है, उसका आनन्द एक तीसरा भोग रहा है। ये खूदड़ और उच्छिष्ट ही से अपना पेट पाल लेने को परम सौभाग्य मान रहे थे, सो उसमें भी उस चक्र की वक्र कुटिल गति ने ऐसा खलल डाल रक्खा है कि चिरकाल से दुर्भिक्ष और अवर्षण इन्हें निश्चिन्त नहीं रहने देता। इस समय कई और उपद्रवों से कुछ स्वास्थ्य था, तो प्लेग अपनी बहादुरी प्रगट कर रहा है। इससे किसी तरह गल छूटैगा, तो कोई दूसरी बला आ घेरैगी।

बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, योगी तथा भविष्य के जाननेवाले किसी ने इसका भेद न पाया कि क्यों ऐसा होता है। कोई कहते हैं, यह ईश्वर की इच्छा है; दूसरे मानते हैं, नहीं-नही, पूर्व-संचित का यह परिणाम है : 'जो जस कीन सो तस फल चाखा'; और लोग सिद्ध करते हैं, यह सितारों की गरदिश है। संशोधक और रिफ़ार्मर जुदा ही तान भर रहे हैं कि अपने यहां प्रचलित कुरीतों को उठाय समाज का संशोधन क्यों न कर डालें, जिसमें हमारे में कौमियत और एकता आवे, मुल्की जोश पैदा हो, कालचक्र की जो वक्र गति है; ऋजु गति हो जाय। कोई कहते हैं, यह बाल-विधवाओं की आह है; दूसरे कहते हैं, यह बाल विवाह का सब दोष है इत्यादि इत्यादि। हमारे धूर्त-शिरोमणि इसी पर जोर दे रहे हैं कि ब्राह्मणों का मान और हिन्दू-धर्म पर विश्वास उठता जाता है, उसी का यह सब फल है; कोई-कोई दबी जबान हिम्मत बांध कही तो

डालते हैं, यह सब राजा के पाप या पुण्य का परिणाम है। जो हो, वास्तव में यह क्या गोरखधन्धा है, कुछ नहीं खुलता।

सच पूछो तो आदमी की शैतानी अक्लि एक हारी है, तो इसी बात में कि वह कुछ हल नहीं कर सकती कि आज क्या है, कल क्या होगा और इसी को इस संसार इंजिन का बड़ा इंजीनियर अपने हाथ में रक्खे हुए है। यह इस कालचक्र के चक्कर ही का प्रभाव है कि रोम, इन्द्रप्रस्थ, अयोध्या, पाटलिपुत्र, कन्नौज आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ जो किसी समय आदमियों का जंगल थीं, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई योजन और कोसों के हिसाब से थी और जहाँ की मनुष्य-संख्या ४० लाख, २० लाख, १० लाख की गिनती की थी, वह इस समय बहुधा तो उजाड़ घुग्घुओं के घोंसलों के लिए उपयुक्त हैं, कोई-कोई नाम मात्र को अब तक विद्यमान हैं। लन्दन, पेरिस, कलकत्ता, बाम्बे, जो एक समय बहुधा तो उजाड़ जंगल तथा जलमग्न अनूप थे, वहाँ अब आकाश से बात करते हुए गगनस्पृक् प्रासाद, स्वर्णमण्डित मन्दिर खड़े हुए हैं; जहाँ चंचला लक्ष्मी अपनी चंचलता से मुँह मोड़ चिरस्थायिनी हो समुद्र की तरंग-सी हिलकोरें मार रही है, इत्यादि। इस कालचक्र की महिमा का पार कौन पा सकता है, तब हमारी क्षुद्र लेखनी किस बूते पर इस चक्कर में पड़ने का अधिक साहस करे? पढ़ने-वालों के चित्त-विनोदार्थ इतना ही सही।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
[सन् १८५०—१८८५]

स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन

स्वामी दयानन्द सरस्वती और बाबू केशवचन्द्र के स्वर्ग में जाने से वहाँ एक वेर बड़ा आन्दोलन हो गया। स्वर्गवासी लोगों में बहुतेरे तो इनसे घृणा करके चीक्कार करने लगे और बहुतेरे इनको अच्छा कहने लगे। स्वर्ग में कंज़र-वेटिव और लिबरल दो दल हैं। जो पुराने ज़माने के ऋषि-मुनि यज्ञ कर-करके या तपस्या करके अपने-अपने शरीर को सुखा-सुखाकर और कर्म में पच-पचकर मरके स्वर्ग गए हैं, उनकी आत्मा का दल 'कंज़रवेटिव' है, और जो अपनी आत्मा ही की उन्नति से, वा अन्य किसी सार्वजनीन भाव, उच्च भाव सम्पादन करने से या परमेश्वर की भक्ति से स्वर्ग में गए हैं, वे लिबरल दल भक्त हैं। वैष्णव दोनों दल के क्या दोनों से खारिज थे, क्योंकि इनके स्थापकगण तो लिबरल दल के थे; किन्तु अब ये लोग 'रेडिकल्स' क्या, महा-महा रेडिकल्स हो गए हैं। विचारे बूढ़े व्यासदेव को दोनों दल के लोग पकड़-पकड़कर ले जाते, अपनी-अपनी सभा का 'चेयरमैन' बनाते थे और विचारे व्यासजी भी अपने प्राचीन, अव्यवस्थित स्वभाव और शील के कारण जिसकी सभा में जाते थे, वैसी ही वक्तृता कर देते थे। कंज़रवेटियों का दल प्रबल था; इसका मुख्य कारण यह था कि स्वर्ग के जमींदार इन्द्र, गणेश प्रभृति भी उनके साथ योग देते थे; क्योंकि बंगाल के जमींदारों की भाँति उदार लोगों की बढ़ती से उन बेचारों को विविध सर्वोपरि बलि और भाग न मिलने का डर था।

कई स्थानों पर प्रकाश सभा हुई। दोनों दल के लोगों ने बड़े आतङ्क से वक्तृता दी। कंज़रवेटिव लोगों का पक्ष समर्थन करने को देवता लोग भी आ बैठे और अपने-अपने लोकों में भी उस सभा की शाखा स्थापन करने लगे। इधर लिबरल लोगों की सूचना प्रचलित होने पर मुसलमानी-स्वर्ग और जैन-स्वर्ग तथा क्रिस्तानी-स्वर्ग से पैगम्बर, सिद्ध, मसीह प्रभृति, हिन्दू स्वर्ग में उपस्थित हुए और 'लिबरल' सभा में योग देने लगे। वैकुंठ में चारों ओर इसी की धूम फैल

गई, 'कंजरवेटिव' लोग कहते, "छिः ! दयानन्द कभी स्वर्ग में आने के योग्य नहीं; इसने १ पुराणों का खंडन किया, २ मूर्तिपूजा की निंदा किया, ३ वेदों का अर्थ उलटा-पुलटा कर डाला, ४ दश नियोग करने की विधि निकाली, ५ देवताओं का अस्तित्व मिटाना चाहा, और अन्त में संन्यासी होकर अपने को जलवा दिया । नारायण ! नारायण ! ऐसे मनुष्य की आत्मा को कभी स्वर्ग में स्थान मिल सकता है, जिसने ऐसा धर्म-विप्लव कर दिया और आर्यावर्त को धर्म-वहिर्मुख किया ।'

एक सभा में काशी के विश्वनाथजी ने उदयपुर के एकलिंगजी से पूछा, 'भाई ! तुम्हारी क्या मत मारी गई, जो तुमने ऐसे पतित को अपने मुह लगाया और अब उसके दल के सभापति बने हो ? ऐसा ही करना है तो जाओ, लिवरल लोगों से योग दो ।' एकलिंगजी ने कहा, 'भाई, हमारा मतलब तुम लोग नहीं समझे । हम उसकी वुरी वातों को न मानते, न उसका प्रचार करते । केवल अपने यहां के जंगल की सफाई का कुछ दिन उसको ठेका दिया, वीच में वह मर गया । अब उसका माल-मता ठिकाने रखवा दिया तो क्या वुरा किया ?'

कोई कहता, 'केशवचन्द्र सेन ! छिःछिः ! इसने सारे भारतवर्ष का सत्यानाश कर डाला । १ वेद पुराण सबको मिटाया, २ क्रिस्तान मुसलमान सवको हिन्दू वनाया, ३ खाने-पीने का विचार कुछ न रक्खा, ४ मद्य की तो नदी वहा दी । हाय-हाय ! ऐसी आत्मा क्या कभी वैकुण्ठ में आ सकती है ।'

ऐसे ही दोनों के जीवन की समालोचना चारों ओर होने लगी । लिवरल लोगों की सभा भी वड़े धूमधाम से जमती थी । किन्तु इस सभा में दो दल हो गए थे । एक जो केशव की विशेप स्तुति करते, दूसरे वे जो दयानंद को विशेष आदर देते थे । कोई कहता, अहा धन्य दयानंद, जिसने आर्यावर्त के निदित आलसी मूर्खों की मोह निद्रा भंग कर दी । हजारों मूर्खों को ब्राह्मणों के (जो कंजरवेटियों के पादरी और व्यर्थ प्रजा का द्रव्य खानेवाले हैं) फन्दे से छुड़ाया । वहुतों को उद्योगी और उत्साही कर दिया । वेद में रेल, तार, कमेटी, कचहरी, दिखाकर आर्यों की कटती हुई नाक वचा ली । कोई कहता, धन्य केशव ! तुम साक्षात दूसरे केशव हो । तुमने वंग देश की मनुष्य नदी के उस वेग को, जो क्रिश्चन समुद्र में मिल जाने को उच्छलित हो रहा था, रोक दिया । ज्ञान कर्म का निरादर करके परमेश्वर का निर्मल भक्तिमार्ग तुमने प्रचलित किया ।

कंजरवेटिव पार्टी में देवताओं के अतिरिक्त वहुत लोग थे, जिनमें याज्ञवल्क्य प्रभृति कुछ तो पुराने ऋषि थे और कुछ नारायण भट्ट, रघुनन्दन भट्टाचार्य,

मण्डन मिश्र प्रभृति स्मृति ग्रन्थकार थे। सुना है कि विदेशी स्वर्ग के कुछ 'शीआ' लोगों ने भी इनके साथ योग दिया है।

लिबरल दल में चैतन्य प्रभृति आचार्य, दादू, नानक, कबीर प्रभृति भक्त और ज्ञानी लोग थे। अद्वैतवादी भाष्यकार आचार्य पंचदशीकार प्रभृति पहले दल भुक्त नहीं होने पाए। मिस्टर जैडला की भाँति इन लोगों पर कंज़रवेटियों ने बड़ा आक्षेप किया, किन्तु अन्त में लिबरलों की उदारता से उनके समाज में इनको स्थान मिला था।

दोनों दलों के मेमोरियल तैयारकर स्वाक्षरित होकर परमेश्वर के पास भेजे गए। एक में इस बात पर युक्ति और आग्रह प्रकट किया था कि केशव और दयानन्द कभी स्वर्ग में स्थान न पावें और दूसरे में इसका वर्णन था कि स्वर्ग में इनको सर्वोत्तम स्थान दिया जाय।

ईश्वर ने दोनों दलों के डेप्यूटेशन को बुलाकर कहा, 'बाबा, अब तो तुम लोगों की 'सैल्फ गवर्नमेंट' है। अब कौन हमको पूछता है, जो जिसके जी में आता है, करता है। अब चाहे वेद क्या संस्कृत का अक्षर भी स्वप्न में भी न देखा हो, पर लोग धर्म विषय पर वाद करने लगते हैं। हम तो केवल अदालत या व्यवहार या स्त्रियों के शपथ खाने को ही मिलाए जाते हैं। किसी को हमारा डर है? कोई भी हमारा सच्चा 'लायक' है? भूत-प्रेत, ताजिया के इतना भी तो हमारा दर्जा नही बचा। हमको क्या काम, चाहे बैकुंठ में कोई आवे। हम जानते हैं, चारों लड़कों (सनक आदि) ने पहले ही से चाल बिगाड़ दी है। क्या हम अपने बिचारे जय-विजय को फिर राक्षस बनवावें कि किसी का रोक-टोक करें। चाहे सगुन मानो, चाहे निर्गुन, चाहे द्वैत मानो, चाहे अद्वैत, हम अब न बोलगे। तुम जानो, स्वर्ग जाने।'

डेप्यूटेशन वाले परमेश्वर की कुछ ऐसी खिजलाई हुई बात सुनकर कुछ डर गए। बड़ा निवेदन-सिवेदन किया। कोई प्रकार से परमेश्वर का रोष शांत हुआ। अन्त में परमेश्वर ने इस विषय के विचार के हेतु एक 'सिलेक्ट कमेटी' स्थापन की। इसमें राजा राममोहन राय, व्यासदेव, टोडरमल्ल, कबीर प्रभृति भिन्न-भिन्न मत के लोग चुने गए। मुसलमानी-स्वर्ग से एक 'इमाम', क्रिस्तानी से 'लूथर', जैनी से 'पारसनाथ', बौद्धों से नागार्जुन, और आफरीका से सिटोवायो के बाप को इस कमेटी का 'एक्स आफीशियो' मेम्बर किया। रोम के पुराने 'हरकलिस' प्रभृति देवता, जो अब गृह-संन्यास लेकर स्वर्ग ही में रहते हैं और पृथ्वी से अपना सम्बन्ध मात्र छोड़ बैठे हैं, तथा पारसियों के 'ज़रदुश्त जी' को 'कारेस्पांडिङ्ग आनरेरी मेम्बर' नियत किया और आज्ञा दिया कि तुम लोग इसके

(१) कागज-पत्र देखकर हमको रिपोर्ट करो। उनको ऐसी भी गुप्त आज्ञा थी कि एडिटरों की आत्मागण को तुम्हारी किसी 'कारवाई' का समाचार तक न मिलै, जब तक कि रिपोर्ट हम न पढ़ लें, नहीं वे व्यर्थ चाहे कोई सुनै चाहे न सुनै, अपनी टांय-टांय मचा ही देंगे।

सिलेक्ट कमेटी का कई अधिवेशन हुआ। सब कागज-पत्र देखे गए। दयानन्दी और केशवी ग्रंथ तथा उनके प्रत्युत्तर और बहुत से समाचार पत्रों का मुलाहिज़ा हुआ। बाल शास्त्री प्रभृति कई कंजरवेटिव और द्वारकानाथ प्रभृति लिबरल नव्य आत्मागणों की इसमें साक्षी ली गई। अन्त में कमेटी या कमीशन ने जो रिपोर्ट किया, उसकी मर्म बात यह थी कि :—

'हम लोगों की इच्छा न रहने पर भी प्रभु की आज्ञानुसार हम लोगों ने इस मुकदमे के सब कागज-पत्र देखे। हम लोगों ने इन दोनों मनुष्यों के विषय में जहाँ तक समझा और सोचा है, निवेदन करते हैं। हम लोगों की सम्मति में इन दोनों पुरुषों ने प्रभु की मंगलमयी सृष्टि का कुछ विघ्न नहीं किया, वरंच उसमें सुख और संतति अधिक हो, इसी में परिश्रम किया। जिस चण्डाल रूपी आग्रह और कुरीति के कारण मनमाना पुरुष धर्मपूर्वक न पाकर लाखों स्त्री कुमार्ग गामिनी हो जाती हैं, लाखों विवाह होने पर भी जन्म भर सुख नहीं भोगने पातीं, लाखों गर्भ नाश होते और लाखों ही बालहत्या होती है, उस पापमयी परम नृशंस रीति को इन लोगों ने उठा देने में अपने शक्य भर परिश्रम किया। जन्मपत्री की विधि के अनुग्रह से जब तक स्त्री-पुरुष जीएँ, एक तीर घाट, एक मार घाट रहैं, बीच में इस वैमनस्य और असंतोष के कारण स्त्री व्यभिचारिणी और पुरुष विषयी हो जायँ, परस्पर नित्य कलह हो, शान्ति स्वप्न में भी न मिलै, वंश न चलै, यह उपद्रव इन लोगों से नहीं सहे गए। विधवा गर्भ गिरावैं, पण्डितजी या बाबू साहब यह सह लेंगे, परञ्च चुपचाप उपाय भी करा देंगे, पाप को नित्य छिपावेंगे, अन्ततोगत्वा निकल ही जाय तो संतोष करेंगे, पर विधवा का विधिपूर्वक विवाह न हो, फूटी सहैंगे, आंजी न सहैंगे, इस दोष को इन दोनों ने निःसन्देह दूर करना चाहा। सवर्ण पात्र न मिलने से कन्या को वर मूर्ख, अंधा वरञ्च नपुंसक मिले, तथा वर को काली, कर्कश कन्या मिले, जिसके आगे बहुत बुरे परिणाम हों, इस दुराग्रह को इन दोनों ने दूर किया। चाहे पढ़े हों चाहे मूर्ख, सुपात्र हो कि कुपात्र, चाहे प्रत्यक्ष व्यभिचार करें या कोई भी बुरा कर्म करें, पर गुरुजी हैं........इनका दोष मत कहो, कहोगे तो पतित होंगे, इनको दो इनको राजी रक्खो; इस सत्यानाश संस्कार को इन्होंने दूर किया, आर्य जाति दिन-दिन हो, लोग स्त्री के कारण, धन के वा नौकरी व्यापार

आदि के लोभ से, मद्यपान के चसके से, वाद में हारकर, राजकीय विद्या का अभ्यास करके मुसलमान या क्रिस्तान हो जायँ, आमदनी एक मनुष्य की भी बाहर से न हो, केवल नित्य व्यय हो; अन्त में आर्यों का धर्म और जाति कथाशेष रह जाय; किन्तु जो विगड़ा सो विगड़ा, फिर जाति में कैसे आवेगा, कोई भी दुष्कर्म किया तो छिपके क्यों नहीं किया, इसी अपराध पर हजारों मनुष्य हर साल छूटते थे। उसको इन्होंने रोका, सबसे बढ़कर इन्होंने यह कार्य किया कि सारा आर्यावर्त जो प्रभु से विमुख हो रहा था, देवता बिचारे तो दूर रहे, भूत-प्रेत, पिसाच, मुरदे, साँप के काटे, बाघ के मारे, आत्महत्या करके मरे, जल, दब या डूबकर मरे लोग, यही नहीं मुसलमानी पीर, पैग़म्बर, औलिया, शहीद, वीर, ताजिया, गाज़ीमियाँ, जिन्होंने बड़ी-बड़ी मूर्त्ति तोड़कर और तीर्थ पाट कर आर्य धर्म विध्वंस किया, उनको मानने और पूजने लगे थे, विश्वास तो मानो छिनाल का अंग हो रहा था। देखते-सुनते लज्जा आती थी कि हाय, ये कैसे आर्य हैं, किससे उत्पन्न हैं! इस दुराचार की ओर से लोगों का अपनी वक्तृताओं के थपेड़े के बल से मुंह फेरकर सारे आर्यावर्त को शुद्ध 'लायल' कर दिया।

'भीतरी चरित्र में इन दोनों के जो अन्तर है, यह भी निवेदन कर देना उचित है। दयानन्द की दृष्टि हम लोगों की बुद्धि में अपनी प्रसिद्धि पर विशेष रही। रंग-रूप भी इन्होंने कई बदले। पहले केवल भागवत का खण्डन किया, फिर सब पुराणों का; फिर कई ग्रन्थ माने, कई छोड़े, अपने काम के प्रकरण माने, अपने विरुद्ध को क्षेपक कहा। पहले दिगम्बर मिट्टी पोते महात्यागी थे, फिर संग्रह करते-करते सभी वस्त्र धारण किए। भाष्य में रेल, तार आदि कई अर्थ जबरदस्ती किए। इसी से संस्कृत विद्या को भली भाँति न जाननेवाले ही प्रायः इनके अनुयायी हुए। जाल को छुरी से न काटकर दूसरे जाल ही से जिसको काटना चाहा, इसी से दोनों आपस में उलझ गए और इसका परिणाम गृहविच्छेद उत्पन्न हुआ।

'केशव ने इनके विरुद्ध जाल काटकर परिष्कृत पथ प्रकट किया। परमेश्वर से मिलने-मिलाने की आड़ या बहाना नहीं रखा। अपनी भक्ति की उच्छलित लहरों में लोगों का चित्त आर्द्र कर दिया। यद्यपि ब्राह्म लोगों में सुरा-मांसादि का प्रचार विशेष है, किन्तु इसमें केशव का कोई दोष नहीं। केशव अपने अटल विश्वास पर खड़ा रहा। यद्यपि कूचविहार के संबंध करने से और यह कहने से कि ईसा मसीह आदि उससे मिलते हैं, अंतावस्था के कुछ पूर्व उनके चित्त की दुर्बलता प्रकट हुई थी, किन्तु वह एक प्रकार का उन्माद होगा वा जैसे बहुतेरे धर्म-प्रचारकों ने बहुत बड़ी बातें ईश्वर की आज्ञा बतला दीं, वैसे ही यदि इन बेचारे

ने एक-दो बात कहीं तो क्या पाप किया ? पूर्वोक्त कारणों ही से केशव का मरने पर जैसा सारे संसार में आदर हुआ, वैसा दयानंद का नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त इन लोगों के हृदय के भीतर छिपा कोई पुण्य पाप रहा हो, तो उसको हम लोग नहीं जानते, इसका जाननेवाला केवल तू ही है।'

इस रिपोर्ट पर विदेशी मेम्बरों ने कुछ क्रुद्ध होकर हस्ताक्षर नहीं किया।

रिपोर्ट परमेश्वर के पास भेजी गई। इसको देखकर इस पर क्या आज्ञा हुई और वे लोग कहाँ भेजे गए, यह जब हम भी वहाँ जाएँगे और फिर लौटकर आ सकेंगे, तो पाठक लोगों को बतलावेंगे या आप लोग कुछ दिन पीछे आप ही जानोगे।

०

श्रीनिवासदास
[सन् १८५०—१८८७]

सदाचरण

मनुष्य का सुख, दुःख, हानि, लाभ, उन्नति, अवनति और यश-अपयश उसके आचरण पर निर्भर है, अतएव संसार की सुख-समृद्धि के लिए सदाचरण को थोड़ा सा विचरण किया जाय, तो आशा है कि सुविज्ञ पाठकों को अरुचिकर न होगा।

मनुष्य की प्रथम पाठशाला उसका घर है। जार्ज हर्बर्ट लिखता है कि एक बालक को सौ उस्ताद नहीं सिखला सकते, जितना उसकी एक समझदार माता सिखला सकती है। 'हितोपदेश' में लिखा है कि जैसे कुम्हार कोरी मिट्टी से अपनी इच्छानुसार बर्तन बना सकता है, इसी तरह बालक के कोमल चित्त को उसका शिक्षक जैसा चाहे, बना सकता है। बालकों में नकल करने की इच्छा बड़ी प्रबल होती है, इसलिए वह अपने आसपास जैसा देखते हैं, वैसा ही आप भी करने लगते हैं। अँगरेजी में एक कहावत है 'कहने की अपेक्षा दृष्टांत से अधिक असर होता है।' निदान बाल्यावस्था में माता-पिता के आचरण से बालक के चित्त पर जो भाव अंकित होते हैं, वह जन्म भर नहीं मिटते, अतएव मनुष्य के अच्छे-बुरे आचरणों का कारण उसका घर समझा जाय, तो कुछ अनुचित नहीं है। परन्तु एक अज्ञान बालक को घर में उपदेश मिलने का साधन इस समय हमारे यहाँ क्या दिखलाई देता है? कुछ नहीं। इस विषय में जब हम अपनी वर्तमान दशा का विचार करते हैं, तो लज्जा के कारण आँख ऊँची नहीं होती। बहुधा लोग यह समझते हैं कि स्त्रियों को परमेश्वर ने केवल हमारा जी बहलाने के लिए एक खिलौना बनाया है। उनको विद्या पढ़ने का अधिकार नहीं। फिर जब स्त्रियों की यह दशा हुई, तो उनकी संतान को घर में उपदेश कहाँ से मिलेगा? और एक अज्ञान बालक को बालपन में उसके माता-पिता से सदुपदेश न मिला, तो आगे चलकर उसके पूरे सदाचरणी होने की आशा कैसे होगी?

जब घर में सदुपदेश मिलने का पूरा उपाय अपने हाथ न रहा, तो आगे चलकर सज्जनों के सहवास और सत्शास्त्रों के अभ्यास पर सदाचरण का विशेष आधार रहा। पुस्तकों में जो सर्वोत्तम लेख होते हैं, वे कभी पुराने अथवा निरुपयोगी नहीं हो सकते। महापुरुषों के जन्मचरित्र, इतिहास, भूगोल, गणित और कला-कौशल्यादि के विविध ग्रंथ देखने से निःसन्देह बुद्धि बढ़ती है और अपने आचरण सुधारने की अभिलाषा होती है।

परन्तु इन सब बातों के साथ मनुष्य को उद्योगी बुद्धि अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि उद्योग बिना सब गुण निरर्थक होते हैं। उद्योग से मनुष्य बहुत कुछ कर सकता है। कोलम्बस, वैलिंगटन, वाशिंगटन आदि ने उद्योग ही के कारण अक्षय यश पाया है। उद्योग में निस्सन्देह मेहनत करनी पड़ती है, परन्तु मेहनत बिना सच्चा सुख मिलना असम्भव है। उद्योगी मनुष्य का मन खोटे विचारों से बहुधा बचा रहता है। "उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धि. शक्ति पराक्रमः षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहाय कृत्।' इसी तरह सर वाल्टरस्कॉट कहता है कि संसार में परस्पर सहायता करने और सुख बढ़ाने के लिए उद्योग के बराबर कोई साधन नहीं है, पर उद्योगी को अपना उद्योग सफल करने के लिए सदाचरणी अवश्य होना चाहिए।

सदाचरण में मनुष्य का प्रामाणिकपन, विश्वास, सचाई, समझदारी, निष्ठा, कर्तव्यपरायणता, सुशिक्षा, हिम्मत, सरलता और मनस्विता आ गई।

हिम्मत बिना उद्योग से पूरा लाभ नहीं हो सकता, इसलिए उद्योग के साथ हिम्मत की बहुत अधिक आवश्यकता है; परन्तु इस हिम्मत में लड़ने-झगड़ने की हिम्मत का समास नहीं हो सकता। यह हिम्मत मन की दृढ़ता के साथ होती है, जिससे प्रामाणिकपन स्थिर रह सके, अपना कर्तव्य सम्पादन हो सके, सच-झूठ का निर्णय हो सके, सच बोल सके और अनुचित लालच से बचा रहे। जिस मनुष्य में ऐसी हिम्मत नहीं है, वह मनुष्य पशु के समान है। सॉक्रेटीज और गैलेलियो आदि ने इसी हिम्मत के साथ प्रसन्नता से अपने प्राण दिये। ऐसी हिम्मत से संसार का बड़ा उपकार होता है।

परन्तु हिम्मत के साथ मनुष्य को मनस्वी भी अवश्य होना चाहिए। जो मनुष्य अपना मन वश में नहीं रखता, उसका आचरण बहुधा अच्छा नहीं रहता। अपना मन वश करना सब गुणों का मूल है, इसलिए इस विषय में जो लोग ढीली डोरी छोड़ देते हैं, वह अपनी स्वतंत्रता खो बैठते हैं। जो लोग अपना झूठा महत्व दिखलाने के लिए बूते से बाहर काम करते हैं, उनको पीछे

अवश्य पछताना पड़ता है और जो लोग समझकर काम करते हैं, उनका बहुधा तत्स्वभाव देखा जाता है।

शान्ति, सन्तोष, दया, नम्रता और विवेकादि गुण सत्स्वभाव के अंतर्गत हैं, जिनमें दया मनुष्य का सर्वोत्तम गुण है। दया ही से मनुष्य परोपकार करता है और परोपकार के बराबर सुख संसार में और किसी तरह पर नहीं मिलता। प्लेटो कहता है कि जो मनुष्य औरों का भला चाहता है, उसका भला अपने आप हो जाता है, क्योंकि दयावान मनुष्य के शुभचिंतक सभी लोग हो जाते हैं और जब आन्तरिक दया के साथ विवेकादि गुण मिल जायँ, तो फिर उसका क्या पूछना!

सदाचरण के लिए मनुष्य में प्रामाणिकपन की बहुत आवश्यकता है। जिसके बरताव में प्रामाणिकता का अंश न होवे, सचाई पर लक्ष न होय, फर्ज का विचार न हो, उसके लिए और गुण कुछ उपकारी नहीं हो सकते।

यदि मनुष्य अपना-अपना फर्ज ठीक समझकर नियत समय पर उचित रीति से पूरा करते चले जायँ, तो संसारी कामों में कभी बाधा न पड़े। मनुष्य के जन्म से मरण पर्यन्त किसी न किसी प्रकार के फर्ज का बोझ उसके सिर सदैव बना रहता है और वह फर्ज पूरा करने के लिए पूर्वोक्त गुण समुदाय की आवश्यकता होती है। इसी तरह अपना फर्ज पूरा करने से सच्चा सुख मिलता है और संसार छोड़ते समय उसका समाधान रहता है; परन्तु ऐसा फर्ज पूरा करनेवाला मनुष्य सच्चा, प्रामाणिक, विश्वासी होना चाहिए; उसको अपने सर्व फर्ज उचित रीति से सचाई के साथ पूरा करने चाहिए। यदि सचाई बिना अनुचित रीति से कोई फर्ज पूरा किया जायगा, तो उससे लाभ के बदले हानि होने की ही विशेष सम्भावना रहेगी।

सच बोलना और सचाई से वर्तना मनुष्य का सद्गुण है। सचाई बिना संसार में किसी मनुष्य का काम अच्छी तरह नहीं चल सकता। सचाई से मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ती है, बनिज-व्यवहार में उसको सहायता मिलती है, और संसार के संग उसका निज का काम हो प्रतिदिन बढ़ता जाता है।

हम चाहे जितना विद्याभ्यास करें, चाहे जितनी तर्क-वितर्क करें, परन्तु यदि हमारा सदाचरण न होगा, तो हमको विद्याभ्यास का पूरा लाभ कभी न मिल सकेगा। यह कुछ आवश्यक नहीं है कि जो विद्वान् है, वह सदाचरणी भी अवश्य हो। निस्सन्देह मूर्ख की अपेक्षा विद्वान् अपना आचरण शीघ्र सुधार सकता है। परन्तु एक दुराचरणी विद्वान् की अपेक्षा सदाचरणी मूर्ख अच्छा है।

सादी के वचनानुसार 'जिसने विद्या पढ़कर उस पर वर्ताव न किया,' अपने खेत में हल चलाकर बीज न बोया।

सदाचरण के आगे धन भी कोई वस्तु नहीं है। यदि धन निर्बल मन के मनुष्य के पास हो, तो वह उसके कारण अपना मन वश में नहीं रख सकता। इसी तरह यदि धन दुराचारियों के हाथ पड़ जाय, तो उससे संसार की और भी हानि होती है। हलधर दास ने 'सुदामाचरित्र' में लिखा है :

सुनहु नाथ जब जलद स्याम स्वाती उनहत है
परद बूंद यह विश्व जीव कत लाभ लहत है
प्रथम जीव से तुष्ट होत चातक सुविहंगम
पुनिक सीप महं मुक्त कदलि कर्पूर सुगंधम्
सोई जल गरल भुजंग मुख त्यों धन को गुण सुन पिया
धर्मातम लह धर्म को अधमातम लह अधम किया

सदाचरण स्वयं अमूल्य धन है। जो इसका संग्रह करते हैं, वह निस्सन्देह सच्चा यश और प्रतिष्ठा पाते हैं। धनवान होना मनुष्य का फर्ज नहीं है, परन्तु प्रामाणिक होना उसका फर्ज है। विदुरजी ने कहा है :

वृतं यत्नेन संरक्षेद्वित्तयेतिच याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः॥

इसलिए संसार में प्रामाणिक, सच्चे और विश्वासी मनुष्य की बहुत आवश्यकता है। किसी मनुष्य ने एक आदमी को किसी तरह का धोखा देकर अपना काम निकाल लिया और फिर उसके उपकार पर कुछ दृष्टि न की अथवा अपने वचन पर दृढ़ न रहा, तो इससे दूसरे के मन में कितना खेद होगा। और अपने मन में उसके खेद का विचार आने से विश्वासघाती को तर्फ़ कैसी ग्लानि होगी? 'रामायण' में लक्ष्मणजी ने कहा है :

बार उसने किसी काम के लिए प्रामिसरी नोट लिखकर एक व्योपारी से कुछ रुपये उधार लिये। थोड़े दिन पीछे वह व्योपारी प्रामिसरी नोट लेकर अपना रुपया पटाने को फोक्स के पास गया। उस समय फोक्स के आगे सोने के सिक्कों का ढेर लग रहा था। उस व्योपारी ने उस ढेर में से अपना ऋण चुकाने के लिए फोक्स से कहा। इस पर फोक्स ने जवाब दिया कि 'ऐसा नहीं हो सकता। यह रुपया मैं शेरिडेन के देने में चुकाऊंगा।' व्योपारी ने कहा, 'क्यों? मेरा प्रामिसरी नोट झूठा है?' फोक्स ने समझाया, 'नहीं, तुम्हारा प्रामिसरी नोट सच्चा है, परन्तु उसका ऋण मेरी सचावट पर लिया गया है। उसके पास इसका कोई सबूत नहीं है। इसलिए उसका ऋण मुझे चुकाना चाहिए।' व्योपारी उसके मुख से यह प्रामाणिक वाक्य सुनकर तत्काल बोल उठा, 'अच्छा, मेरा ऋण भी मैं तुम्हारी सचावट पर ही रहने देता हूँ।' यह कहकर उसने तुरन्त फोक्स का प्रामिसरी नोट फाड़ डाला, तब फोक्स ने उसका बहुत उपकार माना और तत्काल उसका ऋण चुका दिया।

इस दृष्टांत से यह बात भली भाँति सिद्ध होती है कि मनुष्य की जैसी नियत हो, वैसा ही लोग उसका विश्वास करते हैं और बनज-व्योहार में उसका विश्वास करते हैं। इस समय बहुत से धनवान चार परसेण्ट का व्याज उपजाने के लिए हाथ-पांव पीटते हैं, सरकारी लोन लेकर रखते हैं; परन्तु व्योपारियों को व्योपार के लिए आठ-दस परसेण्ट के व्याज पर भी रुपया नहीं मिलता। इसका हेतु केवल परस्पर का अविश्वास है, अतएव प्रामाणिक रीति से परस्पर का विश्वास बढ़ाने में हमारे देश का बहुत कुछ उपकार हो सकता है; पर विश्वास की जड़ सदाचरण है, इसलिए प्रथम जड़ का पुष्ट करना बहुत आवश्यकीय मालूम होता है।

सदाचरण के निमित्त मनुष्य को प्रामाणिकता से रहना पड़े, परिश्रम उठाना पड़े, मन रोकना पड़े, नुकसान झेलना पड़े, अपमान सहना पड़े तो चिन्ता नहीं, अपने मन से इस पर सदैव रहना चाहिए। जो लोग थोड़े दिन का क्लेश सहकर इस पर दृढ़ रहेंगे, अन्त में ईश्वर कृपा से निस्सन्देह वह कृतकार्य होंगे।

चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'
[सन् १८५५—१९२२]

बनारस का बुढ़वामंगल

....काशी के पूर्व छोर से लेकर पश्चिम पर्यन्त के प्रत्येक घाटों पर जो अनुमान ढाई-तीन कोस के विस्तार में होंगे, काशिराज और नगर प्रतिष्ठित महाजनों से लेकर, मदनपुर के जुलाहों तथा श्मशान के डोमड़ों तक की नौकाएँ निज शक्ति और श्रद्धा के अनुसार सुसज्जित देख पड़ने लगीं। संख्या भी उनकी और वर्षों की अपेक्षा अधिक है। कोई पटैले पर बाँसों के ठाट ठाटे हैं, तो कोई घटहा पाटे हैं, कोई बजड़े पर झाड़-फानूस की सजावट कर नाच-बाच देखता, तो कोई मोरपंखी सजाए अपना अखाड़ा ला खड़ा किए हैं, किसी ने कोई छोटा मोटा कटर भाड़े कर रंगीन चोब वा तूल लपेटकर गोटे को लहरिया देकर झालरदार चाँदनी तान, चार ठो हाँड़ो नांद जलाकर उजाला किए अपनी सूरत और झलामल कपड़ों की सजावट ही दिखाता घूमता, तो कोई एक पनसुही पर सवार नाचवाली नौकाओं की ताक में डोलता फिरता, मानो मेले में भिक्षा सी माँग रहा है। विशेषतः काशी के बड़े नाम और घरानेवाले महाजन और रईस प्रायः इसी श्रेणी में रहा करते हैं, क्योंकि गाँठ से रुपया खर्चा जाता नहीं और फिर शौक इतना कि बिना मेला देखे भी नहीं रहा जाता। कोई साल भर तक इसी लालसा से थानेदारों से साहब सलामत किए, मुफ्त में पुलीस की किस्ती पर चढ़े मेले का प्राण सा निकालते घूमते हैं। कोई दो-चार लैम्प जलाए दस-पांच कुर्सी बिछाए काली पतलून और जाकिट जमाए गड्डामियरी सूरत बनाए, मुँह में चुरुट सुलगाए, धुआँ कस की समा लाए, गिटपिट-गिटपिट अँगरेज़ी बोलते, साहिब लोगों का स्वांग सजाए, अपना ही तमाशा औरों को दिखला रहे हैं। कोई एक लालटेन बीच में रक्खे बिसात बिछाए, शतरंज के मुहरों के कटने के रंज में डूबे रात काटे डालते, तो कोई ताश के पन्ने प्रारब्ध के पत्रे से उलट रहे हैं। कोई गनीमत का मौका हाथ आया देख अचानक अपने यार वफादार को पाकर किसी अकेली किश्ती के कोने में एक एक्के की ज्योति में

उस दिलवर के नूरानी मसहफ़े रुखसार को कुरान शरीफ़ के समान ध्यान लगाए मानो पढ़ रहा है, और उसके हर खतो खाल पर गुलिस्तां और बोस्तां को वार फेरकर फेंकता, शेष संसार को निस्सार जान मेले से भागता, भगवान् की विलक्षण रचना चातुरी के पहचानने में असमर्थ हो तन्मय दशा को प्राप्त हो रहा है, जिसकी आंखों में यह मेला केवल एक निर्जन वन से सादृश्य रखता है। कहीं मिलकर लोढ़ियां बजतीं और किसी डोंगी पर बूटी छनती, कहीं गांजे की दम लगती और तान उड़ती है। कहीं होली से जलते भट्टे पर छनाछन पूरियां निकालते 'गरमागरम कचौड़ी मसालेदार' चिल्लाते धुआं-धक्कड़ मचाते, हलवाई लोग अपनी दूकान की नौकाएं बढ़ाते चले जाते और भूखे परदेशी मेला देखने-वाले शिकारी कुत्ते के समान अपनी नौका दौड़ाए लपक रहे हैं। कहीं बनारसी गुण्डे और अक्खड़ों की बोली ठोलियां उड़तीं—क्या सिघा ?—'अचूका तो राजा'—'और कैसन दबल जात होवः'—'कहां तोहरे नावें के तौ कट्टर भिड़ौले चलल आवत हुई।' 'रंग है झज्झर इतो भारी भरटि कै आवाज छेड़ल्यः।' कहीं कोई चिल्लाता है कि 'तनिक रोकले रहः हो :। नाव बड़ जायद्यः'—'अरे काहे झूरे नाव नाव चिचियायेल्यः बच्चू अबहियें जहां चार डांड कसलीं कि पल्ले पार कै दिहल।'

'देखत होअः कि नाहीं वे रंगे बोली बोलत डोंगी सटोले चलल आवत बाड़ें, सूझत नईं नाहीं जनते कि हमन बड़े-बड़े गुण्डन कै चेहरा बिगाड़ दिहले हई।' किसी नाव पर रंडियां विविध भाव बतला-बतलाकर गा रही हैं—

चलो सखी रे, मलिया की बगियां हो रामा।
फुलवा में बीनी हो भरल्यू चगेरिया हो रामा०।
आय गयलो रे मलिया रखवरवा हो रामा।

बस, इसका भाव जिसने देखा, वही जाने।

इत्यादि-इत्यादि बनारस की अनोखी लयदारी के संग इस चैतो गान की तान इस प्रेममय मी राग रसिकों के कान में क्या काम करती है, यह केवल अनुभव का विषय है। कहीं कथक थिरकते तो कहीं कलावंत, भांड रागिनी गाकर माड़वारियों को भी मस्त किए देते, कहीं भांडों की तालियां बजतीं तो कहीं कव्वालों की नकलें होतीं, कहीं गवांर लोग तन भड़-भड़ लगाए, तो कहीं जोगीड़े होली मचाए भड़तल्ले की ताल पर ललकार रहे हैं।

बस, इसी हेर-फेर और सोच-विचार में प्रभात वात बहने लगा, पूर्व दिशा अपने प्रिय प्रभाकर को पाकर मंद-मंद मुस्कुराना आरम्भ करने लगी। लज्जावश ज्यों-ज्यों तारावलियों ने अपना मूं छिपाना आरम्भ किया कि इधर फ़र्राश लोग

नौकाओं के झाड़-फानूस की वत्तियाँ भी बुझा चले। जिस तम को ये असंख्य ज्योतियाँ न दूर कर सकी थीं, भगवान् भास्कर की दो-चार किरनों ने आकर नाश कर दिया। अब कुछ और ही शोभा हो चली, रात बीत गई, दिन दिखलाई देने लगा, उजेले में दूर-दूर की भी हर ओर नौकाएँ पहचान पड़ने लगीं। घाट छोड़ नौकाओं के झूमड़ धारा में पड़ चले, सब राग-रागिनियों का गाना बन्द हुआ। अब केवल भैरवी ही राग का सनाका सुर सारे सुरसरिवार पर सुनाई दे रहा है।....अपने लोग भी उठे और अपनी नौका हटा, घाट की ओर प्रस्थान किया।

आहा आहा हा ! उत्तरा विमुख होते ही मानो उत्तरा खण्ड ही में पहुँच गए। जहाँ तक दृष्टि दौड़ती है, एक अद्भुत पवित्र दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा है, मानो आज काशी कैलास का विलास कर रही है। श्री मन्दाकिनी के सुचिक्करण शिलासोपान विनिर्मित विशाल घाटों के ऊपर प्रस्तरमय असंख्य सप्तभूमि हर्म्य, प्रासाद और मन्दिर पर्वत श्रेणी के समान अनुमान होते, जिनकी सुधा धवलित अट्टालिकाएँ और संगमरमर के बँगले हिमाचल के हिमाच्छादित शृंग की सी शोभा धारण किए हैं। शिवालयों के उच्चतम भाग में नभस्पर्शी स्वर्णादि धातु विनिर्मित कलश और कंगूरों के वृन्द त्रिशूल धारण किए, मानो हाथ उठाए कह रहे हैं कि त्रिताप शमनकारी, त्रिजन्म पापहारी, स्थल त्रिलोक में केवल एक यही त्रिलोचन त्रिपुरारी पुरी ही है, और सुनहरी पताकाएँ फहराती साहंकार मानो आर्य धर्म के अटल राज्य के प्रकर्ष प्रताप को सूचित कर रही हैं। अनेक सुविशाल देवालयों में प्रातःकालीन अर्चन और पूजन में वजते शंख भेरी घंटा घड़ियाल का कल तुमुल दशों दिशा में व्याप्त हो मानो हमारे सनातन धर्म की विश्व विजय बधाई सी सुनाई देती है। कहीं तानपूरा, मृदंग और झांझ बजते, कीर्तन और भजन होता, जिनके द्वारों पर भैरवी-भैरवी की नौबत झड़ती, मानो इस नित्य मंगलमय स्थल को वतला भूलों को चैतन्य करती हैं, कहीं ब्राह्मणों के लड़के वेदाध्ययन करते, उद्घोषण कर रहे हैं कि सरस्वती देवी का आश्रय स्थान अब केवल यही है। गंगातट पर ब्राह्मण लोग संध्या वन्दन तर्पण देवार्चनादि ब्रह्मकर्म करते, मानो इस कराल कलिकाल में भी धर्म को धैर्य-सा दे रहे हैं, और सामान्य द्विजाति अपने आर्य वेश सत्कर्म रत लखाते मानो इस तीर्थ में अद्यापि धर्म के निवास का प्रमाण सा दे रहे हैं। सामान्य जन हरहर महादेव शंकर पुकारते, मानो जिसका राज, उसकी दुहाई वाली कहावत को चरितार्थ करते।

भगवान् भूतभावन भुजंगभूषण का स्मरण करते, शिवालयों में जा, जल

चढ़ाते, गाल वजाते अपने जन्म-जन्मान्तर के पाप-पुंज को दूर वहाते जाते हैं। कहीं स्नान कर काषाय कोपीन धारी एक हाथ में गंगाजल पूरित कमण्डल लिये, दूसरे में अपना दण्ड ऊँचा किए, दण्डी स्वामी लोग प्रशान्त भाव से अपने आश्रम को जाते, मानो 'एकमेवा द्वितीयम् ब्रह्म' की शिक्षा सी देते जाते। कहीं सुर सरिता के निर्मल और सुशीतल सलिल में कुलवधू सुकुमारी सुमुखियां स्नान करतीं, देवताओं के मन को भी हरतीं, यह निश्चय करातीं कि मानो चतुर चतुरानन ने काशी की गलियां में मुक्ति को यों ठोकर खाते देख, उसकी रक्षा के लिए इस अवरोधक कुलाहल की सृष्टि की है। जिनके सहज सलज्ज रहन-सहन को देख रात भर के देखे वेश्याओं के सब हाव-भाव रसाभास से अनुमान होता और मन मान लेता कि ठीक है, इसीलिए साहित्याचार्य्यों से यथार्थ प्रतिष्ठा स्वकीया ही नायिका को दी गई है। वे अपने वहुमूल्य वस्त्रालंकार और दान-दक्षिणा देतीं स्थिर भाव से रहती हैं। एवम् निज नित्य नैमित्तिक कर्म्म से अवकाश पाकर भुण्ड के भुण्ड ब्राह्मणों तथा संन्यासियां का क्षेत्रों में भोजनार्थ जाना, मानो भगवती अन्नपूर्णा के साक्षात् विद्यमान होने को प्रमाणित कर रहा है। आहा, धन्य यह काशी है कि जहाँ कुवेर के समान कितने ही धनवान और शेष के सदृश कितने ही विद्वान्, असंख्य भक्त महात्मा और तपस्वी अव भी निवास करते हैं। धन्य हैं, जो यहाँ सदैव निवास करते और नित्य इस आनन्द को देखते। किसी ने सच कहा है :

> 'चना चवैना गंगजल, जो पुरवै करतार।
> काशी कवहूँ न छोडिए विश्वनाथ दरवार॥'

अव अपनी नौका ईप्सित घाट पर आई, हम लोग नाव से उतर गाड़ी पर चढ़े उस विछड़े मित्र के न मिलने का पश्चात्ताप करते अपने वनारसी मित्र के साथ जा उन्हीं के घर फिर धमके।

पाँच वजे सन्ध्या को सुस्वादु गुलावी वूटी के रंग से फिर गुलावी आँखें कर यार लोग श्री गंगाजी के घाट पर आ डटे। कल मंगल था, आज दंगल का दिन है, अर्थात् दिन के मध्यान्होपरांत से पुनः मेले का आरम्भ होकर अर्धरात्रोपरान्त समाप्त होता, और इसकी संध्या की शोभा मानो मेले भर का सारांश है, इसी से आज गंगाजी की धारा के अतिरिक्त घाट पर भी आनन्द की हाट लगी है, अर्थात् जल और स्थल दोनों स्थान पर मेला जम रहा है, वरंच जो लहर आज स्थल पर है, जल पर नहीं, क्योंकि वे लोग भी, जो कि नाव पटैया के मेले में नहीं भी सम्मिलित होना चाहते, घाट पर से एक दृष्टि उसकी शोभा देखने को आ डटते, यों ही अनेक नौकारोहण-भीरु और लड़केवाले लोग तथा जिनका

कहीं सुबीते से नाव का बेड़ा नहीं लगा वा टका निकालने में असमर्थ और ठस लोग भी आकर घाटियों के तख्ते, मढ़ी और घाट के बुर्जों को दखल कर बैठते, जिनमें प्रायः सभी प्रकार के लोग अपनी शक्ति और मर्यादा के अनुसार सुन्दर वस्त्रालंकार से सुसज्जित होते हैं। बहुतेरे बनारसी नवयुवक छैले, जिनके सुन्दर मुखारविन्द पर कलित कामदार टोपियों से लसित घूंघरवाली काली कुन्तलावलि मानो मलिन्द माला सी मनोहर मालूम होती, सर्दई, सन्दली, शर्बती, काफूरी, मोतियई, खसखसी, कपासी, गुलाबासी, गुलाबा और प्याजी बनारसी दुपट्टों, जिनसे गुलाब और खस के इत्र की सुगन्ध फैल रही है, गले में डाले मानो बहार में खिले नाना रंग के फूलों की बहार दिखलाते तटस्थ तम्बोलियों की दुकानों पर ऐंठे बैठे आँखें लड़ा रहे हैं। कहीं सर्व कहीं सर्व कदों की कतार, तो कहीं चश्मि नर्गिस का दीदार, कहीं गुल रुखों की भरमार, तो कहीं बुलबुल से बेक़रार आशिक़ज़ार भाँति-भाँति की बोलियाँ बोल रहे हैं। वाह! क्या बहार है! मानो इस बहार के मौसिम का यह मेला भी गुलजार पर बहार है। अनेक रसीले मेले का सर्वांश रस चूसते इधर से उधर डोलते फिरते, तो कितने ही किसी एक ही के मुखारविन्द पर टकटकी लगाए मानो कंठगत प्राण से हो रहे हैं! न इतनी भीड़ केवल तट के तल भाग ही पर है, वरंच घाट के ऊपर के पंचतल्ले और सततल्ले मन्दिर और महलों की अट्टालिकाओं पर भी वैसा ही नर-नारियों का समूह सुशोभित हो रहा है; विशेषतः ऊपरी भाग तो केवल सुन्दरियों ही के सौन्दर्य से भरापुरा है। अहा हा! यह आज कैसा अद्भुत शोभा का समुद्र उमड़ रहा है! अरे, यह तो मानो ब्रह्मा की विचित्र रचना चातुरी के प्रदर्शन का मेला है, वा महाराज मनोज के मन बहलाने के लिए अपूर्व मीना बाजार लगाई गई है:

'नजर आती हैं हर सूरतें ही सूरतें मुझको।
कोई आईनाखाना कारखाना कारखाना है खुदाई का॥'

यह बुढ़वामंगल का मेला क्या वस्तुतः बुढ़वा बाबा महादेव का मंगल विवाह का मेला ही है, और यह दंगल (भारी भीड़) कदाचित् बारात वा सोहगी निकलने का समय है, जिसे देखने के लिए ये देवदारा और गन्धर्व कन्याएँ अपनी ऊँची अट्टालिकाओं पर चढ़ी हैं! श्री गंगाजी की सब नौकाएँ मानो नाना बाराती देवताओं के विमान हैं, जो अभी आकाश से उतर रहे हैं, क्योंकि आगे बढ़ी यह मोर पंखा देव सेनानी भगवान् मयूर वाहन के समान इस अनुमान के यथार्थ होने का प्रमाण सी दे रही है। इस वर्ष सूर्यग्रहण के समीप होने से प्रयाग के कुम्भ से लौटे साधु-सन्तों का उस पार भी अधिकता से आ

बसने से एक नवीन जनस्थान सा बस गया है, जो मानो बुढ़वा बाबा की बारात का जनवास है, कि जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के साधुओं की मंडलियाँ मानो भिन्न-भिन्न बाराती देवताओं की बराती सेना है,—यदि दण्डी लोग काषाय वस्त्रधारी चोबदार कंचुक वा द्वारपाल हैं, तो परमहंस लोग पार्षद और प्रधान; तथा नंगे भुजंगे विभूतिधारी नागे उस दिगम्बर के खास हुजूरी पलटन के सैनिक समूह के समान अनुमान होते। अयोध्या के वैष्णव लोगों के अखाड़े मानो विष्णु की सेना हैं, और कमण्डलुधारी अनेक ब्रह्मचारी और ब्राह्मण ब्रह्मा की, उनके दर्शकधनी गृहस्थ कुवेर और उनकी रक्षा के अर्थ पुलीस के कान्सटेबिल और चौकीदार यम की और अनेक अन्य-अन्य की। श्री गंगाजी में भी नौकाएँ आज अधिक हैं; क्योंकि बहुतेरी नावें आज ही पटी हैं; क्यों नहीं, आज तो दंगल (किश्तियों की कुश्ती का मेला) न है, वाह ! यह महाराज काशिराज का कच्छा[1] है कि जिससे सात कच्छे एक ही में मिलाकर पटे हैं, और बड़ा भारी देश और शाहमियाना खड़ा है, और भी सब उचित राजसी ठाट-ठटा है, झुण्ड की झुण्ड रंडियाँ बैठी हैं। यह यहीं की बनी केले के खम्भे के समान मोटी मोमबत्तियाँ हैं, जो बैठकियों पर लगी हैं, पर नृत्य गान कुछ भी नहीं होता है, क्योंकि महाराज तो घुड़दौड़ (एक उत्तम नौका जिसके अग्रभाग पर दो कृत्रिम घोड़े लगे हैं) पर सवार हो आज मेला देख रहे हैं, और उसी पर गान हो रहा है। इधर-उधर के कई सुसज्जित बजड़े और मोरपंखियों पर महाराज के अन्य प्रधान पुरुष लोग भी साथ-साथ मेला देख रहे हैं। वाह ! क्या विचित्र शोभा है; चुने पार्षद वर्ग और परिकरयुक्त आर्य राज.वेषधारी नवीन महाराज आज कैसे शोभायमान हो रहे हैं, मानो बुढ़वामंगल अपना बुढ़वा स्वामी छोड़, नवीन को पाकर नवीन मंगल हो गया है। यह जिस मोरपंखी पर नाच हो रहा है, उस पर महाराज के ठाकुरजी विराजमान मेला देख रहे हैं। धन्य ! क्या हिन्दू राजा की पवित्र श्रद्धा का प्रमाण है। धन्य काशिराज ! धन्य !

अब तो सन्ध्या हो गई, चारों ओर दीपावलियाँ प्रज्ज्वलित हो गईं। अपने लोग भी दशाश्वमेध घाट से घाट ही घाट घूमते आकर पंचगंगा घाट पर पहुँचे, पैर भी थक रहे, पर यह मन तनिक भी तृप्त न हुआ ! कहता है कि स्थल का मेला तो खूब देखा, अब जल के मेला देखने की वेला आई, अतः वहीं चलो; क्योंकि यहाँ तो अब केवल बँधे तार वाले लोगों ही का काम है। 'लिए फिरता है मुझको जा बजा दिल। मेरा बेहोश मेरा चुलबुला दिल।' अस्तु, फिर डोंगी पर चढ़ आगे बढ़े। वाह ! यह गंगाजी में आधी दूर तक पुल कैसा बँध गया !

१—बजड़ा।

नहीं ! यह वही श्री मन्महाराज गोस्वामी श्री बालकृष्ण लालजी कांकरौली अधीश्वर का कच्छा है ! ओहो ! यह कितने कच्छे एक में पटे हैं ? कदाचित् बीस होंगे। क्योंकि दोनों ओर इसके दो नृत्यशाला बनी हैं, जिनमें एक तो श्वेत, ठीक श्री काशिराज के तुल्य और दूसरी गुलाबी रंग की एक नवीन ही छटा छहरा रही है, और दोनों के बीच में कुछ नजरबाग और खुले चबूतरे की बनावट है। धन्य-धन्य यह अलौलिक रचना और समारम्भ ! हाँ, यह लोकोक्ति तो प्रसिद्ध ही है कि वल्लभ कुल के गोस्वामी महानुभावों के घर में सदा अचल रूप से लक्ष्मीजी ने निज निवास का वर दिया है। यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं जबकि लक्ष्मीनाथ की रसीली लीला ही का वह स्थान है, फिर भला ऐसे लक्ष्मी-कृपापात्र और जिनकी आँखों में उन्हीं की ललित लीला का ध्यान है, उनके इस लीला रचना की लीला लिखने में कैसे आ सकती है। यह कितनी मोमबत्तियाँ जला दी गईं कि इतना अधिक प्रकाश हो गया ! वाह, इन लाल महतावों का उँजाला तो मानो समस्त उँजाले को रँगकर लाल कर दिया, और होली का दृश्य आगे आ गया है। यह विद्युत प्रभा कैसी ! और यह ठीक ही विद्युत प्रभा कैसी (बिजली की रोशनी) है, जो कि कई सौ रुपये रोज पर कलकत्ते से मँगाई भई है। भई वाह! यह तो सबी को दबा बैठी। अहा! घाटों की अँटारियों पर तो इसने जाकर वह कार्य किया है, कि जो दिन में भी दुर्लभ था ! यह प्रभा तो चन्द्रमुखियों के मुख पर पड़ कुछ और ही लीला दिखलाती है। इसकी चमक की चौंधी से उनके चंचल चक्षु-चंचरीक, जो करपुण्डरीक की ओट में जा छिपते, तो मानो चन्द्रग्रहण सा लग जाता है। कितनी उस चमक के पड़ते ही चमककर स्वयम् चंचला सी चल देती और दर्शकों के चित्त पर चंचला की चोट सी चला देती। यों ही कितनियों को इस दामिनी की चमक-दमक में अपने दामिनी की द्युति को भी दबानेवाली बदन की दीप्ति के दिखाने को और भी सुबीता होता। सच तो यह है कि इस समय यह बिजली की रोशनी दूरबीन का कार्य दे रही है अथवा जैसे किसी सुवृहत् दृश्य के छायाचित्र की विचित्रता देखने को सूक्ष्मदर्शक दर्पण, कि बीच धारा में बैठे उस लालटेन के तनिक घुमाने से सहज ही सबकी शोभा लखाई पड़ती है।

अच्छा, चलो उसी गुलाबी कच्छे पर चलें, और वहाँ की भी छवि देखें,, परन्तु वहाँ तो इतनी नौकाएँ चारों ओर घेरे हैं कि पहुँचना भी कठिन है। यह किसकी किश्ती है ? इसके बीच में क्या कुँअर सच्चितप्रसादजी हैं ? हाँ, इधर ही तो देखते भी हैं। 'आइए आइए, बस चले आइए ! कल भी आप लोग नहीं आए, कहाँ रहे ?' चलो, भाई कुँवर साहिब ही की आज्ञा का प्रथम पालन हो; यह

कहते जो हम लोग उनकी नौका पर जा पहुँचे, तो देखते हैं कि कई वेश्याएँ वहाँ पर नृत्य कर रही थीं और उनके रूप-यौवन पर बनारसी लोग लट्टू हुए, उनकी आरसी सी स्वच्छ सूरत के आरसी में अपने बर्बादी और मिट्टी में मिलने की सूरत देख रहे हैं। वाह ! यह भाँड़ लोग जो गा रहे हैं, बड़े चतुर हैं। उनके छोटे की नाच और भाव का तो कहना ही क्या है, 'खुदा आबाद रक्खे लखनऊ फिर भी गनीमत है।' अहा ! अब इस ऊँचे बजड़े पर से जो कि कांकरौली वाले महाराज के गुलाबी कच्छे से सटा बँधा है, निकट से कच्छे की शोभा कुछ अपूर्व ही दीख पड़ने लगी है। उफ ! बहुत ही बड़ी नृत्यशाला बनी है ! यह गुलाबी पट मण्डप जिसकी झालर, खम्भे और जंगले आदि सब गुलाबी ही रंग के हैं, अधिकाई से उत्तमोत्तम और बहुमूल्य इतने झाड़-फानूस तथा शीशा आलात और राजसी ठाट से सुसज्जित हैं, मानो सुरेन्द्र राजभवन की तुल्यता प्राप्त किया चाहता है, अथवा सहस्रों प्रज्ज्वलित दीप शिखाओं के प्रकाश से जगमगाता मानो असंख्य तारागणों से देदीप्यमान शरदाकाश की शोभा धारण कर रहा है, जिसमें मंगल, बुद्ध, बृहस्पति और शुक्र की भाँति रंग-बिरंगी महताबों का ताब और सच्चे महताब के तुल्य बिजली की रोशनी है।

जिसकी तीव्र ज्योति झाड़ और फानूसों में लगी शीशों की डाल और कलमों पड़कर सतरंगे असंख्य इन्द्रधनुष बनाती और दर्पणों में अपना प्रतिविम्ब ला वर्षा ऋतु की चंचलता की चकाचौंध लाती है, किन्तु नीचे दृष्टि दीजिए, मानो वसन्त का अखाड़ा वहीं उतरा अनुमान होता। न केवल कच्छे की सजावट ही में गुलाबी रंग की दिखलावट, और अनेक सोने-चाँदी के फूल चंगेरों में गुलाब के फूल अधिकता से भरे हैं, वरंच उस पर बैठे सभासद स्वामी, सभ्य और सेवक सब लोग गुलाबी ही रंग की सब पोशाकें पहने हैं, जिससे यही अनुमान होता है कि मानो इस चैत मास में प्रातःकाल ही गाजीपुर के उन गुलाब के खेतों में जा पहुँचे हैं कि जहाँ कोसों तक केवल गुलाब के फूलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता। भाई, इस भाँति गुलाबी रंग से रँगी महासभा किसी ने काहे को कभी देखी होगी। सच है, यह यहीं का प्रसाद है, जो कि अब के अन्य नौकाओं पर भी अधिकांश लोग गुलाबी ही रंग के कपड़े पहिने देख पड़ रहे हैं, कदाचित् इस वर्ष हजारों थान गुलाबी रंग के रेशमी कपड़े केवल इसी मेले के कारण बिक गए होंगे तथा सहस्रों दर्जी और रंगरेजों का भी भला हो गया होगा। इन चाँदी की चोबों पर तने सुनहरे कामदार नमगिरे के नीचे गुलाबी कमखाब ही का बिछौना बिछ रहा है, जिसके आगे सुन्दर सोने के अनेक मज-

लिसी साज, पानदान, इत्रदान आदि सुसज्जित हैं, और उसके नीचे हौज में नृत्य होता है।

क्या नगर का कोई ऐसा प्रतिष्ठित और मान्य पुरुष होगा कि जो इस समय यहाँ उपस्थित न हो? नहीं, कदापि नहीं। हाँ, जब अनेक दूर के नगर निवासी आज आकर बनारसी हो रहे हैं, तो भला बनारसी क्यों न आ उपस्थित हों। वास्तव में कैसे-कैसे धनी और मानी लोगों की इस समय यहाँ भीड़ भरी है। बड़े-बड़े बहुमूल्य वस्त्राभूषणधारी पुरुष इधर से उधर ठोकर खा रहे हैं और अनेक लखपतियों को तो कहीं बैठने का भी ठिकाना नहीं लगता है। सचमुच ऐसे समारोह की सभा तो कदाचित् बड़े-बड़े महाराजाओं के यहाँ भी न देखने में आती होगी।

इस कामदार नगरी के नीचे कामदार गद्दी मसनदों पर गुलाबी बागा पहने सातों स्वरूप श्री गोस्वामी महाराज लोगों के हैं। अहा हा! धन्य! क्या शोभा है! बीच में बड़े-बड़े अमूल्य हीरों का सरपेच लगाए और अधिकता से केवल श्वेत हीरे ही के अनेक आभूषणों से भूषित कांकरौलीपति गोस्वामी श्री बाल-कृष्ण लाल जी महाराज विराज रहे हैं। उनके पासवाले उनके ज्येष्ठ भ्राता हमारे लाल बाबा साहिब काशी के श्री गोपाल मन्दिर के टिकैत गोस्वामी श्री जीवनलालजी महाराज, और शेष ब्रज, बम्बई और कोटे के महाराज लोग सुशोभित हो रहे हैं, और दोनों पार्श्व में गुलाबी कमखाब के फर्श पर भट (अर्थात् उनके सम्बन्धी लोग) न्यूनाधिक वैसे ही वस्त्राभूषणधारी विराजमान हैं। इन महानुभावों के मुखारविन्द की शोभा ही कुछ दूसरी है, और एक अद्भुत श्री की छवि आई है। अहा! इन महाराजों के दर्शन से यद्यपि हमारे प्राचीन आर्य वेष का परिचय सा मिलता है। देखिए तो इन जवाहिरात से जगमगाते वेष के आगे आजकल की टुच्ची चाल पर कैसी घृणा होती है, मानो यह इन्द्र आदि आठों दिक्पाल हैं, जो यहाँ विराजे हैं, वा सप्तर्षियों की गोष्ठी है एवम् उस बुढ़वामंगल की बारात की कदाचित् यही कच्छा नृत्यशाला भी है। यह दूसरा कच्छा बगीचे को लिये कहाँ चला गया? हाँ, आज उसी पर अँगरेजों का निमंत्रण भी तो है। यह क्या पार में अग्निक्रीड़ा (आतिशबाजी) भी आरंभ हो गई! हाँ! मंगल के अवसर पर यह सामग्री भी तो आवश्यक ही है। वाह! यह धमाका, यह चर्खियाँ, यह पटेबाज, यह टट्टी, फुलझड़ी! अहा, ये बान कैसे ऊपर जा रहे हैं! वाह, ये गंज सितारे तो टूट-टूटकर आकाश के सब सितारों को मन्द कर अपनी ही रंग-बिरंगी प्रभा फैला चले, मानो इस बुढ़वामंगल के अवसर पर सुर समूह सुमन वर्षा कर हर्ष

प्रगट कर रहे हैं। यह बिजली की लालटेन क्यों इधर घुमाई गई। हां, दूसरे कच्छे की ओर वाह ! यह तो श्वेत कच्छा देखते ही देखते अँगरेज और मेमों से भर गया ! अहा, इतनी दूर से भी इस विद्युत प्रभा के द्वारा समस्त दर्शनीय वस्तु यथार्थ दृष्टिगोचर होती है। साहिब, मैजिस्ट्रेट और कमिश्नर आदि सभी प्रतिष्ठित राजकर्मचारी लोग आ डटे हैं। यह भी एक अपूर्व दृश्य है ! जाने दो भाई ! अब इधर अधिक देखना ठीक नहीं। समय बहुत टेढ़ा है। अच्छा, अब आगे की भीड़ हट गई है, और महाराज लोग भी इधर ही देख रहे हैं ! बस उचित अवसर जान, जैसे ही खड़े होकर प्रणाम किया, कि इशारे से आज्ञा हुई कि यहां आओ। प्रणाम करके बैठने पर कुशल प्रश्नादि सन्मान जो मुझ समान सामान्य जन के लिए अवश्य ही अपार कृपा का विस्तार था, पाकर परमानन्दित मन ने मान लिया कि जो सुनते थे कि—

'शुनीदा के बुअद मानिन्दे दीदा।'

(अर्थात् सुना देखे के तुल्य कब होता है) सो आज आँखों देखा।

उन दोनों बंगालिनों की बारी आई, कि जिन्हें हम लोगों ने मुगलसराय के स्टेशन पर देखा था। वाह ! इस समय तो इनका कुछ और ही बनक बन रहा है। बंगीय वस्त्रालंकार और सिंगार कुछ विचित्र ही बहार दिखा रहे हैं। इन्हें निहार चुटीले चित्तवाले प्रेमियों का अपने को वार फेरकर इन पर बलिहार जाना क्या आश्चर्य है ? अब इन लीलावतियों की लीला कैसे लिखने में आए, कि जो केवल देखने ही का विषय है। वाह, इनका नाटकीय बँगला गान यद्यपि बंग भाषा से अज्ञान अनेक जनों को नहीं समझ पड़ता होगा, किन्तु हाव-भाव, कटाक्ष की काट से उन्हें कौन बचाएगा ? देखिए तो केवल साड़ी पहिने ये इस समय नाच रही हैं, परन्तु दर्शकों की आंखों से पूछिए कि वे अपनी नाच भूल कर एकटक लगाए, मानो धन्य-धन्य कहा चाहती हैं। इन मधुर अधरों से निस्सृत स्वर स्वाभाविक ही सुधास्वावसा श्रवणानन्ददाई है, फिर बंग-भाषा के माधुर्य्य सरस स्वाद को सौ गुना बढ़ा रही है। 'यमुना पुलीने बोशी कांदे राधा विनोदिनी।' बलिहार ! बलिहार ! कहता मन जो उस रस में फँसा तो बस, फिर कुछ काल तक इसका कुछ परिज्ञान ही न रहा कि यहां क्या हो रहा है !

रात भी अब थोड़ी ही है, दो दिन की उनींदी आँखें अब अपना कहना भी नहीं करतीं, अतः खिसकना ही ठीक है। प्रातःकाल होई चुका था, डेरे पर पहुँचते-पहुँचते दिन भी कुछ चढ़ आया। नित्य कृत्य से निवृत हो जो सोए, तो सन्ध्या को भोरों से जगाए गए। अस्तु, फिर उसी पाठ पढ़ने को चलते-चलते आठ और राजघाट पहुँचते नौ बजे, क्योंकि आज यहीं से आरम्भ करने का विचार

स्थिर हो चुका था। यहाँ से जो नौका पर चढ़कर चले, तो आज मेले की कुछ दूसरी ही शोभा लखाई पड़ने लगी, मानो मेले की दशा भी आज उस तरुणी की युवावस्था की सी है, जिसमें मनोहरता और निकाई अपनी अन्तिम अवस्था पर पहुँचा चाहती है। राजघाट की ओर से सब नौकाएँ असीघाट की ओर चली जा रही हैं। ऐसा अनुमान होता कि मानो आज श्री गंगाजी अपनी धारा उलटकर पश्चिम की ओर बहा रही हैं, और प्रवाह के कारण स्वयम् सब नौकाएँ उधर ही वही जा रही हैं। अथवा गंगाजी आज आकाश-गंगा हो, देवों का आकाश मार्ग (डहर) बन गई हैं, जिस पर से बुढ़वामंगल में आये देवताओं के विमान बरात के संग विदा होकर मानो अब दूल्हे के घर कैलाश को जा रहे हैं। अहा, ये असंख्य नौकाएँ इस शीघ्र गति से आपस में बचती-बचाती ऐसी उड़ी चली जाती हैं, कि जैसे लोटाभंटा[1] के मेले में असंख्य पतंग उड़ानेवालों की लागडाँट से अमल आकाश में ढील की डोर पर छूटी अनेक प्रकार की रंग-बिरंगी पतंगें आपस में पेंच खाती और बचती-बचाती वेग से बढ़ी चली जाती हैं। यों ही इन नौकाओं पर प्रज्ज्वलित नाना रंग-रंजित दर्पण, वर्ण के मध्य से मोमबत्तियों और रंगबिरंगी महतावों के प्रकाश की आभा जल में पड़कर मानो एक्की-एक्की दून लगाती ऐसा अनुमान करातीं, कि कदाचित् श्री गंगाजी ने अनेक रंग के असंख्य कमल खिलाए हैं। वा भगवती भागीरथी ने अपने प्रिय पति रत्नाकर के समस्त अमूल्य रत्नों का हार बनाकर निज प्रिय सखी काशी के गले में पहिनाना चाहती हैं। वाह ! अनेक घाटों पर भी आज रोशनी हुई है, यह तो इस समय मानो सड़क की लालटेन वा मील के पत्थरों का कार्य दे रही है, क्योंकि इस समय इनके न रहने से न तो तट, और न घाटों की संज्ञा का ज्ञान हो सकता है। यह क्या मणिकर्णिका महातीर्थ है ? वाह, यहाँ की रोशनी तो मानो बतला रही है कि सच्ची रोशनी बस यही है, और सब रोशनियाँ झूठी हैं ! अनेक चिताएँ जल रही हैं और अनेक शव स्थान-संकोच के कारण कफ़न लपेटे पड़े हैं तथा सैकड़ों जन रोते-बिलखते लखाई पड़ रहे, मानो इस मसल की सच्चाई साबित कर रहे हैं कि—'दुनियाँ भी है क्या बलन्दी सराय। कहीं खूब खूबी, कहीं हाय-हाय।' क्यों नहीं, मुण्डमालधारी भगवान् भूतनाथ रुद्र की राजधानी काशी न है, कि जिसका नाम ही महाश्मशान है।

कदाचित् यही उनके कार्यालय का स्थल भी है, क्योंकि 'चिता भस्मा लेपी गरल असनम्' को श्मशान का निवास ही प्रिय है। सच है, सच्चे उदासीन और

१—मिरजापुर में होनेवाला पतंग उड़ानेवालों का एक मेला।

विशुद्ध विरक्त के रहने के योग्य इसके सिवा और कोई स्थान भी तो समीचीन नहीं है। जिसके तनिक देखने ही से विचित्र ज्ञानोदय होता और पाप का भय, तथा धर्म की चिन्ता होती है, इसी से श्मशान भी एक मुख्य ज्ञान का स्थान माना गया है।

धन्य काशी कि जहाँ उच्चातिउच्च तथा नीच, म्लेच्छ आदि को भी यह दृश्य देख ज्ञानलाभ करने का अवसर मिलता, पाप करते भी धर्मशिक्षा मिलती है। देखिए, आज इसी ओर कई सौ नौकाएँ, और सहस्रों मनुष्य गये हैं? पर क्या किसी को कुछ भी ज्ञान लाभ हुआ होगा? उन्हें कैसे ज्ञान लाभ हो, जो इधर देखते ही नहीं?

धन्य है हिन्दू धर्म तथा उनके विश्वास सन्मान को कि मध्य नगर में यह प्राचीन पवित्र तीर्थ आज भी ज्यों का त्यों अपना प्रताप दिखाता वर्तमान है। नहीं तो इस अँगरेजी सफाई की सनक के समय में इसका यों यहाँ अपने पूर्व कार्य को करते रहना कितना असम्भव है, विशेषतः जब कि प्रतिवर्ष यह अनेक लाट और राजप्रतिनिधियों के दृष्टिगोचर होता ही रहता है? यह क्या बारह बज गए, कि जो मन्दिरों में आधी रात की नौबत बज रही है। धन्य, यह भी हम आर्यों की प्राचीन चाल है, मानो यह अब जागृतों को शयन में अतिकाल होने की सूचना दे रही है। अच्छा भाई, तनिक और शीघ्रता से खेओ। यद्यपि असीघाट अभी दूर है, पर नौकाओं का झुण्ड इधर घना हो चला। जान पड़ता है कि आज भी कुछ नई नौकाएँ पटी हैं।

मारुत के शीतल झकोरों के साथ हमारी नौका शीघ्रतापूर्वक अब सुसज्जित नौकाओं के बीच से होती हुई अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गई।

यद्यपि कि उस काल का मनोरम चित्र यही कहता था कि टुक और रुको, देखो, पर कार्य अपनी आतुरता के घोड़े पर सवार, शीघ्रता से ही इस अनोखे मेले से प्रस्थान करने के लिए प्रेरित कर रहा था। अस्तु, मैं शीघ्रता से वहाँ से चलकर अपने साथियों से छुट्टी ले, मेले की प्रतिमा और सफलता का चित्र हृदयंगम किए हुए अपने आश्रितगणों से शीघ्र चलने के लिए शीघ्रता कराते हुए, जल्दी कदम बढ़ाते हुए, मेले के अनुपम वातावरण को छोड़, आगे बढ़ता हुआ चल पड़ा।

प्रतापनारायण मिश्र
[सन् १८५६—९५]

आप

ले भला, बतलाइए तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं, यह कहाँ की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढंग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं, तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण-संपादक हैं, अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजाजी हैं, आप सेठजी हैं, आप लालाजी हैं, बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं ? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है वाचक महाशय ! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीलो पोशाक, खुंटिहई अंगरखो (मीरजई), सीधी माँग, विलायती चाल, लंबी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा, कुछ न पूछिए।"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसीलिए कि देखें आप 'आप' का ज्ञान रखते हैं वा नहीं। जिस आप को आप अपने लिए तथा औरों के प्रति दिन-रात मुंह पर धरे रहते हैं, वह आप क्या है ? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है, जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह, वह आदि हैं, वैसे ही आप भी है, और क्या है ! पर इतना कह देने से न हमीं संतुष्ट होंगे, न आपही के शब्दशास्त्र-ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे "मैं" का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, "तू" का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ में कुत्ते के संबोधन की नकल है; हम-तुम संस्कृत के अहं त्वं का अपभ्रंश है, यह-वह निकट और दूर की वस्तु या व्यक्ति के बोधनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है, किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध या अशुद्ध रूप है और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है।

हुजूर की मुसाहबत के नशे ने इस्तीफा दे दिया हो तो दूसरी बात है,

नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप" लफ़्ज फारसी या अरबीस्त, अथवा "ओ: इटिज एन इँग्लिश वर्ड" । जब यह नहीं है, तो वाहमल्लाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ गिर-पैर मूड़-गोड़ भी है कि यों ही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि सस्कृत में आप कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा—'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्य-मवासृजत्', तथा हिन्दी में पानी और फारसी में आब का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है, जैसे "पानी उतरि गा तरवारिन को उइ करछुलि के मोल विकायें" तथा "पानी उतरि गा रजपूती को उइ फिर बिनुओ ते (वेश्य से भी) वहि जायँ", और फारसी में 'आबरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि ।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे । यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवेगा; पर खींच-खाँचकर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अंबु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं, उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, 'आप' ही को सुर्खाब का पर कहाँ लगा है ? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए, तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप आप कहा करते हैं, यह आपकी कौन सी विज्ञता है ? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुंह से आप आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं ? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे, तो इस बात के उठते ही पानी-पानी हो जायँगे, और फिर कभी यह शब्द मुंह पर भी न लावेंगे ।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप आप की बोली बोलते भी नहीं हैं । एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते-जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा, तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायतवालों के आगे आप आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है; पर वह इस बात को न माने । हमने दो चार बार समझाया, पर वह "आप" थे, क्यों मानने लगे ? इस पर हमें झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और "आप" का शब्द मुंह पर लाते ही हमने कह दिया कि आप की ऐसी-तैसी ! यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते ? प्यार के साथ तू कहने में जितना

मजा आता है, उतना बनावट से आप साँप कहो, तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गए। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में कोई बंधन न होने पर भी, इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, वरंच नहीं के बराबर होता है।

हिन्दी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो 'आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिए', पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का है और न इसका आशय स्नेह-संबद्ध है। किसी जले-भुने कवि ने कह मारा हो, तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी "आप" की पूछ है। दूसरा घनानंदजी का सवैया है—"आप ही तौ मन हेरि हर्‌यौ तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालंभ है। इससे हमारा यह कथन कोई खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, तू ही प्यारा है।

संस्कृत और फारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते। पर इससे आपको क्या मतलब ? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइए, और न लगै तो हम बतला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहाँ तक कि न्यायशास्त्र में प्रमाण-चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) के अंतर्गत शाब्द-प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'अप्तोपदेश: शब्द:' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्दबद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्य भाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो, वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्त शब्द सबके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता, इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर का द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता" हो जायँ, पर व्यवहारकुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे, जब कहा जाय कि 'आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं' इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं ? यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हों, तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के आप्त शब्द का हिन्दी रूपांतर है; और

माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है, जो सामने विद्यमान हों, चाहे बातें करते हों, चाहे बात करने-वालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों, अथवा दो या अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी-कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है। वहां भी शब्द और अर्थ वही रहता है; पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आप को (अपने तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है और विचारकर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पड़ती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिए, तो यों समझ लीजिए कि जो अपने हाथ से किया जाता है, और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है, उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात् कोई संदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य संपादित हो जायगा, 'हम आप जानते हैं,' अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपाजी भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के अब्ब (पिता बोलने में अब्बा) और योरोपीय भाषाओं के पापा (पिता), पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हां, इसके समझने-समझाने में भी जी ऊबे, तो अंगरेजी के एबाट (Abot महंत) तो इसके हई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों अकार का स्थानापन्न A है, और 'पकार' को 'बकार' से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (T) सो वह तो 'तकार' हई है। फिर क्यों न मान लीजिएगा कि एबाट साहब हमारे (आप) वरंच शुद्ध आप्त से बने हैं।

हमारे प्रांत में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई-कोई लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा और हिन्दू संतान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, वह अँगरेजों की तकार और फारसवालों की टकार नहीं है कि मुंह ही से न निकले, और सदा मोती का मोटी अर्थात् स्थूलांगा स्त्री और खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाय, फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हां, आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में 'पकार' (पे)

नहीं होता, सौ विस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फकार' से बदल लेते हैं, जैसे पादशाह-बादशाह और पारसी-फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में 'बकार' भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब—बवक्तै शब तथा तंग आमद-बतंगआमद इत्यादि, और शब्द के आदि के ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है, जैसे अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रंथों में देखो), ह्रस्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाती है, जैसे एक-एकु, स्वाद-स्वादु आदि, अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ, आदि की वृद्धि वा लोप भी हुआ ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो, वह प्रायः समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय या आप ही के उलट-फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गए न, कि आप क्या हैं ? अब भी न समझो, तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं ! हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी-छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइए, फिर आप ही समझने लगिएगा कि आप 'को हैं ? कहाँ के हैं ? कौन के हैं ?' यदि यह भी न हो सके, और लेख पढ़के आपे से बाहर हो जाइए, तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी में कह लेंगे 'शाव ! आप न समझो, तो आपाँको के पड़ी छै !' एँ ! अब भी नहीं समझे ? वाह रे आप !

●

राधाचरण गोस्वामी

[सन् १८५६—१९२५]

खटका

जी में आता है कि आज बेखटका होकर खटके का खटका करें, और इसी खटके से पाठकों का खटका मिटावें, पर भाई ! हमारे पास एक भी टका नहीं, इससे हमार। बात कौन सुनेगा ? दूसरे, हमारी आवाज में खटका नहीं, इससे आपके बिगड़ जाने का खटका है। अस्तु, जो हो खटकाते रहेंगे, चाहे मिलै या न मिलै। अजी साहब ! ईश्वर ने सृष्टि के साथ ही खटका पैदा किया, इसके वर्णन की क्या आवश्यकता है ? सभी जानते हैं, पर नहीं, चिता देने से हमारे जी का खटका मिट जाएगा। हम जानते हैं कि इससे पहिले भी खटका था, नहीं तो ईश्वर इस खटके का क्यों अपने सिर खटका लगा लेता ? देखो ! ईश्वर यदि सृष्टि रचना न करता, तो उसे अपने मन न लगने का खटका लगा रहता, और अब जो रचना की है, तो उसे पालन-पोषण का खटका है। महाशय ! देख लीजिए, जगदीश्वर पर्यन्त को खटका है, तो फिर उसकी रची सृष्टि कब खटके से खाली है ? सेर पर सवा सेर मौजूद, और एक की दवाई दो है। सृष्टि में सूर्य प्रत्यक्ष देव, और अपने उदय मात्र से सबको बेखटका करनेवाले हैं, पर पृथ्वी की परिक्रमा और मास-मास में व्यूह बदलने का उन्हें भी खटका लगा ही रहता है। औरों के मत से भी उदयास्त का खटका लगा ही रहता है। यदि यह भी कोई न माने, तो उस भयानक ग्रहण का खटका तो वर्ष भर में अवश्य ही है। फिर चन्द्रमा यद्यपि अमृतवर्षी और जगदाह्लादक है, परन्तु विचार करके देखिए, तो वह भी खटके से खाली नहीं है। नित्य प्रति वृद्धि और क्षय का खटका लगा ही रहता है। दूसरे-चौथे महीने राहु-केतु आकर नार घोंटते ही हैं, बस फिर क्या। नक्षत्र—इनमें से अधिकांश को तो अपने दिन पूरे होने का खटका ही है, कि जहां दिन पूरे हुए और फिर आंधी के आम की तरह आकाश से टूटते चले आवेंगे। पर और थोड़े-बहुत जो चिरस्थायी हैं, उन्हें कोटगक्षी का कैसा खटका है। और सबसे अधिक महाप्रलय का कैसा ? लीजिए, आकाश

में भी खटका है। आंधी, ववण्डल, मेघ, तूफान, बिजली, वज्रपात, ओला, उल्का—यह सब आकाश के ही खटके हैं। विशेषत: फारसी के कवि लोग कहा करते हैं कि आसमान किसी का अच्छा नहीं देख सकता, सुतरां जगत के अमंगल करने का खटका ही रहा आता। ऐसे असत आकाश के नीचे रहकर पृथ्वी कव वेखटके रह सकती है? यद्यपि जितने हमारे तुम्हारे खटका हैं, सब पृथ्वी पर अर्थात् संसार में ही हैं, पर निज करके भी उसे जगदीश्वर ने खटका दिया है। पहिले तो उसे चारों ओर समुद्र का ही वड़ा खटका है। जैसे क्रोधी पुरुष वात में अपनी गृहिणी के ऊपर तर्जन-गर्जन किया करते हैं, इसी प्रकार समुद्र भी इसके ऊपर सदा रुद्रमूर्ति धारण किए रहता है। और जैसे कोई क्षुद्र हाकिम थोड़ा-सा अधिकार पाकर वात-वात में 'जहन्नुम भेज दूंगा' कहकर डराते हैं, इसी प्रकार यह भी 'अभी रसातल को पहुँचा दूंगा' कहकर धमकी दिया करता है। फिर केवल इसी का क्रोध नहीं, कभी-कभी शेषजी भी इससे हँसी किया करते हैं। ऐसा अपना सिर हिलाते हैं कि सब लोक चौंक पड़ते हैं और पृथ्वी के भय का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। अव गिरी, अव गिरी हो जाती है। इससे अधिक दुष्ट राजाओं का खटका इसे सदा वना ही रहता है। पहिले राजाओं का तो इसे केवल शोकमात्र ही शेष है, परन्तु इस जनविंशति शताब्दी में भी वड़े-बड़े दुष्ट राजा हैं, जिनसे पृथ्वी गौ की भांति कांपती रहती है, और जो अत्याचार करने में नामांकित रावणादिकों से भी वढ़कर हैं। इस पर भी दुर्भिक्ष, मारी, युद्ध इत्यादि की शृङ्खला बराबर लगी हुई है।

वस हो चुका, वहुत खटका है। और सुनिए, पृथ्वी पर पहाड़ सबसे ऊँचे हैं। कहनेवाले कह सकते हैं कि पहाड़ों को क्या खटका है, परन्तु तनिक भूगोल, हस्तामलक और पहाड़ों के वर्णन तो पढ़िए, न हो तो किसी वद्रीनाथ के यात्री से पूछ लीजिए, वह आपको अच्छी तरह वतला देगा कि पहाड़ों पर कैसे-कैसे खटके हैं और पहाड़ों को कैसे-कैसे खटके हैं। अनेक पहाड़ों को ज्वाला भीतर ही भीतर जैसे दुःखित जनों को चिन्ता भस्म किए डालती है। फिर आजकल तो उन्हें यही चिन्ता विशेष करके रहती है कि कहीं हमारे ऊपर होकर रेल की सड़क न निकले। कहीं हमारे ऊँचे ऊँचे शृङ्ग न तोड़े जायँ और कहीं क्रौंच पर्वत सा हमारे हृदय में रन्ध्र न किया जाय। इन पर्वतों से निकली नदियां भी कव खटके से खाली हैं? अनावृष्टि देखकर इनका शरीर प्रतिदिन कृश रहा आता है, सिवाय इसके अव तो इन्हें नहर काटने की वड़ी शंका रहती है। नेक भी कहीं पैमाइश होती है, तो इनके पसीना आ जाता है। नेक भी कहीं रेल की कमिटी होती है, तो इन्हें अपनी अनिष्ट शंका पहिले हो जाती है कि कहीं हमारे

हृदय में सूल से गोले न गरकाए जायें, और बांध इत्यादि से हमारी स्वाधीनता में बाधा न हो।

पाठक महाशय ! फिर कहीं यह मत समझना कि नदियों में पुल बेखटके रहे आते हैं। नदियें इनके निर्मूल करने में प्रत्येक वर्ष ही चेष्टा किया करती हैं और थोड़ा बहुत तोड़-ताड़कर पानी पीती हैं। कभी-कभी तो ऐसी लग्न आ जाती है कि रेल की रेल निमग्न और पुल का पुल मग्न हो जाता है, जिससे यात्रियों के समूह के समूह रूह से हाथ धो बैठते हैं। आजकल के लोग रेलगाड़ी को बेखटका सवारी समझते हैं, पर हमारी बुद्धि में इससे भारी और कोई हत्यारी सवारी नहीं। और सवारियों में तादृश दुर्घटना नहीं होतीं, जैसे इसमें होती हैं। मृत्यु तो इसके चारों ओर हाथ बांधे खड़ी रहती है। चढ़ते-उतरते में गिरने का, टिकट लेने में, भीड़भाड़ में बसनी या जेब के कटने का, बोझा ले जाने में सिपाहियों की झिड़की का, और सवार होने पर भोजन, पान, मूत्र, पुरीष, वेग उठ जाने इत्यादि का खटका लगा ही रहता है। हमारे परम मित्र श्रद्धास्पद बाबू हरिश्चन्द्रजी का वाक्य याद कीजिए—

रगड़ी जात डील सों डील।
धक्का देत होय निरसील।
टिकट मिलै नहिं बिना वसील।
चढ़ै रेल पर होय जलील॥

विशेषतः जब शराबी ड्राइवर और टेलीग्राफ के कुंभकर्ण कर्मचारियों के दोष से ट्रेन लड़ जाती है, तब तो फिर यात्रियों को एक खटका क्या तन, मन, धन के साथ अपने अमूल्य प्राण पर्यन्त रेलवे कंपनी के न्यौछावर कर देने पड़ते हैं। रेल के अन्यान्य खटकों की कथा कहना व्यर्थ है; सबको स्वतः विदित होगी।

उत्तमोत्तम और शीघ्रगामी सवारी में तो इतने खटके हैं, फिर बग्गी, इक्के, गाड़ी, घोड़ा, नौका, इन सबकी चरचा ही व्यर्थ है। इनमें तो पद-पद में विपद है। आप लोग तनिक ही ध्यान दें, तो सब अनुभव कर सकते हैं।

हमने अच्छी तरह सुना और देखा है कि इन घोड़ों के बग्गियों से बहुधा शौकीन लोगों को खटका पहुँचा है। मुसलमान शिरोमणि नव्वाब निजाम का उस दिन इसी बग्गी से अरिष्ट कट गया। हमारे भावी सम्राट् प्रिंस आफ वेल्स भी जब भारतवर्ष में आये थे, तो एक दिन किसी स्थान में बग्गी से गिरते-गिरते बच गए। और इतर लोगों में से जो अनेकों के बग्गियों के प्रसाद से प्राण जाते हैं, वा हाथ, पैर, दांत, सिर इत्यादि टूट जाते हैं और महीनों तक हस्पताल का सेवन करना पड़ता है, किम्वा इस दोष से मजिस्ट्रेट व सेशन सपुर्द

होकर दंड पाते हैं, उनकी संख्या तो असाध्य ही है। नगर-नगर में इस प्रकार के अनेक विषय उपस्थित रहते हैं। और भी वर्गों के टैक्स, टूटना-फूटना इत्यादि कितने ही खटके हैं, जिनसे लोगों के रोजगार नित्य प्रति टटके बने रहते हैं। इससे उतरकर इक्के की सवारी है, जिसमें सारे रस्ते हम लोग उछलते-कूदते चलते हैं और नेक भी कहीं ऊँचे-नीचे में पहुँचे कि बस, कला खा गए। इसी प्रकार गाड़ी है, जो बलहीन की नाड़ी की तरह धीरे-धीरे चलती है और जिसे झाड़ी-जंगल में पूरा खटका है, और विशेषतः खटखट ध्वनि का पूरा खटका अटका ही रहता है। ऐसे ही इसका जोड़ा घोड़ा है, यद्यपि कोड़ा मारने से वह थोड़ा बहुत चलता है, पर जहाँ कहीं रोड़ा, पत्थर, भाटा इत्यादि होते हैं, वहाँ उससे नहीं दौड़ा जाता। होड़ाहोड़ में तो इससे बड़े ही उपद्रव होते हैं। आगे जब अश्वमेध के लिए यह छोड़ा जाता था, तब तो अनेक तुमुल संग्राम होते थे। फिर क्या नौका में कुछ खटके का मौका नहीं है? इस पर तो जब कभी तूफान का झोंका आता है, देश के देश को शोकाक्रान्त कर देता है। इसको जब मल्लाह लोग खेते हैं और गन्धवाहजी ऊपर से जोर देते हैं, एक दम भर में वरुण महाशय अपनी करुण दृष्टि से शरण में ले लेते हैं।

'गंगाजी को पैरनो विप्रन को व्यवहार।
पार गए तो पार हैं, डूब गए तो पार॥'

अंगरेजी उपन्यास और इतिहासों में नौका के भूरि-भूरि दृष्टांत मिलेंगे, जो खटके की महिमा को मुक्त कंठ से विस्तार कर रहे हैं। यह सब नौका जिन वृक्षों के काठ से बनी है, वह वृक्ष कब बेखटके हैं? नेक अंकुर दब गया, मानो नव गया। यत्र-तत्र पत्र निकले कि किसी पशु ने चर लिया, बस काल ने उसे अपना कर लिया। फिर पत्ते निकले, फिर किसी ने हत्ते मारे। फूल लगाना तो परमेश्वर की बड़ी ही भूल है। वह सुन्दर-सुन्दर फूल एक-दो दिन रहकर ही धूल में मिल जाते हैं। अलग तोड़ लीजिए, तो पहर दो पहर में ही कुंभलाय जाते हैं। अवश्य जिनसे फलों का उद्गम है, वह फूल काम के हैं, पर फल कब अविकल, निर्मल, सरलता से रह सकते हैं? आंधी, मेह, शीत, उष्ण सबमें ढल जाते हैं। इनके अचल रखने की कौन प्रतिज्ञा करता है? कभी-कभी जब इनका कोई ग्राहक नहीं होता, तो व्यर्थ गल जाते हैं। निदान मूल, फूल, फल, दल, सब खटके से अटके हुए हैं, लोग इनमें व्यर्थ ही भटके हैं। और कुछ नहीं तो पंछी ही अच्छी तरह खबर लेते हैं। तो पंछी क्या बेखटके हैं? शिव! शिव! बाज की घात बराबर लग रही है। यदि व्याध भाग्यवश न मिला, तो फिर

और बहुत से आखेट रसिक विद्यमान हैं। नहीं 'जीवो जीवस्य जीवनम्'। और भी अनेक आपत्तियाँ हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती।

पशु सम्प्रदाय का भी यही हाल है। बैल को गाड़ी में सैल करनी पड़ती है। गाय को दुष्ट ग्वाला और कसाई वा कमसरियट के प्रबंधकर्ताओं से बचना कठिन हो गया है। जब तक अँगरेजी राज्य न था, इतनी गोहत्या नहीं होती थी; पर जब से कमसरियट में गोमांस का व्यवहार होने लगा है, क्रम से गोवंश ध्वंस होता जाता है। न मालूम कितने हजार गायों का प्रतिदिन वध होता है। न मालूम कितने मन गोमांस का प्रतिदिन म्लेच्छों की जठराग्नि में होम होता है। हे हिन्दुओ! यदि कुछ भी क्षमता और धर्मनिष्ठता रखते हो, तो इसका प्रतिकार करो। क्या उद्योग को कुछ असाध्य है! यदि समुचित उद्योग किया जाय, तो राजा प्रजा दोनों की ओर से इसका बंदोबस्त हो सकता है। फिर अजा पुत्रों के खटके को देखिए, जिसके लिए यहाँ के लोगों ने नीति बना रखी है कि 'अजा पुत्रं बलिदद्यात्‌दैवो दुर्बलघातकः'। बंगाल में तो देवीपूजा के मिष से वर्ष भर के बकरे खप जाते हैं। आगे के लोगों ने कहीं बकरों की वृद्धि को अहितकर जान उनके मारने के लिए ही तो दुर्गापूजा नहीं रची? भेड़ों को बाल काटने का बड़ा खटका, और विशेषतः भेड़िया और भेड़ियाधसान का! मृगों को अपने मांस का, क्योंकि 'मांसं मृगाणाम्'। हस्ती को अंकुश का खटका विद्यमान है, विशेषतः 'दन्ताः गजानाम्'।

'फिरे भागता मोर से फीलमस्त
जबर्दस्त जालिम पै है जेर दस्त।'

सिंह? उनको क्या आनंद है? अपने ही आलस्य में मस्त। आखेट कुशल लोग इन्हें भी वन में जा दबाते हैं। ऐसी ही और पशुओं की कहानी है। जलचरों में मत्स्यों को क्या सुख है? बंगालियों की तो प्रधान खाद्य द्रव्य है। यथा—

'केचिद्वदन्त्य मृतमस्ति पुरे सुराणाम्।
केचिद्वदन्ति वनिताधर पल्लवेषु।
ब्रूमो वयं सकल शास्त्र विचार दक्षाः।
जम्बीर नीर परिपूरित मत्स्य खण्डे।'

जल से भिन्न होते ही मर जाते हैं। मकरादिकों को भी जलह्रास-जनित खटका रहा ही आता है। कभी-कभी गोली का भी डर लगा रहता है।

निदान जलचर, स्थलचर, स्थावर, जंगम सबका थोड़ा-बहुत खटका वर्णन हो चुका। अब जो मनुष्य अपने को बेखटका रहना ही पुरुषार्थ समझता है, उनके खटके दर्शन करने चाहिएँ। हमारी बुद्धि में तो इसकी कोई अवस्था,

कोई कार्य, कोई घड़ी, कोई पल खटके से खाली नहीं। जब यह गर्भ में आता है, अपने स्राव अथवा पतन* का खटका बना ही रहता है। माता जब तीक्ष्ण और उष्ण वस्तु खाती है, बराबर इसे खटका पहुँचता है। इसी प्रकार जब कभी ऊँचे-नीचे में पाँव पड़ जाता है, अवश्य इसे कष्ट होता है। जन्म समय की यातना (प्राधान्यतः भारतवर्ष में) किसे अविदित है? मूर्ख स्त्रियों के हाथ में पड़कर क्या-क्या दुःख नहीं भोगता? कितने ही कष्ट पाकर दो-चार वर्ष अतिक्रम करता है। फिर बालकों के साथ खेल में खटके। कोई हारता है, कोई जीतता है और बड़े हुए तो स्कूल का खटका, दर्जा चढ़ने का खटका और नम्बर पाने का खटका बँधा ही हुआ है। और बड़े हुए तो नेत्रों का खटका; जहाँ लगे तहाँ लगे :

आया इश्क लपेट में लागी चश्म चपेट।
वो ही आया खलक में और भरैया पेट॥ (इश्क चमन)

यह भी ऐसी बुरी बला है कि बिना लगे रहती ही नहीं। शतक में नब्बे इस रोग के रोगी होंगे, और बढ़े तो फिर एण्ट्रेन्स में पास होने का समय आया। दे किताब पर किताब, और हिसाब पर हिसाब। निदान जैसे-तैसे परीक्षा दी, तो अब पास होने का खटका। कितने दिनों तक सर्टीफिकेट की प्रतीक्षा की। जैसे-तैसे पास हुए, तो जीविका की चिन्ता हुई, और उधर बहू का मुखकमल देखा। उम्मेदवारी में ही कई महीने व्यतीत हो गए। कदाचित् भाग्यवश कोई स्थान मिल गया, तो उसका फिर खटका हुआ। विदेश में नौकर हुए, तो घरवालों का खटका, और घर पर हुए तो जाने-आने और प्रतिष्ठा पद्धति का खटका। यह सब भी हुआ, तो बदली का खटका। बदली भी न हुई, तो हाकिम से दुष्टों की शिकायत का खटका कहाँ जाता है? विशेषतः अपने आफिसर का खटका तो कभी नहीं मिटता। आजकल खफीफ की खबरें ही बड़ा भारी खटका है। जब कुछ दिन नौकरी कर ली, तो पिनसन का खटका। अब दस बरस रहे, अब पाँच बरस रहे, अब केवल छः महीने ही रह गए। अंततोगत्वा आधे अथवा तिहाई पर पिनसन हुई। 'ऐसे बूढ़े बैल को कौन बाँध भुस देय', पर सरकार का बड़ा घर है। ऐसे लोगों का भी पालन हुआ चला जाता। निदान पिनसन मिली, तो अब घर में बैठे-बैठे जी नहीं लगता। आसपास की रियासत टटोली। 'तेली के बैल को घूमने से काम।' वहाँ थोड़े-बहुत मासिक पर अपनी अपार तृष्णा का परिचय और सरकारी भक्ति का निदर्शन दिया। इधर लड़के बड़े हुए, उनकी नौकरी का खटका उठाया। बंगले-बंगले और घर-घर 'फ़िदवी', 'खाकसार'

---

*आचतुर्थाद्भवेच्छ्रावः पातः पंचम षष्ठयोरिति स्मृतिः।

करते फिरे। प्रारब्ध और वसीला अच्छा हुआ, तो उन्हें भी पद मिल गया, नहीं तो उनका भी बासी भात में साझा, थोड़े ही काल में मृत्यु का पहरा आन पहुँचा। कान तान नहीं सुन सकते, जवान हकलाने लगी। पान खाया नहीं जाता, दाँत मात होते चले। हाथ ने साथ जोड़ दिया। थोड़े दिनों में वह भी करामात निकल गई, आप साक्षात मृतक हो गए। तब भी खटके से न बचे। धर्माधर्म साथ चले, यमराज ने आड़े हाथ लिया। नरक भोगकर फिर जन्मे। फिर मरे। फिर वही खटका, और वही खटका।

सुविज्ञ पाठक महाशय ! आपने देखा कि संसार में अनेक वस्तु खटके से खाली नहीं, बस इतना ही यथेष्ट है। भात का चावल ही देखा जाता है, और बुद्धिमान को निर्देश मात्र यथेष्ट है। प्रस्ताव बढ़ने और लोगों के बुरा मानने के भय से जो कुछ नहीं लिखा गया, आप उसे अपनी बुद्धि से समझ लीजिए। महाशय ! संसार की वस्तु मात्र में ही खटका है, इससे उस यमुना तट का और नागर तट का ध्यान सर्वदा करना चाहिए।

खटकामादिक का लगा
खटका जिसके संग।
अटका या संसार में
भटका फिरत कुरंग॥

महावीरप्रसाद द्विवेदी
[सन् १८६४—१९३८]

कालिदास के 'मेघदूत' का रहस्य

कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का 'मेघदूत' एक ऐसे काव्य भवन के सदृश है, जिसमें पद्यरूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न, जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जल-वृष्टि का असर पड़ता है; आंधी-तूफ़ान से उसे हानि पहुँचती है; बिजली गिरने से वह नष्ट-भ्रष्ट भी हो सकती है। पर इस अलौकिक भवन पर इनमें से किसी का कुछ भी जोर नहीं चलता। न वह गिर सकती है, न घिस सकती है, न उसका कोई अंश टूट ही सकता है। काल पाकर और इमारतें जीर्ण होकर भूमिसात हो जाती हैं; पर यह अद्‌भुत भवन न कभी जीर्ण होगा और न कभी इसका ध्वंस ही होगा, प्रत्युत इसकी रमणीयता-वृद्धि ही की आशा है। इसे अजर भी कह सकते हैं और अमर भी।

अलकाधिपति कुवेर के कर्मचारी एक यक्ष ने कुछ अपराध किया। कुवेर ने, एक वर्ष तक अपनी प्रियतमा पत्नी से दूर जाकर रहने का उसे दण्ड दिया। यक्ष ने इस दण्ड को चुपचाप स्वीकार कर लिया। अलका छोड़कर वह मध्य-प्रदेश के रामगिरि नामक पर्वत पर आया। वहीं उसने एक वर्ष विताने का निश्चय किया। आषाढ़ का महीना आने पर बादल आकाश में छा गए। उन्हें देखकर यक्ष का पत्नी-वियोग-दुःख दूना हो गया। वह अपने को भूल-सा गया। इसी दशा में उस विरही यक्ष ने मेघ को दूत कल्पना करके, अपनी वार्ता अपनी पत्नी के पास पहुँचानी चाही। पहले कुछ थोड़ी-सी भूमिका बाँधकर उसने मेघ को अलका जाने का मार्ग बताया, फिर संदेशा कहा। कालिदास ने 'मेघदूत' में इन्हीं बातों का वर्णन किया है।

'मेघदूत' की कविता सर्वोत्तम कविता का एक बहुत ही अच्छा नमूना है। उसे वही अच्छी तरह समझ सकता है, जो स्वयं कवि है। कविता करने ही से कवि-पदवी नहीं मिलती। कवि के हृदय को—कवि के काव्य-मर्म्म को—जो

जान सकते हैं, वे भी एक प्रकार से कवि हैं। किसी के काव्य के आकलन करने-वाले का हृदय यदि कहीं कवि ही के हृदय-सदृश हुआ तो फिर क्या कहना है। इस दशा में आकलनकर्ता को वही आनन्द मिलेगा, जो कवि को उस कविता के निर्म्माण करने से मिला होगा। जिस कविता से जितना ही अधिक आनन्द मिले, उसे उतना ही अधिक ऊँचे दरजे की समझना चाहिए। इसी तरह, जिस कवि या समालोचक को किसी काव्य के पाठ या रसास्वादन से जितना ही अधिक आनन्द मिले, उसे उतना ही अधिक कविता का मर्म्म जाननेवाला समझना चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखकर, आइए, देखें, कालिदास ने इस काव्य में क्या-क्या करामातें दिखाई हैं। पर इससे कहीं यह न समझ लीजिएगा कि हम कवि या समालोचक होने का दावा करते हैं। हम तो ऐसे महानुभावों के चरणों की रज भी नहीं, तथापि—

नमः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणः।

इस कविता का विषय—यहाँ तक कि इसका नाम भी—कालिदास के परवर्ती कवियों को इतना पसन्द आया है कि इसकी छाया पर हंसदूत, पदाङ्कदूत, पवनदूत और कोकिलदूत आदि कितने ही दूत-काव्य बन गए हैं। यह काव्य की लोकप्रियता का प्रमाण है।

कालिदास को इस काव्य के निर्म्माण करने का बीज कहाँ से मिला? इसका उत्तर "इत्याख्याते पवनतनय मैथिलीवोन्मुखी सा"—इत्यादि इसी काव्य में है।

"इतनो कहत तोहिं मम प्यारी।
जिमि हनुमत को जनकदुलारी॥
सीस उठाय निरखि घन लैहै।
प्रफुलित-चित ह्वै आदर दैहै॥"

यक्ष की तरह रामचन्द्र को भी वियोग-व्यथा सहनी पड़ी थी। उन्होंने पवनसुत हनूमान् को अपना दूत बनाया था। यक्ष ने मेघ को दूत बनाया। मेघ का साथी पवन है, हनूमान् की उत्पत्ति पवन से है। अतएव दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध भी हुआ। यह सम्बन्ध काक-तालीय-सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु मैथिली के पास रामचन्द्र का सँदेशा भेजना वैसा सम्बन्ध नहीं। बहुत सम्भव है, कालिदास को इसी सन्देश-स्मृति ने प्रेरित करके उनसे इस काव्य की रचना कराई हो; बहुत सम्भव है, यह मेघ-सन्देश कालिदास ही का आत्म-सन्देश हो।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर है। वे धाराधिप विक्रम के सभा-रत्न थे। यदि यह बात सत्य हो, तो काश्मीर से

धारा के मार्ग में जो नदियाँ, नगर, पर्वत और देश आदि पड़ते हैं, उनसे कालिदास का बहुत अच्छा परिचय रहा होगा। धारा और काश्मीर के आसपास के प्रदेश, नगर और पर्वत आदि भी उन्होंने अवश्य देखे होंगे। मेघ को बतलाए गए मार्ग में विशेष करके इन्हीं का वर्णन है और यह वर्णन बहुत ही मनोहर और प्रायः यथार्थ है। अतएव कोई आश्चर्य नहीं, जो काश्मीर ही कालिदास की जन्मभूमि हो और जिन वस्तुओं और स्थलों का उन्होंने इस काव्य में वर्णन किया है, उनको उन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो।

कवियों की यह सम्मति है कि विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करने से वर्ण्य विषय में सजीवता-सी आ जाती है। वह विशेष खुलता है। उसकी सरलता और सहृदयों को आनन्दित करने की शक्ति बढ़ जाती है। इस काव्य में शृङ्गार और करुण रस के मिश्रण की अधिकता है। यक्ष का सन्देश कारुणिक उक्तियों से भरा हुआ है। जो मनुष्य कारुणिक आलाप करता है, या जो प्रेमोद्रेक के कारण अपने प्रेम-पात्र से मीठी बातें करता है, वह न तो साँप के सदृश टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलता है, न रथ के सदृश दौड़ता ही है। अतएव उसकी बातें भुजङ्गप्रयात या रथोद्धता, या और ऐसे ही किसी वृत्त में अच्छी नहीं लगतीं। वह तो ठहर-ठहरकर, कभी धीमे और कभी कुछ ऊँचे स्वर में, अपने मन के भाव प्रकट करता है। यह जानकर कालिदास ने मन्दाक्रान्ता वृत्त का उपयोग इस काव्य में किया है। और, वही जानकर उनकी देखादेखी, औरों ने भी दूत-काव्यों में, इसी वृत्त से काम लिया है।

कवि यदि अपने मन का भाव ऐसे शब्दों में कहे, जिनका मतलब सुनने के साथ ही, सुननेवाले की समझ में आ जाय, तो ऐसा काव्य प्रसाद-गुण से पूर्ण कहा जाता है। जिस तरह पके हुए अंगूर का रस बाहर से झलकता है, उसी तरह प्रसाद-गुण-परिप्लुत कविता का भावार्थ शब्दों के भीतर से झलकता है। उसके हृदयङ्गम होने में देर नहीं लगती। अतएव जिस काव्य में करुणार्द्र सन्देश और प्रेमातिशय द्योतक बातें हों, उसमें प्रसाद-गुण की कितनी आवश्यकता है, यह सहृदय जनों को बताना न पड़ेगा। प्यार की बात यदि कहते ही समझ में न आ गई—कारुणिक सन्देश यदि कानों की राह से तत्काल ही हृदय में न घुस गया—तो उसे एक प्रकार निष्फल ही समझिए। प्रेमालाप के समय कोई कोश लेकर नहीं बैठता। करुणा-क्रन्दन करनेवाले अपनी युक्तियों में ध्वनि, व्यङ्ग और क्लिष्टता नहीं लाने बैठते। वे तो सीधी तरह, सरल शब्दों में अपने जी की बात कहते हैं। यही समझकर महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' को प्रसाद-गुण से ओत-प्रोत भर दिया है। यही सोचकर उन्होंने इस काव्य की रचना

वैदर्भी रीति में की है—चुन-चुनकर सरल और कोमल शब्द रक्खे हैं; लम्बे-लम्बे समासों को पास तक नहीं फटकने दिया।

देवताओं, दानवों और मानवों को छोड़कर कवि-कुल-गुरु ने इस काव्य में एक यक्ष को नायक बनाया है। इसका कारण है। यक्षों के राजा कुबेर हैं। वे धनाधिप हैं। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ उनकी दासियाँ हैं। सांसारिक सुख, धन की बदौलत प्राप्त होते हैं। जिनके पास धन नहीं, वे इन्द्रियजन्य सुखों का यथेष्ट अनुभव नहीं कर सकते। कुबेर के अनुचर, कर्मचारी और पदाधिकारी सब यक्ष ही हैं। अतएव कुबेर के ऐश्वर्य का थोड़ा-बहुत भाग उन्हें भी अवश्य ही प्राप्त होता है। इससे जिस यक्ष का वर्णन 'मेघदूत' में है, उसके ऐश्वर्यवान् वैभव-सम्पन्न होने में कुछ भी सन्देह नहीं। उसके घर और उसकी पत्नी आदि के वर्णन से यह बात अच्छी तरह साबित होती है। निर्धन होने पर भी प्रेमीजनों में पति-पत्नी सम्बन्धी प्रेम की मात्रा कम नहीं होती। फिर जो जन्म ही से धन-सम्पन्न है—जिसने लड़कपन ही से नाना प्रकार के सुख-भोग किए हैं—उसे पत्नी-वियोग होने से कितना दुःख, कितनी हृदय-व्यथा, कितना शोक-सन्ताप हो सकता है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं। ऐसा प्रेमी यदि दो-चार दिन के लिए नहीं, किन्तु पूरे साल भर के लिए, अपनी प्रेयसी से सैकड़ों कोस दूर फेंक दिया जाय, तो उसकी विरह-व्याकुलता की मात्रा बहुत ही बढ़ जायगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐसे प्रेमी का वियोग-ताप वर्षा में और भी अधिक भीषणता धारण करता है। उस समय वह उसे प्रायः पागल बना देता है। उसी समय इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि इस प्रेमी का प्रेम कैसा है और वह अपनी प्रेयसी को कितना चाहता है। कालिदास ने इस काव्य में आदर्श प्रेम का चित्र खींचा है। उस चित्र को सविशेष हृदयहारी और यथार्थता-व्यञ्जक करने के लिए यक्ष को नायक बनाकर कालिदास ने अपने कवि-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है। अतएव आप यह न समझिए कि कवि ने यों ही, बिना किसी कारण के, विप्रयोग-शृङ्गार वर्णन करने के लिए यक्ष का आश्रय लिया है।

विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिए ही जिस प्रेम की उत्पत्ति होती है, वह नीच प्रेम है। वह निन्द्य और दूषित समझा जाता है। निर्व्याज प्रेम अवान्तर बातों की कुछ भी परवा नहीं करता। प्रेम-पथ से प्रयाण करते समय आई हुई बाधाओं को वह कुछ नहीं समझता। विघ्नों को देखकर वह मुसकरा देता है, क्योंकि इस सबको उसके सामने हार माननी पड़ती है। 'मेघदूत' का प्रेमी निर्व्याज प्रेमी है। उसका हृदय बड़ा ही उदार है; उसमें प्रेम की मात्रा इतनी अधिक

है कि ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि विकारों के लिए जगह ही नहीं। यक्ष को उसके स्वामी कुवेर ने देश से निकाल दिया। परन्तु उसने इस कारण, अपने स्वामी पर ज़रा भी क्रोध प्रकट नहीं किया। उसको एक भी बुरे और कड़े शब्द से याद नहीं किया। उसकी सारी विप्रयोग पीड़ा का कारण कुवेर था, पर उसकी निन्दा का उसे ख़याल तक नहीं हुआ। फिर, देखिए, उसने अपनी मूर्खता पर भी आक्रोश-विक्रोश नहीं किया। यदि वह अपने काम में असावधानता न करता, तो क्यों वह अपनी पत्नी से वियुक्त कर दिया जाता? अपने सारे दुःख-शोक का आदि-कारण वह खुद ही था। परन्तु इसका भी उसे कुछ खयाल नहीं। उसने अपने को भी नहीं धिक्कारा। वह धिक्कारता कैसे? उसके हृदय में इस प्रकार के भावों के लिए जगह ही न थी। उसका हृदय तो अपनी प्रेयसी के निर्व्याज प्रेम से ऊपर तक लबालब भरा हुआ था। वहाँ पर दूसरे विकार रह कैसे सकते थे?

जो ऐसे सच्चे प्रेम-मद से मत्त हो रहा है, जिसकी सारी इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों से खिंचकर एकमात्र प्रेम-रस में सर्वतोभाव से डूब रही हैं, जिसके प्रेम-परिपूर्ण हृदय में और कोई सांसारिक भावनाएँ या वासनाएँ आने का साहस तक नहीं कर सकतीं, वह यदि अचेतन मेघ को दूत बनावे और उसके द्वारा अपनी प्रेयसी के पास अपना सन्देश भेजे, तो आश्चर्य ही क्या? जो मत्त है और जो संसार की प्रत्येक वस्तु में अपने प्रेमपात्र को देख रहा है, उसे यदि जड़-चेतन का भेद मालूम रहे, तो फिर उसके प्रेम की उच्चता कैसे स्थिर रह सकती है? वह प्रेम ही क्या, जो इस तरह के भेदभाव को दूर न कर दे। कीट-योनि में उत्पन्न पतंगों के लिए दीप-शिखा की ज्वाला अपने प्राकृतिक दाहक गुण से रहित मालूम होती है। महाप्रेमी यक्ष को यदि मेघ की अचेतना का खयाल न रहे, तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। फिर, क्या यक्ष यह न जानता था कि मेघ क्या चीज़ है? वह 'मेघदूत' के आरम्भ ही में कहता है—

"धाम धूम नीर और समीर मिलि पाई देह
ऐसो घन कैसे दूत-काज भुगतावेगो।
नेह को सँदेशो हाथ चातुर पठैबो जोग
बादर कहो जी ताहि कैसे कै सुनावेगो॥
बाढ़ी उत्कण्ठा जक्ष बुद्धि बिसरानी सब
वाही सों निहोरयो जानि काज कर आवेगो।
कामातुर होत हैं सदाई मतिहीन तिन्हें
चेत और अचेत माँहि भेद कहाँ पावेगो।"

उस समय यक्ष को केवल अपनी प्रेयसी का खयाल था। वही उसके तन और मन में बसी हुई थी। अन्य सांसारिक ज्ञान उसके चित्त से एकदम तिरोहित हो गया था। वह एक प्रकार की समाधि में निमग्न था। इस समाधिस्थ अवस्था में यदि उसने निर्जीव मेघ को दूत कल्पना किया, तो ऐसी बात नहीं जो समझ में न आ सके। कवि का काम वैज्ञानिक के काम से भिन्न है। वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ को उसके यथार्थ रूप में देखता है। परन्तु यदि कवि ऐसा करे तो उसकी कविता का सौन्दर्य, प्रायः सारा, विनष्ट हो जाय। कवि को आविष्कर्ता या कल्पक न समझना चाहिए। उसकी सृष्टि ही दूसरी है। वह निर्जीव को सजीव और सजीव को निर्जीव कर सकता है। अतएव मध्यभारत से हिमालय की तरफ जानेवाले पवन-प्रेरित मेघ को सन्देश-वाहक बनाना ज़रा भी अनौचित्य-दर्शक नहीं। फिर एक बात और भी है। कवि का यह आशय नहीं कि मेघ सचमुच ही यक्ष का सन्देश ले जाय। उसने इस बहाने विप्रयुक्त यक्ष की अवस्था का वर्णन मात्र किया है और उसके द्वारा यह दिखाया है कि इस तरह के सच्चे वियोगी प्रेमियों के हृदय की क्या दशा होती है; उन्हें कैसी-कैसी बातें सूझती हैं, और उन्हें अपने प्रेमपात्र तक अपना कुशल वृत्त पहुँचाने की कितनी उत्कण्ठा होती है।

यक्ष को अपने मरने-जीने का कुछ खयाल न था। खयाल उसे था केवल अपनी प्रियतमा के जीवन का। 'दयिताजीवितालम्बनार्थम्'—ही उसने सन्देश भेजा था। उसकी दयिता का जीवन उसके जीवन पर अवलम्बित था। उसके मरने अथवा जीवित होने में सन्देह उत्पन्न होने से उसकी दयिता जीती न रह सकती थी। अतएव यक्ष का सन्देश उसकी यक्षिणी को जीती रखने की रामबाण औषधि थी। यह औषधि वह जिसके द्वारा पहुँचाना चाहता था, उसके सुख-दुःख का भी उसे बहुत खयाल था। इसी से उसने मेघ के लिए ऐसा मार्ग बतलाया, जिससे जाने में ज़रा भी कष्ट न हो। उसके मार्ग-श्रम का परिहार होता रहे, अच्छे-अच्छे दृश्य भी उसे देखने को मिलें और देवताओं और तीर्थों के दर्शन भी हों। ऐसा न होने से मेघ भी क्यों उसका सन्देश पहुँचाने को राज़ी होता? फिर, एक बात और भी है। विरह-कातर यक्ष का सन्देश उसकी प्रियतमा तक पहुँचाकर उसे जीवन-दान देना कुछ कम पुण्य का काम नहीं। संसार में परोपकार की बड़ी महिमा है। उसे करने का मौका भी मेघ को मिल रहा है। फिर भला क्यों न वह यक्ष का सन्देश ले जाने के लिए राज़ी होता। रामगिरि से अलका तक जाने में विदिशा, उज्जयिनी, अवन्ती, कनखल, रेवा, सिप्रा, भागीरथी, कैलास आदि नगरों, नदियों और पर्वतों के रमणीय दृश्यों का वर्णन

कालिदास ने किया है। उन्हें देखने की किसे उत्कण्ठा न होगी ? कौन ऐसा हृदयहीन होगा, जो उज्जयिनी में महाकाल और कैलास में शंकर-पार्वती के दर्शनों से अपनी आत्मा को पावन करने की इच्छा न रक्खे ? कौन ऐसा आत्म-शत्रु होगा, जो जंगल में लगी हुई आग को जल की धारा से शान्त करके चमरी आदि पशुओं को जल जाने से बचाने का पुण्य-संचय करना न चाहे ? मार्ग रमणीय, देवताओं और तीर्थों के दर्शन, परोपकार करने के साधन—ये सब ऐसी बातें हैं, जिनके लिए मूढ़ मनुष्य भी थोड़ा-बहुत कष्ट खुशी से उठा सकता है। मेघ की आत्मा तो आर्द्र होती है; सन्तप्तों को सुखी करना उसका विरुद है। अतएव वह यक्ष का सन्देश प्रसन्नतापूर्वक पहुँचाने को तैयार हो जायगा, इसमें सन्देह ही क्या है।

अपनी प्रियतमा को जीवित रखने में सहायता देनेवाले मेघ के लिए यक्ष ने जो ऐसा श्रमहारक और सुखद मार्ग बतलाया है, वह उसके हृदय के औदार्य्य का दर्शक है। कालिदास ने इस विषय में जो कवि-कौशल दिखाया है, उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। यदि मेघ का मार्ग सुखकर न होता—और, याद रखिए, उसे बहुत दूर जाना था—तो कौन आश्चर्य, जो वह अपने गन्तव्य स्थान तक न पहुँचता। और, इस दशा में, यक्षिणी की क्या गति होती, इसका अनुमान पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। इसी दुःखद दुर्घटना को टालने के लिए ऐसे अच्छे मार्ग की कल्पना कवि ने की है।

आप कहेंगे, यह निर्व्याज प्रेम कैसा कि यक्ष ने, सन्देश में, अपनी वियोगिनी पत्नी का कुशल-समाचार तो पीछे पूछा, पहले अपने ही को 'अव्यापन्नः' कहकर अपना कुशल-वृत्त बतलाने और अपनी ही वियोग-व्यथा वर्णन करने लगा। इससे तो यही सूचित होता है कि उसे अपने सुख-दुःख का अधिक खयाल था, यक्षिणी के सुख-दुःख का बहुत ही कम। नहीं, ऐसा न कहिए। यक्ष का यह काम उलटा आपके इस अनुमान का खण्डन करता है। आप इस बात को भूल गए हैं कि यक्षिणी का जीवन, यक्ष के जीवन पर ही अवलम्बित है। उसमें संशय उत्पन्न होने से वह जीवित नहीं रह सकती। 'मेघदूत' को पढ़कर यदि आपने इतना भी न जाना, तो कुछ न जाना। यक्षिणी के प्राणावलम्ब का हेतु यक्ष है। अतएव उसी के कुशल-समाचार सुनने से यक्षिणी अपना जीवन धारण करने में समर्थ हो सकती है। यक्ष को स्वार्थी न समझिए। वह अपनी दशा का वर्णन करके अपनी स्वार्थपरता नहीं प्रकट करता। वह अपनी दयिता के जीवन को नष्ट होने से बचाने की दवा कर रहा है। यक्ष के सन्देश की पहली पंक्ति है—

"भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे मामम्बुवाहम्" ।

आप देखिए, इसमें यक्ष ने 'भर्तुः' पद रखकर पूर्वोक्त आशय को कितनी स्पष्टता से प्रकट किया है। जान-बूझकर उसने सन्देश के आदि ही में पति-शब्द का वाचक भर्तृ-शब्द इसीलिए रक्खा है, जिसमें यक्षिणी को तत्काल इसका ज्ञान हो जाय कि मेरा पति जीवित है। वियोगिनी पतिव्रताओं के कान में यह शब्द जैसा अमृतवर्षा करता है, उसका अन्दाजा सभी सहृदय कर सकते हैं। कवि यदि चाहता तो 'भर्तुर्मित्र' की जगह 'मित्रं भर्तुः' कर सकता था। उससे भी छन्द की गति में व्याघात न आता। परन्तु नहीं, उसने यक्षिणी के कान में सबसे पहले 'भर्तुः' का सुनाना ही उचित समझा।

पूर्वोक्त पंक्ति में 'भर्तुः' का समकक्ष और अर्थ-विशेष से भरा हुआ 'अविधवे' पद भी है। सन्देश की पहली पंक्ति में इसके रखने का भी कारण है। यक्ष ने इसके द्वारा अपनी सहधर्मचारिणी को यह सूचित किया है कि तू विधवा नहीं हो गई—सौभाग्यवती बनी हुई है; तेरा स्वामी अब तक जीता है। इससे अधिक आनन्ददायक समाचार स्त्री—और पतिप्राणा स्त्री—के लिए और क्या हो सकता है? यक्ष का सन्देश उसकी पत्नी के लिए सचमुच ही 'श्रोत्रपेय' है।

स्त्रियाँ नहीं चाहतीं कि उनके पति के प्रेम का छोटे से छोटा अंश भी कोई और ले जाय। वे उसके सर्वांश पर अपना अधिकार समझती हैं। वियोगावस्था में उन्हें अपने इस अधिकार के छिन जाने का डर रहता है। यक्ष इस बात को अच्छी तरह जानता है। इसके परिणाम से भी वह अनभिज्ञ नहीं। यही कारण है, जो वह अपनी वियोग-कातरता का कारुणिक वर्णन कर रहा है। यही कारण है, जो वह छोटी-छोटी चीजों में भी अपनी पत्नी की सदृशता ढूंढ़ रहा है। यही कारण है, जो वह उत्तर-दिशा से आये हुए सुरभित पवन के स्पर्श को भी बहुत कुछ समझ रहा है। वह यह बतला रहा है कि दूर हो जाने से मेरे प्रेम में कमी नहीं हो गई; प्रत्युत वह पहले से भी अधिक प्रगाढ़ हो गया है। अतएव तू अपने मन में किसी प्रकार की अनुचित आशंका को स्थान न दे।

यक्ष के निःस्वार्थ और निर्व्याज प्रेम की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। वह अपने कुशल-समाचार भेजकर और अपनी विरह-व्याकुलता का वर्णन करके ही चुप नहीं रहा। उसे शङ्का हुई कि कहीं मेरी पत्नी इस सन्देश को बनावटी न समझे; प्रेमियों की दशा बड़ी ही विचित्र होती है; वे न कुछ को बहुत कुछ समझने लगते हैं और हवा में गाँठें लगाना भी वे खूब ही जानते हैं। यक्ष की अजीब अवस्था है। उसे डर है कि कहीं ऐसा न हो कि इतना आश्वासन देने पर भी यक्षिणी इन बातों पर पूर्ण विश्वास न करे। अतएव इस सन्देह

का भंजन करना भी उसने आवश्यक समझा। इसीलिए उसे सन्देश में यह कहना पड़ा—

'और कहूँ सुनि एक दिना हियरा लगि मेरे तू सोई रही
आवत नींद न वेर भई जगि औचक रोय उठी तवही।
पूछी जु मैं धन वारहिवार तो तें मुसकाइ के ऐसे कही
देखति ही सपने छलिया तुमने एक सौति की वाँह गही॥'

अब सन्देह करने का कोई कारण नहीं। यक्ष के जीवित होने का इससे अधिक विश्वसनीय प्रमाण और क्या हो सकता है?

'मेघदूत' के यक्ष का प्रेम पत्नी-सम्बन्धी है। वह ऊँचे दरजे का है। वह निःस्वार्थ है—निर्दोष है। यक्ष अपने और अपनी प्रेयसी के जीवन को अन्योन्याश्रित समझता है। यक्ष जिस तरह अपना सन्देश भेजकर पत्नी की प्राणरक्षा करना चाहता है, उसी तरह, बहुत सम्भव है, उसकी पत्नी भी वियुक्त होने के कारण पति की प्राण-धारणा के विषय में सशङ्क रही होगी। प्रेम से जीवन पवित्र हो सकता है, प्रेम से जीवन को अलौकिक सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है, प्रेम से जीवन सार्थक हो सकता है। मनुष्य-प्रेम से ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है—इसके कितने ही उदाहरण इस देश में पाए जाते हैं। गोपियों के प्रेम को आप लौकिक न समझिए। वह सर्वथा अलौकिक था। अन्यथा—**नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा। ध्यानेन यामि पदयोः पदवीं सखेते॥** उनके मुख से कभी न निकलता। अतएव प्रेम की महिमा अकथनीय है। जिसने उसे कुछ भी जाना है, वह कालिदास के 'मेघदूत' के रहस्य को भी जान सकेगा।

परन्तु, जो लोग उस रास्ते नहीं गये, उनके मनोरंजन और आनन्दोत्पादन की भी सामग्री 'मेघदूत' में है। उसमें आपको चित्रकूट के ऊपर बने हुए ऐसे कुञ्ज देखने को मिलेंगे, जिनमें वनचरों की स्त्रियाँ विहार किया करती हैं। पर्वतों के ऐसे दृश्य आप देखेंगे, जिन्हें वर्षा-ऋतु में केवल वही लोग देख सकते हैं, जो पर्वतवासी हैं या जो विशेष करके इसी निमित्त पर्वतों पर जाते हैं। दशार्ण की केतकी कभी आपने देखी है? विदिशा की वेत्रवती की लहरों का भ्रू-भङ्ग कभी आपने अवलोकन किया है? उस प्रान्त के उपवनों में चमेली की कलियों को चुननेवाली पुष्पावलियों से आपका कभी परिचय हुआ है? नहीं, तो आप 'मेघदूत' पढ़िए।

बालमुकुन्द गुप्त
[सन् १८६५—१९०७]

एक दुराशा

नारंगी के रस में जाफरानी वसन्ती बूटी छानकर शिवशम्भु शर्म्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ-पांवों को भी स्वाधीनता दे दी गई थी। वह खटिया के तूलअरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गए थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्म्माजी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनियां में।

अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा—

चलो चलो आज खेलें होली, कन्हैया घर।

कमरे से निकलकर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहां गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसन्त में सावन देखकर अक्ल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गानेवाले को मलार गाना चाहिए था, न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फाल्गुन सुदी है, वसन्त के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे? इसमें तो गानेवाले की नहीं, विधि की भूल है, जिसने वसन्त में सावन बना दिया है। कहां तो चांदनी छिटकी होती, निर्म्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती, कहां भादों की सी अंधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है! ओह! कैसा ऋतु-विपर्यय है!

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का विचार जी में आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो, आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन? ब्रज के राजकुमार। और खेलनेवाले कौन? उनकी प्रजा ग्वालबाल। इस विचार

ने शिवशम्भु शर्म्मा को और भी चौंका दिया कि एं, क्या भारत में ऐसा भी समय था, जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे ? अच्छा, यदि आज शिवशम्भु अपने मित्रवर्ग सहित, अबीर-गुलाल की झोलियाँ भरे, रंग की पिचकारियाँ लिये, अपने राजा के घर होली खेलने जाए, तो कहाँ जाए ? राजा दूर सात समुद्र पार है। राजा का केवल नाम सुना है। न राजा को शिवशम्भु ने देखा, न राजा ने शिवशम्भु को। खैर, राजा नहीं, उसने अपना प्रतिनिधि भारत में भेजा है। कृष्ण द्वारिका में ही हैं, पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर ब्रजवासियों को सन्तोष देने के लिए ब्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिवशम्भु होली नहीं खेल सकता ?

ओफ् ! यह विचार वैसा ही बेतुका है, जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी ! पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है ? वह तो समय समझकर ही गा रहा था। यदि वसन्त में वर्षा की झड़ी लगे, तो गानेवाले को क्या मलार गाना चाहिए ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट फटकने भी नहीं पाते ! राजा है, राजप्रतिनिधि है; पर प्रजा की उन तक रसाई नहीं ! सूर्य है, धूप नहीं ! चन्द्र है, चाँदनी नहीं ! माइ लार्ड ! नगर ही में हैं; पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चलकर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माइ लार्ड के घर तक प्रजा की बात नहीं पहुँच सकती। बात की हवा नहीं पहुँच सकती। जहाँगीर की भाँति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घण्टा नहीं लगाया, जिसकी जंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरियाद उसे सुना सके। न आगे को लगाने की आशा है। प्रजा की बोली वह नहीं समझता, उसकी बोली प्रजा नहीं समझती। प्रजा के मन का भाव वह न समझता है, न समझना चाहता है। उनके मन का भाव न प्रजा समझ सकती है, न समझने का कोई उपाय है। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नजर गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है, तो दिख जाता है। लोग उँगलियों के इशारे करते हैं कि वह है। किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है। लोग उसे जान सकते हैं। माइ लार्ड के मुख-चन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।

अच्छा, जिस प्रकार इस देश का निवासी माइ लार्ड का चन्द्रानन देखने को टकटकी लगाए रहता है या जैसे शिवशम्भु शर्म्मा के जी में अपने देश के माइ लार्ड से होली खेलने की आई, इस प्रकार कभी माइ लार्ड को भी इस देश के

लोगों की सुध आती होगी ? क्या कभी श्रीमान् का जी होता होगा कि अपनी प्रजा में, जिसके दण्डमुण्ड के विधाता होकर आए हैं, किसी एक आदमी से मिलकर उसके मन की बात पूछें या कुछ आमोद-प्रमोद की बातें करके उसके मन को टटोलें ? माइ लार्ड को ड्यूटी का ध्यान दिलाना सूर्य को दीपक दिखाना है। वह स्वयं श्रीमुख से कह चुके हैं कि ड्यूटी में बँधा हुआ मैं इस देश में फिर आया। यह देश मुझे बहुत ही प्यारा है। इससे ड्यूटी और प्यार की बात श्रीमान् के कथन से ही तय हो जाती है। उसमें किसी प्रकार की हुज्जत उठाने की जरूरत नहीं, तथापि यह प्रश्न आपसे आप जी में उठता है कि इस देश की प्रजा से प्रजा के माइ लार्ड का निकट होना और प्रजा के लोगों की बात जानना भी उस ड्यूटी की सीमा तक पहुँचा है या नहीं ? यदि पहुँचा है, तो क्या श्रीमान् बता सकते हैं कि अपने छः साल के लम्बे शासन में इस देश की प्रजा को क्या जाना और उससे क्या सम्बन्ध उत्पन्न किया ? जो पहरेदार सिर पर फेंटा बाँधे, हाथ में संगीनदार बंदूक लिये, काठ के पुतलों की भाँति गवर्नमेंट-हाउस के द्वार पर दण्डायमान रहते हैं या छाया का मूर्ति की भाँति जरा इधर-उधर हिलते-डुलते दिखाई देते हैं, कभी उनको भूले-भटके आपने पूछा है कि कैसी गुजरती है ? किसी काले प्यादे-चपरासी या खानसामा आदि से कभी आपने पूछा कि कैसे रहते हो ? तुम्हारे देश की क्या चाल-ढाल है ? तुम्हारे देश के लोग हमारे राज्य को कैसा समझते हैं ? क्या इन नीचे दरजे के नौकर-चाकरों को कभी माइ लार्ड के श्रीमुख से निकले हुए अमृत रूपी वचनों के सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ या खाली पेड़ों पर बैठी चिड़ियों का शब्द ही उनके कानों तक पहुँचकर रह गया ? क्या कभी सैर-तमाशे में टहलने के समय या किसी एकान्त स्थान में इस देश के किसी आदमी से कुछ बातें करने का अवसर मिला ? अथवा इस देश के प्रतिष्ठित बेगरज आदमी को अपने घर पर बुलाकर इस देश के लोगों के सच्चे विचार जानने की चेष्टा की ? अथवा कभी विदेश या रियासतों के दौरे में उन लोगों के सिवा, जो झुक-झुककर लम्बी सलामें करने आये हों, किसी सच्चे और बेपरवा आदमी से कुछ पूछने या कहने का कष्ट किया ? सुनते हैं कि कलकत्ते में श्रीमान् ने कोना-कोना देख डाला। भारत में क्या भीतर और क्या सीमाओं पर कोई जगह देखे बिना नहीं छोड़ी। बहुतों का ऐसा ही विचार था। पर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के परीक्षोत्तीर्ण छात्रों की सभा में चान्सलर का जामा पहनकर माइ लार्ड ने जो अभिज्ञता प्रगट की, उससे स्पष्ट हो गया कि जिन आँखों से श्रीमान् ने देखा, उनमें इस देश की बातें ठीक देखने की शक्ति न थी।

सारे भारत की बात जाय, इस कलकत्ते में ही देखने की इतनी बातें हैं कि केवल उनको भली भाँति देख लेने से भारतवर्ष की बहुत सी बातों का ज्ञान हो सकता है। माइ लार्ड से शासन के छः साल हालवेल के स्मारक में लाठ बनवाने, ब्लैक-होल का पता लगाने, अखतरलोनी की लाठ को मैदान से उठवाकर वहाँ विक्टोरिया-मेमोरियल हाल बनवाने, गवर्नमेण्ट हाउस के आसपास अच्छी रोशनी, अच्छे फुटपाथ और अच्छी सड़कों का प्रबन्ध कराने में बीत गए। दूसरा दौरा भी वैसे ही कामों में बीत रहा है। सम्भव है कि उसमें भी श्रीमान् के दिलपसन्द अँगरेजी मुहल्लों में कुछ और बड़ी-बड़ी सड़कें निकल जाएँ और गवर्नमेण्ट हाउस की तरफ के स्वर्ग की सीमा और बढ़ जावे। पर नगर जैसा अँधेरे में था, वैसा ही रहा; क्योंकि उसकी असली दशा देखने के लिए और ही प्रकार की आँखों की जरूरत है। जब तक वह आँखें न होंगी, यह अन्धेर यों ही चला जावेगा। यदि किसी दिन शिवशम्भु शर्म्मा के साथ माइ लार्ड नगर की दशा देखने चलते, तो वह देखते कि महानगर की लाखों प्रजा भेड़ों और सूअरों की भांति सड़े-गन्दे झोंपड़ों में पड़ी लोटती है। उनके आस-पास सड़ी बदबू और मैले-सड़े पानी के नाले बहते हैं। कीचड़ और कूड़े के ढेर चारों ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरों पर मैले-कुचैले, फटे चिथड़े लिपटे हुए हैं। उनमें से बहुतों को आजीवन पेटभर अन्न और शरीर ढांकने को कपड़ा नहीं मिलता। जाड़ों में सर्दी से अकड़कर रह जाते हैं और गर्मी में सड़कों पर घूमते तथा जहाँ-तहाँ पड़ते-फिरते हैं। बरसात में सड़े-सीले घरों में भीगे पड़े रहते हैं। सारांश यह है कि हर एक ऋतु की तीव्रता में सबसे आगे मृत्यु के पथ का वही अनुगमन करते हैं। मौत ही एक है, जो उनकी दशा पर दया करके जल्द-जल्द उन्हें जीवन रूपी रोग के कष्ट से छुड़ाती है!

परन्तु क्या इनसे भी बढ़कर और दृश्य नहीं हैं? हाँ, हैं। पर ज़रा और स्थिरता से देखने के हैं। बालू में बिखरी हुई चीनी को हाथी अपनी सूँड़ से नहीं उठा सकता, उसके लिए चींटी की जिह्वा की दरकार है। इसी कलकत्ते में, इसी इमारतों के नगर में, माई लार्ड की प्रजा में हजारों आदमी ऐसे हैं, जिनको रहने को सड़ा झोंपड़ा भी नहीं है। गलियों और सड़कों पर घूमते-घूमते जहाँ जगह देखते हैं, वहीं पड़ रहते हैं। बीमार होते हैं, तो सड़कों ही पर पड़े पाँव पीटकर मर जाते हैं। कभी आग जलाकर खुले मैदान में पड़े रहते हैं। कभी-कभी हलवाइयों की भट्टियों से चमटकर रात काट देते हैं। नित्य इनकी दो-चार लाशें जहाँ-तहाँ से पड़ी हुई पुलिस उठाती है। भला, माइ लार्ड तक उनकी बात कौन पहुँचावे?

दिल्ली-दरबार में भी, जहाँ सारे भारत का वैभव एकत्र था, सैकड़ों ऐसे लोग दिल्ली की सड़कों पर पड़े दिखाई देते थे, परन्तु उनकी ओर देखनेवाला कोई न था। यदि माइ लार्ड एक बार इन लोगों को देख पाते, तो पूछने को जगह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्य के सिटीजन हैं वा नहीं ? यदि हैं, तो कृपापूर्वक पता लगाइए कि उनके रहने के स्थान कहाँ हैं और ब्रिटिश राज्य से उनका क्या नाता है ? क्या कहकर वह अपने राजा और उसके प्रतिनिधि को संबोधित करें ? किन शब्दों में ब्रिटिश राज्य को असीस दें ? क्या यों कहें कि जिस ब्रिटिश राज्य में हम अपनी जन्मभूमि में एक उंगल भूमि के अधिकारी नहीं, जिसमें हमारे शरीर को फटे चिथड़े भी नहीं जुड़े और न कभी पापी पेट को पूरा अन्न मिला, उस राज्य की जय हो ! उसका राजप्रतिनिधि हाथियों का जुलूस निकालकर, सबसे बड़े हाथी पर चंवर-छत्र लगाकर निकले और स्वदेश में जाकर प्रजा के सुखी होने का डंका बजावे !

इस देश में करोड़ों प्रजा ऐसी है, जिसके लोग जब संध्या-सवेरे किसी स्थान पर एकत्र होते हैं, तो महाराज विक्रम की चर्चा करते हैं और उन राजा-महाराजाओं की गुणावली का वर्णन करते हैं, जो प्रजा का दुःख मिटाने और उनके अभावों का पता लगाने के लिए रात को वेश बदलकर निकला करते थे। अकबर के प्रजापालन और बीरबल के लोकरंजन की कहानियाँ कहकर वह जी बहलाते हैं और समझते हैं कि न्याय और सुख का समय बीत गया। अब वह राजा संसार में उत्पन्न नहीं होते, जो प्रजा के सुख-दुख की बातें उनके घरों में आकर पूछ जाते थे। महारानी विक्टोरिया को वह अवश्य जानते हैं कि वह महारानी थीं। अब उनके पुत्र उनकी जगह राजा और इस देश के प्रभु हुए हैं। उनको इस बात की खबर तक भी नहीं कि उनके प्रभु के कोई प्रतिनिधि हैं और वही इस देश के शासन के मालिक होते हैं तथा कभी-कभी इस देश की तीस करोड़ प्रजा का शासन करने का घमंड भी करते हैं अथवा मन चाहे तो इस देश के साथ बिना कोई अच्छा बर्ताव किए भी यहाँ के लोगों को झूठा, मक्कार आदि कहकर अपनी बड़ाई करते हैं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशम्भु के जी में पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिलकर होली खेलने का समय गया। जो बाकी था, वह काश्मीर नरेश महाराज रणवीरसिंह के साथ समाप्त हो गया। इस देश में उस समय के फिर जल्द लौटने की आशा नहीं। इस देश की प्रजा का अब वह भाग्य नहीं है। साथ ही राजपुरुष का भी ऐसा सौभाग्य नहीं है, जो यहाँ की प्रजा के अकिंचन प्रेम के प्राप्त करने की परवा करे। माइ लार्ड अपने शासन-काल का

सुन्दर से सुन्दर सचित्र इतिहास स्वयं लिखवा सकते हैं, वह प्रजा के प्रेम की परवा क्या करेंगे। तो भी इतना संदेश भंगड़ शिवशम्भु शर्म्मा अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशा करनेवाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं, तो कभी-कभी पागल समझकर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूंगी प्रजा का एक वकील है, जिसके शिक्षित होकर मुंह खोलने तक आप कुछ करना नहीं चाहते।

बमुलाजिमाने सुलतां कै रसानद, ईं दुआरा ?
कि वशुक्रे वादशाही जे नज़र मरां गदारा।

●

गोपालराम गहमरी
[सन् १८६६—१९४६]

ऋद्धि और सिद्धि

अर्थ या धन अलाउद्दीन का चिराग है। यदि यह हाथ में है, तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो। यदि अर्थ के अधिपति हो, तो वज्र मूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हें डी० लिट० की उपाधि देकर अपने तईं सभ्य समझेगा। तुम्हारी रचना में चाहे व्याकरण की जितनी अशुद्धियाँ होंगी, साहित्यिक लोग उसे इस समय का आर्ष-प्रयोग या आदर्श लेख कहकर मानेंगे। तुम अकल के रासभ या बुद्धि के बैल हो तो भी अर्थ के माहात्म्य से लोग तुमको विचक्षण बुद्धि-सम्पन्न या प्रतिभा का अवतार कहकर आदर करेंगे। लक्ष्मी की कृपा से तुम्हारे गौरव की सीमा नहीं रहेगी। तुम्हारे चारों ओर अनेक ग्रह, उपग्रह आ जुटेंगे, और तुमको केन्द्र बनाकर एक नया 'सौर-जगत' रच डालेंगे तथा तुम उनके बीच में मार्तण्डरूप होकर विराजोगे। विश्वविद्वेषी खुशामदी तुमको घेरे हुए तुम्हारे सुर में सुर मिलावेंगे और जहाँ संयोग से तुमने जम्हाई ली कि चुटकियों का तार बांध देंगे। तुम्हारे धूर्त आत्मीय स्वजन तुमको पग-पग पर ठगा करेंगे। धोखेबाज़ तुम्हारे कृती पुत्र को उल्लू बनाकर उससे अनेक हैण्डनोट कटाया करेंगे। तुम्हारे अविद्या-मन्दिर में बड़ी धूमधाम से बन्दर का ब्याह और भूतों के बाप का श्राद्ध होगा।

बरहे पर चलनेवाला नट हाथ में बांस लिये हुए बरहे पर दौड़ने के समय "हाय पैसा, हाय पैसा" करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्य दृष्टि से देखता हूं कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर "हाय पैसा, हाय पैसा" करती हुई सूर्य की परिक्रमा कर रही है। अभी ज्योतिर्विद लोग इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सके हैं, क्योंकि अर्थ का खिंचाव ही विश्व-ब्रह्माण्ड का मध्याकर्षण है। उनको यह समझने में अभी देर है।

विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बसु ने साबित किया है कि धातुओं में प्राण हैं। बस, उनकी बुद्धि-गवेषणा की दौड़ यहीं तक है। पर मेरी गवेषणा से यह

पक्का सिद्धान्त हो चुका है कि तांबा, सोना, चांदी में केवल जीवनी शक्ति ही नहीं, उनमें ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि जिसके बल से वे सब विश्व-ब्रह्माण्ड को चरखी पर नचा रहे हैं।

काल-माहात्म्य और दिनों के फेर से ऐश्वर्यशाली भगवान् ने तो अब स्वर्ग से उतरकर दरिद्र के घर शरण लिया है और उनके सिंहासन पर अर्थ जा बैठा है। इसी से अब सबके मुंह से अकेले अर्थ की ही अपार महिमा सुनी जाती है। अर्थ ही इस युग का परब्रह्म है। इस ब्रह्मवस्तु के बिना विश्व-संसार का अस्तित्व नहीं रह सकता। यही चक्राकार चैतन्यरूप कैश-बाक्स (Cash Box) में प्रवेश करके संसार को चलाया करता है। यही ब्रह्म-पदार्थ व्यक्त और अव्यक्त रूप से सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कारण-स्वरूप है। जगत् का आधुनिक इतिहास सहस्रमुख होकर इसकी महिमा गाता है। साधकों के हित के लिए अर्थ-नीति शास्त्र में इसकी उपासना की विधि लिखी गई है। जगत् के सब जीव और सब जातियां ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग द्वारा इस ब्रह्म-वस्तु की साधना करके सिद्धि लाभ करने की चेष्टा करती हैं।

यहां कुछ योगशास्त्र की बात आ पड़ी। बच्चों को पहली पोथी में लिखा है—"बिना पूछे दूसरे का माल लेना चोरी कहलाता है।" लेकिन कहकर जोर से दूसरे का धन हड़प लेने से क्या कहलाता है, यह उसमें नहीं लिखा। मेरी राय में यही कर्मयोग का मार्ग है।

सुना जाता है कि कितने ही नामी लोग चोरी और डकैती करके अपने घर की गहरी नींव जमा गए हैं। उनके अनेक वंशधरों ने इस समय अनेक खिताब और तमगे पाए हैं और वे अफ़सरों के साथ हाथ मिलाया करते हैं। इस तरह कर्मयोग से जो ऋद्धि और सिद्धि मिलती है, वह सभी देशों के इतिहास पढ़ने से जानी जाती है।

अर्थ चारों वर्गों में प्रधान वर्ग है। बाक़ी तीन इसी के पीछे-पीछे आया करते हैं। इस कारण अर्थ रूपप्रधान वर्ग पाने के लिए ही जितनी बन सके, साधना दरकार है। अधिकारी भेद से इन सब साधनाओं के प्रकार-भेद हैं। एक प्रकार की साधना में हज़ार बार निन्यानवे के धक्के खा सकने पर लखपती हुआ जा सकता है।

निरामिष वैष्णव मत से भी अर्थ की साधना हो सकती है। वैष्णव धर्म किफ़ायत का धर्म है। इसी कारण वैष्णव के देवता तुलसी हैं, जिनको पाने में कुछ खर्च की ज़रूरत नहीं पड़ती। उनके लिए भोग चाहिए एक पैसे का

बताशा। विष्णु भगवान् का नाम लेकर चढ़ा देने से ही हो जाता है। इसमें पुरोहित की दक्षिणा या संकल्प-छुड़ाई देने की जरूरत नहीं।

मनुष्य समाज में ऐसे भी लोग देखे जाते हैं, जो खुदा के यहाँ से आये हुए मनीआर्डरों को सबको खर्च कर डालते हैं। अर्थ मानो इन लोगों का रक्त विकार है। इन लोगों को उलूक की तरह आँख रहते भी दिखाई नहीं देता। कान रहते भी यह लोग सुन नहीं सकते।

भारतवासी बहुत दिनों से कर्ममार्ग छोड़कर भक्तिमार्ग में जा पहुँचे हैं। इस देश के साधारण किरानी से लेकर राजा-महाराजा पर्यन्त सभी भक्तिमार्ग के मुसाफ़िर हैं। कोई-कोई सजधजकर उपास्यदेव के मन्दिर में रोज़ जाते और साष्टांग प्रणाम कर आते हैं। कोई अँगरेजी, संस्कृत या हिन्दी में तरह-तरह के स्तव-स्तोत्र कहकर इष्टदेव को प्रसन्न किया करते हैं। किन्तु सभी 'धनं देहि', 'धनं देहि' की रट से कान फोड़े डालते हैं, क्योंकि धन ही सब साधनों की परम सिद्धि है।

अर्थ सबके लिए कामना की वस्तु है। किन्तु अर्थ है क्या चीज़, यह कोई नहीं समझता। मैंने दैव-गवेषणा द्वारा अद्वैतवाद की सहायता से अर्थ का असल रूप जान लिया है। चराचर विश्व-संसार में अगर कोई एक पदार्थ है, तो वह अर्थ है। अर्थ के सिवाय यहाँ और किसी का अस्तित्व ही नहीं है। अगर तुम अपने को कृती कहते हो, तो अपना 'कैश बाक्स' खोलकर दिखाओ। यदि तुम्हारे पास धन है, तो तुममें मनुष्यत्व हो सकता है। दरिद्र के मनुष्यत्व है, यह बात दुनिया में कोई विश्वास नहीं करता। यदि रूप की बात कहो, तो वह तो खाली अर्थ ही अर्थ है। धनी का अन्धा लड़का भी चश्मरोशन कहलाता है। अगर तुम कहो कि तुममें भलमनसाहत है, मैं तुम्हारा जेब टटोलकर कह दूँगा कि तुम ठीक कहते हो या नहीं। 'अलमति विस्तरेण'। अतएव साबित हुआ कि अर्थ के सिवाय और किसी का अस्तित्व नहीं है। कम समझ द्वैतवादी कह सकते हैं कि अर्थ और भगवान् दोनों हैं। पर मैं तो अद्वैतवाद लेकर दुनिया में उतरा हूँ, इस कारण मैं दोनों का अस्तित्व नहीं मानूँगा। कहूँगा कि अर्थ ही है, भगवान् नहीं है।

माधवप्रसाद मिश्र
[सन् १८७१—१९०७]

सब मिट्टी हो गया

"चाचा ! चाचा ! सब मिट्टी हो गया ! जो खिलौना आप दिल्ली से लाए थे, उसे श्रीधर ने तोड़ फोड़कर मिट्टी कर दिया।

एक दिन मैं अपने घर में अकेला बैठा दिल्ली के भारतधर्म महामंडल का "मन्तव्य" पत्र पढ़ रहा था। मेरा ध्यान उसमें ऐसा लग रहा था, कि मानो उपासक अपने उपास्य का साक्षात्कार कर रहा है। इसका कारण यह था कि मेरी इस सभा पर बहुत ही दिनों से विशेष भक्ति-भावना हो रही थी; क्योंकि यह महासभा, मारवाड़ी बाबुओं के बगीचे की सभा न थी, जिसमें नाच-कूद के शौकीन लड्डू-कचौरी के यार केवल भोजन-भट्ट मित्रों का स्वागत-समागम ही बड़ी वस्तु समझी जाती है और न यह 'थियेटर' के राज इन्द्र का अखाड़ा था, जिसका उद्देश्य यह होता है कि थोड़ी देर के लिए नयनाभिराम मनोहर दृश्य दिखाकर अर्थोपार्जन या कौतुकप्रिय अमीरों को खुश किया जाय।

यह सभा सनातनधर्म की सभा थी। जननी जन्मभूमि की सुसन्तान की महासभा थी। यह वह सभा थी, जिसके अग्रगन्ता एक दिन धन को धर्म पर वार चुके थे। प्रतिष्ठा को कर्त्तव्य के हाथ बेच चुके थे। इन्द्रियासक्ति को स्वयं ही दबा चुके थे। इनकी शत्रुता-मित्रता धर्म पर स्थित थी, व्यवहार पर नहीं। इन्द्रियलोलुप बड़े आदमियों पर इनकी घृणा थी और धर्मात्मा-दरिद्र भी इन्हें प्यारे थे।

यह सभा वही विख्यात सभा थी, जो बारह वर्षों से भारतवर्ष में सनातन धर्म और संस्कृत-विद्या के प्रचार करने का बीड़ा उठाए फिरती है। इसलिए इस महासभा से पुराने वृद्ध पंडित और धर्मात्मा-जन आशा करते थे कि यह देश के अनाचार दुराचारादि की निवृत्ति करेगी और सदाचार की प्रवृत्ति। इससे धर्म की जय होगी और साथ ही धर्मप्रतारक लम्पटों को भय होगा। बालक सुशिक्षित बनेंगे और स्त्रियाँ निंदित न होंगी। मूर्खों की धृष्टता बढ़ने न पावेगी

और विद्वानों का तिरस्कार न होगा। पापियों की प्रतिष्ठा न होगी और धार्मिकों का उत्साह बढ़ेगा।

इस महासभा में अब की बार दरभंगा और अयोध्या के महाराज बहादुर का बहुमूल्य और अव्यर्थ शुभागमन सुनकर यह नतीजा मेरे सरल अन्तःकरण ने पहले ही से निकाल लिया था कि इस बार केवल पुराने प्रस्तावों का पिष्टिपेषण वा मन्तव्य-पत्र का शुष्क पाठ मात्र ही न होगा, कोई सच्चा उदारता का मूर्तिमान उदाहरण भी दृष्टिगोचर होगा। अतएव मैं मन्तव्य-पत्र को पाकर उत्कण्ठित हो, मन्तव्य के मर्म पर ध्यान दे रहा था। अकस्मात् ऊपर लिखे हुए शब्द कान में पहुँचें, जिनसे एक बार ही मेरा ध्यान भंग हो गया।

आंख उठाकर देखा तो सामने छः वर्ष के बालक हरदयाल को पाया। हरदयाल मेरे भाई का बड़ा लड़का है। इस समय वह अपने छोटे भाई की शिकायत कर रहा है। यह देखकर मुझे बड़ी हँसी आई कि खिलौना फूट गया है, इसलिए बालक हरदयाल ने 'सब मिट्टी हो गया' इत्यादि वाक्यावली से भूमिका बनाकर अपने छोटे भाई श्रीधर के नाम अभियोग खड़ा किया है। इस समय हँसकर मैं एक बात भी कहना चाहता था, किन्तु यह सोचकर चुप रह गया कि ऐसा करने से कहीं बालक की ढीठता को सहारा न मिले और धमकाना इसलिए उचित नहीं समझा कि मनमौजी बालकों के आनन्द में विघ्न करने से क्या मतलब। खैर, दोनों प्रकार की व्यवस्था से मन हटाकर हरदयाल से कहा, 'श्रीधर बहुत बिगड़ गया है, उसको आज पीछे कोई खिलौना न देंगे।' हरदयाल अपनी इच्छानुसार उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और हँसता हुआ श्रीधर को यह संवाद सुनाने दौड़ता गया।

घर फिर निस्तब्ध हो गया, किन्तु अंतःकरण निस्तब्ध नहीं हुआ। 'सब मिट्टी हो गया है', इस बात ने मन में एक दर्द पैदा कर लिया। अच्छा, मैं बालक से हँसकर क्या कहा चाहता था, वह तो सुन लीजिए। कहा चाहता था, 'जब वस्तु मिट्टी की है, तो मिट्टी हुई किस प्रकार?' जो हो, वह बात तो हो चुकी। अब सोचने लगा कि जो नष्ट व निकम्मा हो जाता है, उसी का नाम है मिट्टी होना। क्या आश्चर्य है! मिट्टी के घर को कोई मिट्टी नहीं कहता, किन्तु घर के गिर जाने पर लोग कहते हैं कि 'घर मिट्टी हो गया।' हमारा मकान सब मिट्टी का बना हुआ है। दीवारें तो मिट्टी की हैं ही, पर ईंटें भी तो केवल पकी हुई मिट्टी के सिवा और क्या हैं? पर अब किसी से पूछिए, कोई इसे मिट्टी नहीं कहेगा, गिर जाने पर सब कहेंगे कि 'मकान मिट्टी हो गया।'

लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी' हो गया नहीं कहते हैं,

और-और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का बड़ा भारी परिश्रम जब विफल हो जाय, तब कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया।' किसी का धन खो जाय, मान-मर्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय, तो कहेंगे—'सब मिट्टी हो गया'। इससे जाना गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किन्तु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है? किसी वस्तु के नष्ट होने पर केवल मिट्टी ही तो नहीं होती। मिट्टी होती है, जल होता है, अग्नि होती है, वायु और आकाश भी होता है। फिर अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है? यदि किसी की जिनिस अच्छे भाव पर बिकती नहीं है, तो कहेंगे 'मिट्टी' की दर पर माल जा रहा है। वह माल चाहे राख के बराबर कितना ही निकम्मा, कितना ही बुरा क्यों न हो, निकृष्ट और अगौरव के स्थल पर तुरन्त उसकी मिट्टी के साथ तुलना होती है। क्या सचमुच मिट्टी इतनी ही निकृष्ट है? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है, हम कुछ निकृष्ट नहीं हैं? भगवति वसुन्धरे! तुम्हारा 'सर्वसहा' नाम यथार्थ है।

अच्छा माँ! यह तो कहो, तुम्हारा नाम 'वसुन्धरा' किसने रक्खा? यह नाम तो उस समय का नाम है। मालूम होता है, यह नाम—व्यास, वाल्मीकि, पाणिनी, कात्यायन आदि सुसन्तान का दिया हुआ है। केवल यही नाम क्यों? वसुन्धरा, वसुमती, वसुधा, विश्वम्भरा प्रभृति कितने ही आदर के और भी अनेक नाम हैं! जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर से, कितनी श्लाघा से और कितनी श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे। क्यों माता, ऐसा धन तुम्हारे पास क्या धरा है, जिससे तुम वसुन्धरा, वसुधा के नाम से विख्यात हो? कहो तो ऐसा सर्वोत्तम रत्न क्या है, जिससे तुम 'वसुमती' कहला रही हो? माँ कुछ तो है, जिससे इस दुर्दिन के घोर अन्धकार में भी तुम्हारे मुख पर उजाला हो रहा है।

जिन सत्पुत्रों ने तुम्हारे ये नाम रक्खे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ रत्न हैं। व्यास, वाल्मीकि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, कणाद, जैमिनि, गौतम, इनकी अपेक्षा और कौन रत्न हैं? माँ! भीष्म, द्रोण, बलि, दधीचि, शिवि, हरिश्चन्द्र इनके सदृश रत्न और कहाँ हैं? अनुसूया, अरुन्धती, सीता, सावित्री, सती दमयन्ती, इनके तुल्य रत्न और कहाँ मिल सकते हैं? हम लोग अकृतज्ञ हैं, सब भूल गए। अब हमें उनका स्मरण ही नहीं। मानो वे एक बार ही लोप हो गए हैं। यदि कहीं लीन हुए होंगे, तो वे तुम्हारे ही अंग में लीन हुए हैं। जननी! जरा देखें तो सही, तुम्हारे किस अंग में लीन हुए हैं? माँ! वह तेज, वह प्रतिभा कहाँ समा सकती है? माँ, आकाश के चन्द्र-सूर्य क्या मिट्टी में सो रहे हैं? माँ! एक बार तो अभागी सन्तान को उनके दर्शन कराओ!

देखें माँ ! उस कुरुक्षेत्र में कितनी कठोर मृत्तिका हो गई ! भीष्मदेव का पतन-क्षेत्र किन पाषाणों में परिणत हो गया ! कपिल, गौतम की शेषशय्या का कितना ऊँचा आकार हो रहा है ! उज्जयनी की विजयिनी भूमि में कैसी मधुमयी धारा चल रही है ! अहा ! अहा ! तुम्हारे अंग में किस प्रकार पादस्पर्श करें ? माँ, तुम्हारे प्रत्येक परमाणु में जो रत्न के कण हैं, वे अमूल्य हैं, क्षय-रहित हैं और अतुल हैं।

जगदम्बा सती के पादस्पर्श से जो मृत्तिका पवित्र हुई है, पतिनिन्दा को सुनकर जहाँ सती का शरीर धरती में मिला है, वे क्षेत्र सभी तो वर्तमान हैं। माँ ! फिर पैर कहाँ रक्खा जाय ? वृन्दावन विपिन में अभी भी तो वंशी बज रही है। माँ ! किस सहृदय के, किस सचेतन के कान में वह वंशी नहीं बजती ? अब तक भी यमुना का कृष्ण जल है। माँ ! वियोगिनी व्रजबालाओं की कज्जलाक्त अश्रुधारा का यह माहात्म्य है ! गृहत्यागिनी प्रेमोन्मादिनी राधिका की अनन्त प्रेमधारा ही मानो यमुना के "कलकल" शब्द के व्याज से 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' पुकारकर इस धारा को सजीव कर रही है। अभागिनी जनकतनया की दण्डकारण्य-विदारी हाहाकार ध्वनि, यह देख, भवभूति के भवनपार्श्व-वाहिनी गोदावरी के गद्‌गद नाद में अच्छी तरह सुन पड़ती है।

और उस अभागिनी तापसकन्या शकुन्तला ने, जो कुछ दिन के लिए राजरानी हुई थी एवं अन्त में उस राजराजेश्वर पति से अपमानित, उपहसित होकर परित्यक्त दशा में पालक पिता के शिष्यों से रूखे और मर्मभेदी शब्दों से धमकाई और त्यागी जाकर, कहीं भी आश्रय न पा, कुररी की तरह विकल कंठ से जो तुमसे कहा था—'भगवति वसुन्धरे ! देहि मे अन्तरम्', वह आज भी कानों में गूँज रहा है। माँ ! वह शब्द अब भी हृदय को व्यथित कर रहा है।

माँ ! तुम्हारे रत्न कहाँ नहीं हैं, किस रेणु में तुम्हारे रत्न नहीं हैं ?

"कोटि-कोटि ऋषि पुण्यतन, कोटि-कोटि नृप सूर।
कोटि-कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर ॥"

इसलिए तुम्हारी समस्त मृत्तिका पवित्र है। रज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है। तुम्हारे प्रत्येक रेणु में ज्ञान, बुद्धि, मेधा, ज्योति, कान्ति, शक्ति, स्नेह-भक्ति, प्रेम-प्रीति विराज रही है। तुम्हारे प्रत्येक रेणु में धैर्य, गाम्भीर्य, महत्त्व, औदार्य, तितिक्षा, शौर्य देदीप्यमान हो रहा है। तुम्हारी प्रत्येक रज में शान्ति, वैराग्य, विवेक, ब्रह्मचर्य, तपस्या और तीर्थ निवास कर रहे हैं। हम अन्धे हैं, इन सबको देखकर भी नहीं देख सकते। गुरुदेव ने सुना दिया है, सुनकर भी नहीं सुनते। नित्यकृत्य, प्रातःकृत्य स्मरण करके भी स्मरण नहीं करते ! हाँ,

माँ ! तुम्हारी पवित्र मृत्तिका मस्तक पर चढ़ा, एक बार भी तो मुख से नहीं कहते कि—

"अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे ।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ।"

प्रभात के समय क्या कहकर तुम्हारा वन्दन करें ? शय्या त्यागकर नीचे पैर रखते हुए प्रणाम कर कहना चाहिए—

"समुद्रमेखले देवि ! पर्वतस्तन-मण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।"

देवि ! इस समय मैं पैर से तुम्हारा अंगस्पर्श करूँगा । तुम्हें स्पर्श न करें, ऐसा उपाय ही क्या है ? समुद्रान्त जितना विस्तृत स्थान है, सभी तो तुम्हारा अंग है । इस स्थान को छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ ? इस समुद्रान्त भूमि पर जितने प्राणी रहते हैं, सबको ही तुम्हारे शरीर पर पैर रखना होगा । सो, माँ ! तू इस अपराध को क्षमा कर । तुम जननी हो, तुम क्षमा न करोगी, तो कौन करेगा ? यह विशाल पर्वत समूह तुम्हारा स्तनमण्डल है, इस पर्वत समूह से जितनी स्रोतस्विनी नदियाँ निकल रही हैं, सो तुम्हारे ही स्तन की दुग्धधारा हैं । इन्हीं से सब प्राणी प्राणवान हैं । सो जननि ! विष्णुपत्नि ! सन्तान का यह अपराध क्षमा कर । हम भक्तिप्रवण चित्त से तुम्हें नमस्कार करते हैं ।

हाय माँ ! आज वे सब रत्न जीवित नहीं हैं, इसी से तुम बदनाम हो रही हो । आज तुम्हारी सन्तान मिट्टी हो रही है, इसलिए तुम्हारा भी वह वसुन्धरा नाम विलुप्त-प्राय है । देवि ! अब के मटियल कवियों को तो यही सूझता है कि—

समझ के अपने तन को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है ।
मिट्टी करके अपना सरवस, मिट्टी में मिल जाता है ॥

इसी समय हरदयाल फिर आन पहुँचा । कहने लगा—

"चाचा ! खूब हुआ, अब उसे कुछ न मिलेगा—यह सुनकर वह रो रहा है ।" मैं बोला, "देख हरदयाल ! मैं भी रो रहा हूँ ।" वस्तुतः इस समय मैं भाव-विह्वल हो रहा था । दोनों नेत्र जल से छल-छल कर रहे थे । हरदयाल ने मेरी ओर देखकर कहा, "क्यों चाचा ! तुम रोते क्यों हो ? खिलौना फूट गया है, इसीलिए क्या ? खिलौना तो खरीदने पर फिर भी मिल सकता है ।" मैंने कहा, "हाँ, खिलौना खरीदने पर फिर भी मिल जायगा, इसलिए नहीं रोता । जो खरीदने पर फिर नहीं मिलता, उसी के लिए रोता हूँ ।"

दूसरी ओर से श्रीधर के रोने की आवाज आई । बालक को सान्त्वना के

निमित्त स्वयं मुझको उठना पड़ा । मैंने विषयान्तर में मन लगाया । इस प्रकार मेरी चिन्ता का स्रोत अर्द्धपथ ही में आकर रुक रहा। रुक जाय, समझनेवाले इसी से एक प्रकार का सिद्धान्त निकाल सकते हैं। अर्थात् 'सब मिट्टी हो गया' इस बात को लोग जिस प्रकार कहते हैं, "मिट्टी से सब होता है" यह बात भी उसी प्रकार कही जा सकती है। कोई कञ्चन को मिट्टी करता है और कोई मिट्टी को कञ्चन बना डालता है। सब समझ की बलिहारी है। अच्छा, जरा बालक को समझा आऊँ।

श्यामसुन्दरदास
[सन् १८७५—१९४५]

साहित्य और समाज

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है, उसी के संचित भंडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक व्यवस्था होगी, वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है, वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकती है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को सुरक्षित रखना है। पहले पहल अद्भुत बातों को देखने से स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में प्रयोग होने लगता है। इस प्रकार यह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंश हो जाती है।

एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृङ्खला बंध जाती है, जिससे साहित्य के विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिए साहित्यरूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा, वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के लिए अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीतप्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिए निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहनेवाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलम्बन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम-क्रम से उन्हें

सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं।

जहाँ उसके प्रतिकूल अवस्था है, वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया, तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारत भूमि को प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इसकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से हटकर मन, जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलास-प्रियता में फँसकर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य, धार्मिक विचारों या शृङ्गार रस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, जो कुछ मैंने अब तक निवेदन किया है, उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं, तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म सम्बन्धी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया और यूरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता देवी की आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया, वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब-जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई—नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्यसमाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इस्लाम और हिंदू धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए, तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य समाज का हित-विधायक मित्र है, वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता ? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है, यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ-साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसमें संघ-शक्ति का संचार जैसा चाहिए, वैसा नहीं हो सका है और वह अब तक आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार, दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है।

यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहन और प्रतिक्रियमाण करेगा, तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए, जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके ? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेष-कर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो मनोवेगों का परिष्कार करनेवाला, संजीवनी शक्ति का संचार करनेवाला, चरित्र को सुन्दर साँचे में ढालनेवाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनेवाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरल और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है; पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा, जिससे जन-समुदाय की आँख खुलेगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

प्रेमचंद
[सन् १८८०—१९३६]

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है। उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं। लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में; लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखण्ड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गए हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता? हाँ, है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले मांस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है; लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है; क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हरएक रस में सुन्दर

खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर, ऊषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर, मूर्तिमान दिखाई देता है, महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध; अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और शृङ्गार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है, जो शृङ्गार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल वाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुंदर का समावेश हो। खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना न्याय-मर्यादा की रक्षा करना ये भाव हैं, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य, जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य या घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढँके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्मसमर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्र शबरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान् विदुर के शाक को क्यों नाना व्यञ्जनों से रुचिकर समझते हैं; इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा-आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा, जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे

महान् पुरुष भी हो गए हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइए देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव जीवन में भी यह सभी प्रवृत्तियां होती है, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियां होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं; कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती हैं; जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियां हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्सन्देह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायेंगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डांटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है कि बालक में जो सद्वृत्तियां हैं, उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय कि दूषित वृत्तियां स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों-द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भांति, जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डांट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहां ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहां साहित्य बाजी ले जाता है। यही कारण है कि हमें उपनिषदों और अन्य धर्मग्रन्थों के साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएं, तौरेत, कुरान, इञ्जिल ये सभी मानवी कथाओं के संग्रह मात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को

निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देशा पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानव जाति से उनके जीवन का सामञ्जस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते?

आदि काल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। मनुष्य होने के कारण हम मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उसके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते, इसलिए कि हम उसके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं, उसका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के

उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं; पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तब्दीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नए हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है, क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है, और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है, क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ, पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें, पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली में कतलाम करनेवाले नादिरशाह से है। और दिल्ली का कतलाम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कतलाम को बन्द करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शान्त होता और दिल्ली-वालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि नादिरशाह के मुँहलगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

'कसे न मांद कि दीगर व तेग़ नाज़ कुशी।
मगर कि ज़िन्दा कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी।'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृङ्गार-विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कतलाम तुरन्त बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अंग्रेज मल्लाह को भाऊँ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर नैपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नैपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आए। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंग्लैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपञ्च या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामञ्जस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाए हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पाएँगे। कहीं खूनी काण्डों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थपरायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थलोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नई सभ्यता का जीवन १५० साल से अधिक नहीं; पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है। पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है, वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर जा चुका

है, कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियों में हिस्से लेकर और ऊँची सोसाइटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किए हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुईं। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर धन्वतरि के एक होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फ़ौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिरानेवाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें आत्मसंयम की आवश्यकता है; क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और

ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्यसेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि इसमें सच्चे साहित्यसेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी !

पूर्णसिंह
[सन् १८८१—१९३१]

मजदूरी और प्रेम

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दानें इस अग्नि की चिनगारियों की डलियां सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ, तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ सा दिखाई पड़ता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वर प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक प्रकार का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वन्दनादि इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मन्दिर, मसजिद, गिरजे से इसे कोई सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठण्डे चश्मों और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इनकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में

यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिन्तनीय और अद्‌भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है, तो यह उसकी मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्ति करता है। धोखा वह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है; गाय इसकी दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है ? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चंद्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों के दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं, तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कन्धे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिये हुए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिए का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिए को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सुफेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचे किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सुफेद हैं। और क्यों न सुफेद हों ? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है; घर इनका बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी के घर कर में न घर कर बैठना इस दारे फानी में।
ठिकाना बेठिकाना और मकां बर ला-मकां रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आंखों के कल इशारे, इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे, इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य्य के अवतार सूर्य्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगन्धि से सुगन्धित है। इनके, मुख, शरीर और अन्तःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। अधिक पीड़ा हुई तो इन सबकी आंखें शून्य आकाश में किसी को देखने लग गईं। पता नहीं, ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर हाँ, इन सबकी आंखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनन्द-मस्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं; पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अङ्ग नहीं समाता, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरम्भ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आंखों के सामने ब्रह्मानन्द का समां बांध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा

होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है, उसे इस गड़रिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मन्द-मन्द हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गम्भीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिए के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी!" वाह, क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सबके सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थी ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये, वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्म्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है। पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज भरतमिलाप का सा समाँ बंध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है; साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है, तब ठहर जाती है। सूई हाथ में लिये हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है, जिसमें बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता

और इस बहिन को सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं--मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थयात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, सन्ध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएं सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगन्ध आती है! राफेल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी उनके अन्तःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु साथ ही, उसमें छिपी चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यन्त्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है, जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है, वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहां! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूं, उस आलू में जो रस मुझे आता है, वह टीन में बन्द किए हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहां नीरस होते हैं, क्योंकि वहां मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है! जिस मिट्टी के घड़े को कन्धों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठण्डा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूं, तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो, उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरी रात पर सुफेदी सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने

गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है, तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनन्दमयी प्रातः कालीन शोभा सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है, तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है, तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनन्ददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय, तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं। मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर पूजा है। मन्दिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कलाकौशल के विचार और चिन्तन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पण्डितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ, ईश्वर-चिन्तन, अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और

मुंह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती, वे धर्म और कलाकौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं, जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करनेवाले, लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं, जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिन्तन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे-बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुंवारेपन का अभाव है। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य संसार में प्रचलित होनेवाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ, तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी, जो अपना जीवन आनन्द के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टांकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पांव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रंगे हुए ये बेजबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे, तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वर से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावन्तों के लिए वही ध्रुवपद और मलार का काम देगा। चरखा कातनेवाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नए कवि पैदा होंगे; तभी नए औलियों का उद्भव होगा। परन्तु ये सबके सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर-ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक हैं। बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर बासी बुद्धि

और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परन्तु इस तरह मग्न होना किस काम का ? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है; घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए—मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी ! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है, जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगन्ध लो, ठण्डी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो, तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अन्तःकरण को तरोताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिन्तन करते रहना अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना, मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पण्डित और साधु, संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे, तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्त काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं, जैसे पिछले साल के थे। परन्तु इस सालवाले ताजे हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगन्ध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही से रहते हैं। परन्तु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो ? गिरजे की घण्टी, क्यों सुनते हो ? रविवार क्यों मनाते हो ? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो ? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो ? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रङ्ग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्त्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है, उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है;

क्योंकि पूछनेवाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है, जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई बहिन हैं। अपने ही भाई-बहिनों के माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुम्बवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं, जिसकी छत के नीचे बलवान्, नीरोग और रूपवान् कुटुम्ब रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और नीरोग ही तो करेंगे। आनन्द और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कन्धों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है; क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिये जाते हैं, उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है, परन्तु उसका यह घूमना सूर्य्य के इर्द-गिर्द घूमना तो है और सूर्य्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्य्य मंडल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अन्त में, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानो उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परन्तु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं, वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्य मण्डल के साथ की चाल है और अन्ततः यह चाल जीवन का परमार्थ-रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है, जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं, तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑव आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेड़ें चराना, टालसटाय का त्याग और जूते गांठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तम्बू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रङ्गमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हांकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते-करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर-दूर से साधु आये हुए थे। गुरु नानक का आगमन

सुनकर भागो ने उन्हें भी निमन्त्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा—आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया— भागो, अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ, तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया, तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया, तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी, वही समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा है, यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकान्तर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं; नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, सम्भव है, हम जगत् को जीत लें। ("We shall beat the world with the tips of our fingers") जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती, तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की पचास करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें, तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल [illegible]न-ऐश्वर्य्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फकीरी

और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते-डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य-जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते, जहाँ मजदूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता; जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करनेवालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी, सुन्दरता का अनुभव करानेवाले कला-कौशल अर्थात् कारीगरी का रूप हो जाती है। इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था, तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शान्ति प्राप्त होती है, जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी है, परन्तु मन के गुप्त भावों और अन्तःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के ताण्डव-नृत्य को और पार्वतीजी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना, जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं, उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती, जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी, अर्थात् वहाँवालों के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करनेवाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं—वे जीती-जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिए जाते, तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करनेवाले भूखों मरते हैं, तब हमारे मन्दिरों की मूर्तियाँ कैसे सुन्दर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किंवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असम्भव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है, जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा

को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शनेवाले देवता रास्किन और टाल्सटाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होनेवाला है। वहाँ के गम्भीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेनेवाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नए प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और, हो क्यों न ? इंजनों के पहिए के नीचे दबकर वहाँवालों के भाई बहिन—नहीं नहीं, उनकी सारी जाति पिस गई; उनके जीवन के धुरे टूट गए, उनका समस्त धन घरों से निकलकर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं, मजदूरों के हाथ-पाँव फट रहे हैं, लहू चल रहा है ! सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखण्ड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए—मजदूरों को सुख देने के लिए—परन्तु वे काली-काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली-काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्य्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मजदूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का आलिंगन करने की। पश्चिमवालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं, परन्तु काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। देखेंगे, पूर्ववाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनन्द अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे, तो हम मशीनों की कृपा से बढ़े हुए परिश्रमवालों को, वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर आओ, पश्चिम में आनेवाली सभ्यता के नए प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों क। वह मजदूरी किस काम की, जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को ही भूखा-नंगा रखती है, और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों क मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डङ्का बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से द्ध होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर क निष्कपट सेवा ही से मनुष्य

जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य जाति के आनन्द-मंगल का एक साधारण सा और महा तुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है; ईश्वर को भूल जाना है; अपने भाई-बहिनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देनेवालों को मारकर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है; जिस डाल पर बैठे हैं, उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़ी से काटना है। अपने प्रिय जनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारी मनुष्य-जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं।

धन की पूजा से ऐश्वर्य्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है, तब वही जगत् में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें, मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीत आशिकों की तन-मन निसार करना।
रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
[सन् १८८३—१९२२]

कछुआ-धर्म

मनुस्मृति में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निन्दा या असत्-कथा हो रही हो, वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बन्द कर ले या और कहीं उठकर चला जाय। यह हिन्दुओं के या हिन्दुस्तानी सभ्यता के कछुआ-धरम का आदर्श है। ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने योग्य की कलंक-कथा के सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताए हैं: या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबा कर चल दो। तीसरा उपाय, जो और देशों के सौ में से नब्बे आदमियों को ऐसे अवसर पर पहले सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निन्दा करनेवाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ ढाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नहीं करता। अश्वघोष महाकवि ने बुद्ध के साथ-साथ चले जाते हुए साधु पुरुषों को यह उपमा दी है—

देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम्।

अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं, धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। यह कर लेंगे कि दक्षिण के अप्रकाश देश को कोई अत्रि या अगस्त्य यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें—तब तक ही जब तक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दें—पर यह नहीं कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाढ़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे; आर्य सप्त-सिंधुओं को आर्यावर्त बनाया चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि, यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिए तीन गाड़ियाँ बनाईं। उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आँज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिये हुए यह "कारवाँ"

मूजवत् हिन्दूकुश के एकमात्र दर्रे खैबर में होकर सिन्धु की घाटी में उतरा। पीछे में श्वान, भ्राज, अम्भारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशान, षंड, मर्क मारते चले आते थे। वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लम्बे डग भरनेवाले विष्णु ने पीछे फिरकर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहां 'भ्रातृव्यस्य वधाय', 'सजातानां मध्यमेष्ठ्याय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो, जम गए। जहां-जहां रास्ते में टिके थे, वहां-वहां यूप खड़े हो गए। यहां की सुजला सुफला शस्य श्यामला भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मूजवत् पहाड़ की सोमलता का चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हां, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाता था। उस समय का सिक्का गौएं थीं। जैसे आजकल लखपति, करोड़पति कहलाते हैं, वैसे तब 'शतगु', 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचन्द अपने 'नवग्वा:', 'दशग्वा:' पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहां पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमाप्रान्त पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी, जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता कि वाह ! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिए कहा था कि 'याही में बेटी और याही में बेटा' ऐसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता। उसके पास सोम की मानोपली थी और इन्हें बिना लिये सरता नहीं। अन्त को गौ का एक पाद, अर्ध, होते-होते दाम तै हो जाते। भूरी आंखोंवाली एक बरस की बछिया में सोम राजा खरीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते। जैसे मुसलमानों के यहां सूद लेना तो हराम है, पर हिन्दू साहूकारों को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है, वैसे यह तो फ़तवा दिया गया कि ''पापो हि सोमविक्रयी' पर सोम क्रय करना—उन्हीं गंधर्वों के हाथ गौ बेचकर सोम लेना—पाप नहीं कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गंधर्वों ने दाम बढ़ा दिए या सफ़र दूर का हो गया, या रास्ते में डाके मारनेवाले 'वाहीक' आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाय, पर यह

किसी को न सूझी कि सब प्रकार के जलवायु की इस उर्वरा भूमि में कहीं सोम की खेती कर ली जाय, जिससे जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी माँ ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में 'वाहीक' आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत्! युगंधरे पयः पीत्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति!!!

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते-मारते तो सही, बेधर्म भी कर देते। बस, समुद्र-यात्रा बन्द! कहाँ तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जानेवाले द्विज का प्रायश्चित कराकर भी संग्रह बंद। वही कछुआ-धर्म! ढाल के अन्दर बैठे रहो।

पुर्तगाली यहाँ व्यापार करने आये। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। 'विवृतजघनां को विहातुं समर्थः?' कुएँ पर सैकड़ों नर-नारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था? कछुए को ढाल के बल उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह नहीं सोचा कि अज्ञात पाप पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़े फोड़ दें या कै ही कर डालें। गाँव के गाँव ईसाई हो गए। और दूर-दूर के गाँवों के कछुओं को यह खबर लगी, तो बम्बई जाने में भी प्रायश्चित कर दिया गया।

हिन्दू से कह दीजिए कि विलायती खाँड खाने में अधर्म है। उसमें अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें, चाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए! उसका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बढ़े। उसका केवल एक ही कछुआ उत्तर होगा—वह खाँड खाना छोड़ देगा, बनी-बनाई मिठाई गौओं को डाल देगा या बोरियों को गंगाजी में बहा देगा। कुछ दिन पीछे कहिए कि देशी खाँड के बेचनेवाले भी सफेद बूरा बनाने के लिए वही उपाय करते हैं। वह मैली खाँड खाने लगेगा। कुछ दिन ठहरकर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खाँड मैली करके बिक रही है। वह गुड़ पर उतर आवेगा। फिर कहिए

कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस के मैल का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा या मीठा ही खाना छोड़ देगा। वह सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात सेर की खांड छोड़कर डेढ़ सेर की कब तक खाई जायगी। यह न सोचेगा कि बिना मीठे कब तक रहा जायगा। यह नहीं देखेगा कि उसकी सी मतिवाले शरबत न पीनेवालों की संख्या घटती-घटती दहाइयों और इकाइयों पर आ रही है। वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाकगाड़ी में यात्रा करनेवाला जून के महीने में झुलसते हुए कंठ को बरफ से ठंडा बिना किए रह नहीं सकता। उसका कछुआपन कछुआ-भगवान् की तरह पीठ पर मंदराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नए-नए रत्न निकालने के लिए नहीं है। उसका कछुआपन ढाल के भीतर और भी सिकुड़कर घुस जाने के लिए है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। अपनी-अपनी समझ है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ, तो सुने-सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ-कड़ी गिन कर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा। किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पकड़ने और कच्ची दलीलों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही शगल सही। किसी न किसी तरह कोई न कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की मां को ही न मारें। न रहे बांस, न बजे बांसरी। यह जीवन ही तो सारे दुःखों की जड़ है। लगीं प्रार्थनाएँ होने—

"मा देहि राम ! जननीजठरे निवासम्', "ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं जनाः" और यह उस देश में, जहां कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते-कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़-बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों, सौ बरस से भी अधिक। भला, जिस देश में बरस में दो ही महीने घूमकर फिर सकते हों और समुद्र की मछलियां मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खायेंगे, वहां जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है, पर जहां राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके-पुटके मधु'—बिना खेती के फसलें तक पक जायँ और पत्ते-पत्ते में शहद मिले, वहां इतना वैराग्य क्यों ?

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। कवि कहता है—

विनिर्गतं मानदमात्ममंदिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेंद्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥

महाशय यों ही मौज से घूमने निकले हैं। सुरपुर में अफवाह पहुँची। बस, इन्द्र ने झटपट किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखें बन्द कर लीं।

यह कछुआ-धरम का भाई शुतुर्मुर्ग-धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए, तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आँखों से पीछा करनेवाला नहीं दीखता, तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लम्बा चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया! कछुए ने हाथ, पाँव, सिर भीतर डाल लिया!

इस लड़ाई में कम से कम पाँच लाख हिन्दू आगे-पीछे समुद्र पार जा आए हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे, तो हनोज़ रोज़ अव्वल अस्त! अभी पहला ही दिन है! सिर रेत में छिपा है!!

०

रामचन्द्र शुक्ल

[सन् १८८४—१९४०]

उत्साह

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, आनन्द वर्ग में वही स्थान उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय-द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है, उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दानवीर, दयावीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध-वीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या मृत्यु तक की परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाए घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जायगा, जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह

कि उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दानवीर में अर्थत्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होनेवाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अन्तर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जायगी, जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या सम्भावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जायगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनन्द के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे, तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं, जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की सम्भावना रहती है। अनुसन्धान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगिस्तान का सफ़र, क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं, वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की सम्भावना से भी बहुत-से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निन्दा, अपमान इत्यादि का भय रहता है, उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसीलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे, लोगों में उनका वैसा आदर-सम्मान न रह जायगा। उनके लिए मान-ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निन्दा-स्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करने जाते हैं, वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं, दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं; उसकी ओर उनका ध्यान लेश मात्र नहीं

नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों-के-त्यों आनन्दित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हँस भी दें, तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा, जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबंध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है, उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धि-वीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस-नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं, वे नीति की हैं—शास्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि-द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धिवीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता है, उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धिवीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो, तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आज-कल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफ़ी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-शृङ्खला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनन्द की तरंगें उठती हैं, वे ही सारे प्रयत्न को आनन्दमय कर देती हैं। युद्धवीर में विजेतव्य जो आलम्बन कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म-प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं

रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर, दया-वीर और धर्म-वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति-लोभवश दिया जाता है। यदि श्रद्धावश दान दिया जा रहा है, तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दयावश दिया जा रहा है, तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलम्बन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है, उत्साही का साहसपूर्ण आनन्द उसी की ओर उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलम्बन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है, वैसा वीररस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है, जिसमें साहस और आनन्द का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है, उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनूमान् उठे हैं, उसका कारण समुद्र नहीं,—समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है—वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के सम्बन्ध में जहाँ आनन्दपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द होता है, उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

१. कर्म-भावना से उत्पन्न,

२. फल-भावना से उत्पन्न, और

३. आगन्तुक, अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है, उसी समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है, जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है, जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्त्तक आनंद की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनन्द भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है, वहाँ

कर्म-विषयक आनन्द उसी फल की भावना की तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मन्द पड़ती है— उसकी आशा कुछ धुंधली पड़ जाती है, तब-तब आनंद की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुखी होता है; पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है, जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेश मात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगाव न मालूम हो, तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इसमें कर्म-शृङ्खला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनन्द की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा, तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यन्त प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन से कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल का पहुँचानेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा, तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा, वह अभावमय और आनन्दशून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए, तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और

वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्ण-राशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मणों को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज़ का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धनधान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए; फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफ़ी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है, उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल तक न भी पहुँचे, तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जितना जीवन बीता, वह संतोष या आनंद में बीता, उसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न-क्रम के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि-द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परम्परा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जाकर जब तक ओषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़धूप करता जाता है, तब तक उसके चित्त में जो सन्तोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश सन्तोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त

रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्म-ग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा, जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनन्द अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है, वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता, जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है, जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है, जो बहुत-से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख, लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है, तो जो काम उसके सामने आते हैं, उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनन्द, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है।

यह बात उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है, तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं।

यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है, तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है, तो हम बहुत-से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

गुलाबराय
[सन् १८८८—१९६३]

मेरे नापिताचार्य!

मैं जन्म से वैष्णव हूँ। सभामध्ये ही नहीं, वरन् अन्तःकरण से भी वैष्णवता का पालन करता हूँ। जैनी मेरे पड़ोसी और मित्र हैं। खद्दर और चर्खा को छोड़कर जिनको मैं पहले अंग्रेजी राज्य में भयवश और अब आलस्यवश नहीं अपना सका, महात्मा गान्धी का अनन्य भक्त हूँ। इस प्रकार मैं करेला और नीम चढ़ा ही नहीं, वरन् त्रिधाशुद्ध 'अहिंसा परमोधर्मः' का अनुयायी हूँ। इसलिए रक्तपात से, चाहे अपना हो या पराया, मैं सदा बचता रहा हूँ। मधुमेही होने के कारण मुझे अंगक्षतों के सदोष हो जाने की सदा आशंका बनी रहती है, इसलिए भौतिक विवशता को धर्म मानकर मैं अपने को रक्तपात से बचाए रखने की ओर विशेष ध्यान रखता हूँ। इसी भय से साम्प्रदायिक झगड़ों के पास नहीं फटकता। फिर भी जब मैं आधुनिकतम सुशिक्षित लोगों के अनुकरण में 'स्वयंसेवक' वृत्ति को धारण किए हुए था और 'स्वयं दासाः स्तपस्विनः' की श्रेणी में आने के लिए प्रयत्नशील रहता था, तब मैं अपने को स्व-रक्तपात से नहीं बचा सका। अभी तक अखबारी विज्ञापनों का नित्य स्वाध्याय और पारायण करने पर भी मेरी जानकारी में ऐसा कोई अकौशलोपेक्षक, सुरक्षापूर्ण क्षौरयन्त्र नहीं आया है, जो मुझ जैसे मूर्ख और अकार्यकुशल व्यक्ति को चुनौती दे सके। रक्तपात के भय से ही वैदिक लोग मुण्डन संस्कार से पूर्व छुरे की प्रार्थना किया करते थे। जिलेट से लगाकर ढाई आने तक के उस्तरों को मैंने आजमाया, किन्तु वे मुझे अपने रक्तपात से बचाने में उतने ही असमर्थ रहे, जितनी कि यू० एन० ओ० की सुरक्षा-परिषद राष्ट्रों को रक्तपात से बचाने में। बाल बीरबहूटी सी एक-आध रक्त बिन्दु मेरे मुख-मण्डल पर झलक ही आती थी और मेरे शरीर में रक्तकोष मेरे बैंक के धन-शेष से अधिक सम्पन्न नहीं है। इसीलिए अपने जीवनकाल में ही अपने सेफ्टीरेजर का उत्तराधिकार अपने द्वितीय पुत्र को, जो डाक्टर है, प्रसन्नतापूर्वक सौंप दिया है। 'अन्तहु तोहि तजैंगे पामर, तू काहे

न तज अब ही ते' के गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा प्रतिपादित वैराग्यपूर्ण उपदेश को मैंने कम से कम एक वस्तु के सम्बन्ध में सवा सोलह आने रूप से अपना लिया है।

मैं उन स्वच्छतावादियों में से नहीं हूँ, जो अपने मुख-मंडल पर एक रात की उपज को सहन नहीं कर सकते और चाणक्य की तत्परता से नित्यप्रति उसका मूलोच्छेदन करते हैं। मैं चेहरे की वास्तविक स्याही की अपेक्षा आलङ्कारिक स्याही से बचने की अधिक चेष्टा करता हूँ। अब तो भगवान् ने बालों की कालिमा को भी दूर कर दिया है। भगवान् की बिना परिश्रम की देन को यदि मैं अपने खालसा भाइयों की भाँति सर-माथे रखकर अपनाता नहीं हूँ, तो उसका अत्यन्त तिरस्कार भी नहीं करता। मौत की भाँति मैं नाई की बला को टालता रहता हूँ और यदि स्वीकार भी करता हूँ, तो आपत्ति धर्म के रूप में।

मेरे नापित महोदय श्री बेनीरामजी से मेरा बहुत पुराना परिचय है—कम से कम तब का, जब कि मैं सेकण्ड ईयर में पढ़ता था। वे भी मेरी तरह से अर्द्ध-प्राचीनतावादी जिजमानी-वृत्ति करनेवाले नाइयों में से हैं। नाई शब्द अरबी में भी है। वहाँ वह मौत की खबर लानेवाले का बोधक है। शायद अरब के लोगों को यहाँ के लोगों की अपेक्षा क्षौरकार का कम काम पड़ता है, इसीलिए उसके नाम से ऐसे अशुभ संस्कार लगे हुए हैं। हमारे यहाँ तो वह जन्म की मङ्गल दूब भी लेकर जाता है। मालूम नहीं, हमारा नाई शब्द अरबी के नाई की सन्तान है अथवा उसका जन्म संस्कृत 'नापित' से 'प' और 'त' के लोप से हुआ है! हमारे बेनीरामजी जब दूसरे, चौथे, आठवें दिन अतिथि की भाँति दर्शन देते हैं, तब वे प्रातःकाल ही अपने मस्तक पर स्नान-ध्यानकर लेने का चन्दन-कुंकुम का मङ्गलमय प्रमाणपत्र लेकर आते हैं और अपने शुद्ध संस्कृत 'नापित' नाम के व्युत्पत्त्यर्थ को (स्नापितः अर्थात् स्नान कराया हुआ, क्योंकि पूर्वकाल में क्षौरकर्म कराने से पूर्व नाई को नहला लिया जाता था) शब्दशः सार्थक करते हैं। मालूम नहीं, पुराने जमाने के लोगों को नाइयों से क्या बैर था, जो यह लोकोक्ति प्रसिद्ध हो गई—'नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणां च वायसः।' हमारे नापितदेव तो अपनी सज्जनता से इस कथन को शशशृङ्गवत् मिथ्या और अप्रामाणिक सिद्ध कर देते हैं।

भूतभावन भगवान् शङ्कर जिस प्रकार स्वयं दिगम्बर, विरूप और कपाली रहकर भी दूसरों को श्री और सम्पदा प्रदान करते हैं, ठीक उसी प्रकार बेनीरामजी अपने बाल बढ़ाए रखकर भी दूसरों के मुख-मण्डलों पर पालिश द्वारा उनकी श्रीवृद्धि किया करते हैं। कभी-कभी जब किसी पार्टी आदि में जाना होता

है, तो वे भगवान् के वरदान स्वरूप 'करुणा में वीर रस' की भाँति उपस्थित हो जाते हैं और कभी वे मास-पखवारे की गणना को अपने मन से बिलकुल भुला देते हैं।

मेरे नापितदेव न तो वामन ही हैं और न विशालकाय। मेरी बुद्धि की भाँति वे भी मध्य श्रेणी के हैं, और कुछ लघुता की ओर झुके हुए हैं। जैसा उनका मुख, वैसी उनकी छोटी मूँछें और आँखें हैं। उनका छोटे अण्डाकार शीशोंवाला, डेढ़ कमानी का चश्मा उनके गाम्भीर्य और वार्द्धक्य को बढ़ाता रहता है। जैसे मैं अपनी पोशाक की व्यवस्था सम्हालने में असफल रहता हूँ, वैसे ही वे अपनी पेटी की व्यवस्था सुधारने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि वह पेटी उनके स्वरूपानुरूप है। पेटी का आवरण-पट, जो बाल कटानेवाले यजमानों का भी बालवर्मा से सुरक्षित रखने में रक्षाकवच बनता है, साबुन के प्रयोग से उतना ही अछूता रहता है, जितना कि आजकल का विद्यार्थी भगवन्नाम से। उसको स्वच्छ रखने के उपदेश उनके ऊपर उतना ही प्रभाव रखते हैं, जितना कि 'कामी वचन सती मन जैसे'; फिर भी मैं उनका स्वागत करता हूँ, क्योंकि वे मुझे स्व-रक्तपात से बचाए रखते हैं। बाल तो (कान नहीं) वे बड़े-बड़े आदमियों के भी काटने का गौरव रखते हैं। बड़े-बड़े आदमी भी रुपया बचाना चाहते हैं। नाई की दूकान पर जाने में उनकी शान घटती है और अच्छे नाई को घर पर बुलाने में जेब कटती है। हाँ, तो बेनीरामजी बाल काटने में अपने को किसी से कम नहीं समझते। किन्तु उस कला में उनकी गति उतनी ही है, जितनी कि मेरी बङ्गला बोलने में (बङ्गाल पहुँच जाऊँ तो भूखा-प्यासा नहीं मरूँगा)। उनकी बाल काटने की कला में मुझे इससे अधिक योग्यता की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि भगवान् ने मुझे निर्धनी रखकर भी खल्वाट बना रक्खा है। किन्तु जब कभी छठे-छमाहे किसी प्रकार वे मुझको बाल काटने को राजीकर लेते हैं, तो आध घण्टे तक पीछा नहीं छोड़ते। मेरे अवकाशाभाव की बात को इतना ही सत्य समझते हैं जितना कि लेखक लोग लौटाए हुए लेख पर 'स्थानाभाव के कारण सधन्यवाद वापस' के हृदयद्रावक सम्पादकीय नोट को।

साधारण शेव में भी बेनीरामजी कलाकार का कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व निभाना चाहते हैं। एक बार के शेव में उनका सन्तोष नहीं होता है। वे सच्चे कर्मयोगी हैं, जब तक मन भरकर अपनी कला का प्रदर्शन न कर लें, तब तक वे अपने को कृतार्थ नहीं समझते। पैसे से उनको मतलब अवश्य रहता है, किन्तु यजमान की इच्छा के विरुद्ध भी, जब तक काम पूरा न कर लें, तब तक वे अपने को कर्त्तव्यच्युत समझते हैं। भले आदमी की जबान की भाँति मैं शेव भी दो

बार नहीं चाहता, किन्तु मेरे नापित महोदय इसको मेरी सबसे बुरी आदत समझते हैं। कभी-कभी मुझे उनकी इस बात से सन्तोष होने लगता है कि यदि मुझमें सबसे बुरी आदत यही है, तो वास्तव में भला आदमी हूँ। जब कभी उनका उस्तरा भौंहों की साज-सम्हाल की ओर अपने आक्रमणकारी पग बढ़ाता है, तब समय के उस दुरुपयोग पर मुझे सात्विक क्रोध आ जाता है और भगवान् से 'त्राहि माम् ! त्राहि माम् !' की पुकार कर मैं प्रार्थना करने लगता हूँ कि 'हे ईश्वर, मुझे ऐसे कर्त्तव्यपरायण कलाकारों से परित्राण दे !' वे इस क्रोध को सच्चे तपस्वी की भाँति क्षमा कर देते हैं। 'क्षमारूपं तपस्विनाम्।'

अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों की भाँति वे भी चलते-फिरते समाचार-पत्र हैं और चूँकि मैं कोई स्थानीय पत्र नहीं खरीदता, मैं उनकी इस वृत्ति का स्वागत करता हूँ। विशेषकर साम्प्रदायिक झगड़ों के दिनों में उनकी यह सेवाएँ बहुमूल्य थीं।

मैं चाहता हूँ कि उनमें कुछ सुधार हो, किन्तु वे चर्चिल की भाँति अपरिवर्तनवादी हैं। 'कारी कामर चढ़े न दूजो रंग'। मैं भी उनको अपने दोषों की भाँति 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' के न्याय से अपनाए हुए हूँ। मुझसे जिजमान तो उनके लिए बहुत से हैं, किन्तु मुझे इतना सुलभ नाई कठिनता से मिलेगा। वे मुझे राजामंडी तक के यातायात के कष्ट और नाई के सेलून की प्रतीक्षा की झंझट से बचाए रखते हैं। इसीलिए उनमें सफाई की अव्यवस्था होते हुए भी कविकुल-गुरु कालिदास की 'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' वाली बड़े-बड़ों की कलङ्कमोचनी उक्ति के आधार मैं उस अवगुण की उपेक्षा कर देता हूँ और निस्संकोच मैं उनसे कह देता हूँ कि हमसे तुमको बहुत हैं, तुमसे हमको नाहिं।

●

माखनलाल चतुर्वेदी
[सन् १८८९—१९६८]

रंगों की बोली

(अपने तरुण कूंचीधारी को एक पत्र)

चित्रकार मेरे,

कला के हृदय में पहुँचना होगा। ऐसा न हो कि बाहर के आकर्षण तुम्हें वस्तु की अन्तरात्मा तक पहुँचने न दें। जब बाहर के चित्रण पर भीतर की भावना प्रतिबिम्बित हो उठे, तभी तो चित्रण चमके—आवरण में आवेश और आत्मसमर्पण दोनों झाँक सकें।

तुमने लोगों से बोलने का व्यापार बढ़ाया कि रंगों को अपनी वाणी बोलने में घबराहट होने लगेगी। किन्तु तुम अपना सब कुछ रंगों में बोलने लगे, तो देवत्व तुम्हारे घर बैठे दौड़ता आवेगा। उच्चारों पर अधिक न भटक, आकारों को तुम अपने जी की बात का उच्चार करने दो।

नाम धरनेवाले एक ही श्रेणी के नहीं होते। एक वे होते हैं, जो तुम्हें विषयी, लालची, स्वार्थपर, धोखेबाज—न जाने किन-किन नामों से पुकारेंगे। कुछ ऐसे भी होंगे, जो तुम्हें ईश्वरमय, भक्ति-प्राण, प्रभु का संदेश वहन करनेवाला, पूर्ण पुरुष, संकेत पुरुष, रहस्यमय, संस्कृति का अवतार, शुद्धिवादी, अन्तः स्फूर्तिवादी और जन्मतः प्रगतिशील कलाकार कहेंगे, अपने असंस्कृत आकर्षणों ऐसे ही सुसंस्कृत नाम दे-देकर तुम्हें पुकारेंगे। मेरे भाई, ये दोनों ही तुम्हारे ध्यान का पथ-भंग करते हैं। एक की अश्रद्धा यदि तुम्हारे तमोगुण को उकसाती है, तो दूसरे की श्रद्धा श्रद्धास्पद को आसपास बिखरे हुए श्रद्धा के दाने बीनते रहने के लिए रोक रखती है, वह तुम्हारी सूझ की उड़ान के पंखों में पत्थर बनकर अटक पड़ती है। श्रद्धा स्नेह, उत्तरदायित्व और विश्वास की वस्तु हो, वह तुम्हारे रुके रहने का स्थान नहीं होनी चाहिए। तुम्हारा पथ तो दोनों 'पथ-भ्रमितों' से बचकर हो। श्रद्धा को जरा सिर से ऊँचे पर छोड़कर और अश्रद्धा

को जरा नीचे पर रौंदकर। सच्ची साधारणता, असाधारणता से कहीं सच्ची, कहीं ईमानदार, कहीं यथार्थ 'प्राप्ति' है। असाधारणता की धारणा के अभिशाप से बचकर चलो राही !

रंगों पर उतरनेवाले गायक, अपनी कला-यात्रा में, भड़कीले रंगों के डाँड़ों से ही जीवन-नौका चलेगी, यह मत सोचो। लकड़ी का कोयला उठाकर, दीवार या कागज पर अन्तःकरण उतार चलो । फिर पानी में स्याही डालकर, अन्तर की दुनिया आँखों पर लाकर, कूँची पर ले आओ। कभी कुछ रेखाएँ देकर प्राणों की आकृति दे दो; कभी रेखा पर रेखा को समुद्र-सी तरंगायमान कर वस्तु को विस्तार दे दो; कभी एक रेखा से दूसरी रेखा के बीच, गहरा, गरबीला, संकेत-दाता अन्तर देकर लाँबी-सी खाली जगह छोड़कर, शून्य में वस्तु का भान कराके प्राण भर दो।

चिउँटी-सी गति से, पत्ती पर फिर फूलों पर, जाओ। चिउँटी अपनी बाँबी में लौटने को लाचार होगी, किन्तु तुम्हारी तो कली ने सिर उठाया; पत्ती उस कली के दायीं ओर से जरा उसके कान में कानाफूसी-सी करने लगी; और दूसरी कली ने जहाँ जरा-सा मुँह खोलकर झाँका कि तुम पूर्णता की उस बाँबी में पहुँच गए, जिसे ढूँढ़ने तुम्हारी अँगुलियाँ, रंग लेकर कागज पर उतरी थीं।

अँगुली ही तेरी जीभ है चित्रकार ! जिन ऊँचे-ऊँचे पर्वतों, हरे-भरे मैदानों, घनी-घनी झाड़ियों, दौड़ते-से झरनों, उठते-से पौधों, गिरते-से प्रपातों, कुछ ढूँढ़ते-से मार्गों, कुछ घने पथ में बिलम जाती-सी पगडंडियों, कुछ दूर भागने को कहती-सी गुफाओं और कुछ नजदीक आने के लिए कराहती-सी झोपड़ियों का चित्रण जब कवि करता है, तब बोली उसकी अपनी हो जाती है; किन्तु जब तेरी कूँची के हाथ बढ़ते हैं, तब वे अन्तर ही नहीं देते, आकार भी देते हैं। हरा-हरा जंगल कोयले से खींची काली तसवीर में ऐसा उतर आता है कि मानव-रुचि हरीतिमा की कमी ढूँढ़ने के बजाय दरख्तों के परिन्दों की खुली चोंचों का स्वर-सा सुनने लगती है। विधाता गिरफ्तार है कि उसकी हर उग जमीन पर होगी; किन्तु रंग-प्राण ! तुम तो जमीन पर, कागज पर, कपड़े पर, रेशम पर, पर्दे पर, जहाँ चाहो वहाँ, विधाता बनकर बैठ जाते हो। पिता का यह पक्षपात है कि पुत्र को अधिक दे। विधाता का यह पक्षपात तो देखो कि उसने अपने लिए मिट्टी रख ली, तुम्हारे सर्जन के लिए जमाना छोड़ दिया।

दुनिया अभी-अभी रक्त से नहाई है; किन्तु सारे मुर्दे उठाकर फेंक दिये गए। केवल अस्पष्ट रहस्य से भरी और अन्तरंग पूजा-भाव से रोती प्रार्थनाएँ मात्र उनके नाम पर हो जाती हैं, सो भी विजेता देशों में ! मानो हस्तियाँ

किंवदंतियों के चरणों में न्योछावर हो गई हैं। किन्तु शताब्दियों से चित्रों में विचित्र रंगों के लोगों ने युद्धों में भी सँभालकर रखा है कि कहीं उनकी कला नष्ट न हो जाय। कोटि-कोटि नरमुण्डों के बलिदान में भी रंगरथी, तेरी कलम की गतियां, तेरी रंगीन स्मृतियां, पीढ़ियाँ सँभालकर रखती आई हैं। तेरे रंगों का एक खिलवाड़ पीढ़ियों का पोषण और उत्तरदायित्व बन जाता है। रेलगाड़ी के डब्बों-जैसी तंग कोठरी में हिमालय से दूर जाती हुई गंगा के गद्य किनारों पर जो ऊँचाई-निचाई से सर्वथा रहित हैं, किसी तंग शहर की घनी बस्ती की घिनी गलियों में, जब तू अपनी आंखों के हिंडोलों को, रँगरलियों के साथ कागज पर उतारता है, तब उस पर बर्फीला महान् नगाधिराज हिमालय और उसके आसपास के लांबे-लांबे वे मैदान, दर्शक को यह भुला ही देते हैं कि वह नगर के नरक में खड़ा है कि चित्रकार की कूंची के स्वर्ग पर चढ़ गया है। जब तेरे चित्रों की चाह के दर्शक की आंखें तेरी कला के वृक्ष के कांटों से ऊलझतो हैं, तब अपनी आकृति से अमर हर कांटा, पुतलियों को वृक्ष के फलों-सा मीठा स्वाद दे जाता है।

भयभीत होने की जरूरत नहीं कि घर में कभी कोई चित्रकार नहीं हुआ। चित्रकारों के खानदान नहीं हुआ करते, शेरों की भीड़ नहीं हुआ करती, आसमान की बिजलियां सौ-सौ मिलकर रास नहीं रचा पातीं। तुम अकेले आए हो पंथी, तुम्हारी जात तुम्हारे बाप-दादों की परम्परा में नहीं; तुम्हारी कल्पना, कलम, कलह, केलि और कलरव से भीगे तुम्हारे रंगों के उत्थान और पतन में लिखी है।

तुमने अपने रंगों का बोझ अकेले ढोया है। एशिया से अमरीका की-सी दूरी पर स्थित आंखों से अँगुलियों तक आने में, कला का बोझ ढो ले जानेवाला कोई मजदूर भी तो तुम्हें नहीं मिला। फिर अपनी कला के गौरव को लोक-लोक तक पहुँचाने के लिए एजेंट क्यों ढूंढ़ते फिरते हो? क्या तुम्हें अपने सपनों की घनिकता की दूकानदारी के मुनीम चाहिए? सपनों का मुनीम भी तो कोई सपना होगा भाई! सूरज की रोशनी के तो कहीं विज्ञापन नहीं छपते? अपनी धारा की पहचान तीर्थ-यात्रियों को करानेवाली कौन-सी 'एडवरटाईजिंग एजेन्सी' गंगा ने खोल रखी है? यदि दर्शन की भक्ति से विह्वल पीढ़ी तुमसे पैदा न की जा सके कलाकार, तो सिक्कों की छनाछन के मुनीम तुम्हें कलाकार नहीं कहलवा ले जा सकते। अरे, तुम गुस्से से कूंची छिड़क दो, तो सफ़ेद कागज नीला आसमान हो जाय, और छिड़के हुए छींटे उड़ते हुए सारसों की श्रेणी बन जायँ।

गाय पर एक गायक ने गीत गाया। गीत गानेवालों की जात ने उसे समझा, गायक के हाव-भाव को समझा; किन्तु गाँव का कोई ग्वाला वहाँ न पहुँचा। नन्हें बच्चों ने उधर ध्यान नहीं दिया। स्वयं गायें तो उस गान से इतनी बे-वास्ता रहीं, जितना जोर से प्रार्थना करनेवालों से कदाचित् भयभीत भगवान् रहा करता है। उसके बाद चित्रकार ने गाय के कद की एक गाय बना दी। बच्चों ने 'गाय' 'गाय' कहकर तालियाँ बजाईं; ग्रामीण अपनी-सी चीज समझ-कर देखने लगे, और अचम्भा तब हुआ, जब मेरी श्यामा उसके कानों के पीछे उसकी गर्दन चाटने ही जा रही थी कि उसकी सक्रिय सराहना का बदला लाठी से चुकाने मैं दौड़ा। कलाकार, तुम हो कि वस्तुओं को आकार देकर, अग-जग मोहित कर लेते हो।

विद्वानों की दुनिया में सीमारहितता उन्हें अमरत्व प्रदान करती है। कला की दुनिया में, आकारों और निर्माणों की सीमा ही उन्हें अमरत्व देती है। एक ही पंखिनी तुम्हारे द्वारा बार-बार, सौ बार बनाए जाने पर, नए चार सौ प्रकारों से दीखने लगती है। हर वक्त, उसकी सूरत नई, उसकी सुन्दरता नई, उसका चाव नया, उसकी पकड़ नई। रेखाएँ वही हैं, किन्तु तुम्हारी आकांक्षाओं की हिलोर से, या तुम्हारी सूझ की फूंक से, इधर से उधर हुई, और तुम्हारी नई आकृति, नई वस्तु, नया प्राण दे गई।

सच्चे कलाकार का अपनी कला के प्रति कुछ ऐसा मोह होता है, मानो कला के सृजन में, उसने कोई अपराध किया है, और उसे पारखियों के सामने रखकर, वह मानव-रुचि का अपमान नहीं करेगा; किन्तु इस नगण्यत्व में से कलाकार को ढूंढ़ती हुई सहल-सहल मानव-गणना का जन्म होता है। मानो कला अस्तित्ववान् की ऊँच की साँस है, जिसे पाए बिना, वह जीवन का रस नहीं पा सकता। कवि का स्वर कानों का सौदा है; किन्तु चित्रकार, मूर्तिकार और नर्तक का खेल, आँखों के आँगन से होकर, आनन्द के अनन्त पुरुष की अगवानी है। कृष्ण के विरह में रोती हुई राधा, अशोक वाटिका में शोकमयी सीता, और कलकत्ते के दंगे में ब्रिटिश गोलियों से घायल हुई घोबिन, चित्रकार, विश्व-गौरव के बाजार में, ये तीनों विभूतियां, कला के सुकोमल कलश पर एक साथ, एक स्वर में, एक मूल्य पर दीख पड़ती हैं।

एक चित्रकार ने अपनी रचनाओं का संग्रह कर दिया। चित्रों में महल थे, झोंपड़ियां थीं, झरने थे, नदियां थीं, इन्सान थे, दरिन्द थे, साँप थे, परिन्द थे। कोई कहेगा, क्या-क्या था? कोई पूछेगा, क्या नहीं था? उस 'अलबम' पर एक वाक्य लिखा था। क्या चित्रों की संख्या थी? क्या चित्रों की सूची थी? क्या

रंगों की प्याली थी ? क्या उसकी अपनी कूँची थी ? नहीं, वहाँ यह कुछ नहीं था। उसकी पुस्तक का, यह पृष्ठ नहीं, मुखपृष्ठ था। उस पर लिखा था—'लाज लगती है, इसे कोई न देखे।' वह एक अमरीकन युवती चित्रकार थी, उसका नाम था—जार्जिया वोकीफ। और उसके चित्रों को लाख-लाख अमरीकनों ने देखा। कलाकार का प्रकट होना, अस्त होना है; और छुपना प्रकट होने से बदतर प्रकट होना।

*　　*　　*

तेरे चित्रों से आनेवाले जीवन को, जो केवल जीवन के संकटों को, वर्तमानत्व की शराब से बेहोश होकर और कल बीते और कल आनेवाले युगों का बोझ न सँभालनेवाली बुद्धि रखकर अपनाते हैं, वे कैसे पहचानें, कलाकार ? बाजार में बिकते हुए रंग और तेरी कला में प्राण पाते हुए रंग के बीच की लांबी यात्रा को वे पहचानें, जो मन्दभागी साँसों की रेलगाड़ी में केवल समय का पाद-प्रहार पाकर गिर पड़ते हैं और आती-जाती वायु-भरी लाश का बोझ ढोते चले जा रहे हैं ? अजन्ता, अलोरा और ऐसी ही गुफाओं में, एकान्त चट्टानों पर शताब्दियों से बोलते हुए विचित्र रंगों और मुद्रित आकारों को देखते हुए भी, पश्चिम की रंगहीनता बोली—"भारत में चित्र की कला नहीं थी !" भारतीय कलाकार का अपराध यही था कि उसने पत्थर पर लकीरें खींचीं, और कबीर की इस वाणी के विश्वास को शताब्दियों पहले से दुहराया कि "यह संसार कागज की-सी पुड़िया, बूंद पड़े गल जाना है !" इसी लिए उसने अपनी कोमल कलम पत्थर पर चलाई और अमर सपनों को क्षणभंगुर कागज पर नहीं लिखा।

पश्चिम अगर प्रश्न-चिह्न बनकर ही आता, तो रंगों के अमर वैभव के ओ गायक, तुझे जीने के लिए जगह थी; किन्तु वह तो तेरे अस्तित्व की नकारात्मकता लेकर आ रहा था—'सब कुछ मेरे पास है, तेरे पास कुछ नहीं' लेकर ! दुख तो यह था कि 'सब कुछ' और 'कुछ नहीं' का यह बँटवारा तेरे युग और तेरी पीढ़ी ने भी मान लिया! पश्चिम की 'स्वीकृति के सिर हिलने' के दाँव पर भारतीय संस्कृति और मानवता के सारे मूल्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष चढ़ा दिए गए। यदि पश्चिम के प्रचार में पूर्व एक बड़ा-सा 'शून्य' था, तो हम पूरब के अभागों के लिए पूर्व का अनस्तित्व एक प्रश्न-चिह्न से अधिक नहीं था।

एक धनिक को गर्मी का मौसम कुछ ऐसा सताता कि उसे अपने बदन पर पौष-माघ के दिनों में भी पंखों की जरूरत होती और फाल्गुन-चैत्र ही से रात में भी। ये 'बिजली गिरने भर' के युगों की बात है, मानव की अँगुली से दबकर पंखे चलनेवाली बिजली के दिनों की बात नहीं।

हाँ तो, दिन भर पंखेवाले मिलें, कुछ रात तक भी मिल जायँ; किन्तु सारी रात जिसे पंखा सौंपा जाय, उसकी ऊँघ में पंखा पड़े धनिक के सिर !

विशेपज्ञ बैठे। 'प्रतिमाहीन' धन के लिए भी कितनी प्रतिमाएँ किराये पर नहीं मिल जातीं ? रात भर पंखा चलना चाहिए—समस्या यह थी।

एक प्राणी पकड़कर लाया गया। उसकी आदत, कि जो चीज पकडे, छोड़े ही नहीं। और इतना चंचल कि वह स्थिर हो तो मौत के बाद, प्राण और स्थिरता जहाँ साथ-साथ न चलें।

'मिल गया।' उसे पकड़कर 'रईश जी' के पलँग के पास कुछ दूरी पर बैठा दिया गया। और मदारी के डमरू पर कुलांटें सीख जानेवाले, उस प्राणी को कठघरे में बैठाकर, झूलते हुए पंखे की डोर को, उसे खींचना और ढीला करना सिखा दिया। पंखा चलने लगा। अब सुबह पंखा, शाम पंखा; दिन पंखा, रात पंखा।

डार्विन साहब की धरती पर मानव का पूर्व-पुरुष, मानव का पंखा चलाने आ गया।

आ गया सो आ गया। किन्तु हमने पश्चिम के द्वारा हमारे हाथों गहाई हुई धारणाओं की रस्सी को भी इसी तरह पकड़ लिया है। रस्सी खिंची, पंखे हिले; आराम पश्चिम ने पाया, कठघरे में बन्द पूरब के हाथ रस्सी रही। जापान के उगते हुए सूर्य के प्रकाश ने कुछ जोर बाँधा था, सो अब वह भी कठघरे का बन्दर हो गया।

किन्तु, कलाकार, हम तो 'मित्रों की जय' दो शताब्दी पहले से बोलते चले आ रहे हैं। जानकारी, प्रतिमा और सौन्दर्य—जो कुछ आत्ममंथन हमारे साहित्य और हमारी कला में था, उसे डूबते देखकर कभी-कभी हमारे शत्रु तक को आँसू आ गए। किन्तु हमारे शरीर से तो ऐसी केंचुली-सी उतर गई, मानो वे गुण हमारे जीवन के अंग ही न थे। इस समेट में बौद्ध-कला पिसी, जरथुस्त-कला पिसी, मुगल-कला पिसी; तिल-तिलकर कला के प्राण जा रहे थे और हम गा रहे थे—'दाता की जय हो'—हमारा विधाता, हमारी रोटियाँ जो रह गई थीं !

शोधकों ने शोध किए—मानो राजपूताना में प्यास लगी और सह्याद्रि पर पानी बरसा। शोध में भारतीय कला के रवदान, अभिमान और विशालता के विधान का गुण-गान हुआ। आसमान से चीज आयी, किन्तु मुहाफिजखाने की कांचनजंगा-चोटी पर चमकीला पत्थर बनकर बैठ गई। सब गलियों और कूचों में मजदूरी करते हुए, साँस भरनेवाले कलाकार, तेरे पास देवत्व कौन पहुँचाता ?

जिसके लिए, जागते-जागते सपने ढूंढ़नेवाली, सपनों में शताब्दियों का जागरण बाँधनेवाली, तेरी आँखों की पुतलियों में सौ-सौ-गुनी प्यास थी, और तेरे रंगों से भीगी कूंचियों में हजार-हजार-गुनी तलाश थी ? झोपड़ियों की कला महलों-जैसे खयालों और महलों-जैसे कीमती ग्रंथों के नीचे कुचली जाकर कब से अपनी प्रतिमा भंग कर बैठी थी !

बाल की खाल निकालकर, फूलों की अँतड़ियों में मसल-मसलकर सुगंध ढूंढ़नेवाले पारखियों ने भारत की परीक्षा की। विज्ञाता पश्चिम जब तक हाँ न भरे, तब तक भारत में चित्र ? मूर्ति ? काव्य ? कला ?—भला यह कौन माने ?

आखिर पश्चिमी प्रवाह में हमने चश्मोंवाली आँखें पाईं और लौटकर जो अपना घर देखा, तो हम अवाक् रह गए। अटलांटिक अटलांटिक हो, किन्तु हिमालय भी हिमालय ही है। अनेकान्त के जंगल में आज हम एकान्त की साधना की ओर लौटने को बाध्य हैं। पश्चिमी विशेषज्ञ हमारी कला को शून्य मानता था; वह अब हमारे रंगों में अंक ढूंढ़ने लगा। बाजार से नारी, नर्तकी और प्रकृति के अनेकानेक चित्रों से सजे जापानी परदे हम खरीदते थे; क्योंकि हमारी कला तो कुछ अपवादों को छोड़कर उन अधिकांश वैष्णव और शैव मूर्तियाँ रह गई थीं, जिनमें पूजा के पुराण-पुरुष की प्रतिमा-हीनता ने छोटे बच्चों के खिलौने की तरह आंख की जगह आंख, नाक की जगह नाक और हाथ-पांव की जगह हाथ-पांव बनाकर आराधना-वेदियों पर बैठा आदर से बैठा दिया है। अपने समस्त हाव-भाव तथा बेचैनियों और उल्लासों को लेकर, हमारे सांस्कृतिक ग्रंथों और विश्वासों को सम्पूर्ण अतिमानव और मानव ने हमारी कलम पर उतरना सीखा ही नहीं। बौद्ध-युग और जैन-युग की मूर्तियों के हत्यारे हम 'हस्तिनाताड्यमानोऽपि न गच्छेत जैन मंदिरम्' के जहर की खैरात पीढ़ियों को बाँटते आनेवाले हम! क्या मूर्तियों के प्रति घृणा बोनेवालों की कलम पर मूर्तियों की कला उतरकर आती ? हमने युग बदलते समय मूर्तियों की मूर्तियों से नकल की। नकल पत्थर रह गई, और असल को शताब्दियों की उपेक्षा ने खँडहर बना डाला। हमारा सहस्राब्दियों का संचित मूल, अन्धकार में गुम गया और उसका ब्याज पश्चिमी धारणाओं के विलास में उड़ गया। प्रतिभा के द्वार के दारिद्र्य का यह अस्तित्ववान् वैभव अपनी सूझ की पीठ पर लादे, भीख माँगते हुए भी महाराज कहलाने में गौरव अनुभव करते हुए, हम चले आ रहे हैं। जीवन पर बस होता, तभी न कूंची में रस होता ? हमारा 'शून्य' को ब्रह्म मानना यों सार्थक होना था, सो होकर रहा।

कलाकार युगों के पन्ने उलटने से, अमर सत्य के पन्ने नहीं पलटा करते।

ऋतु बदल जाने से कभी भी बरसात पुनः आना नहीं भूलती। पश्चिम तत्वज्ञ है; कला उसके जीवन के उतार-चढ़ाव का अर्थ है। पश्चिम कोटि-कोटि को एक 'कहने' पर 'लाचार' कर सकता है; किन्तु कोटि-कोटि में 'प्रेम' की 'एक झाँकी' देखना, यह उसके बूते का रोग नहीं दीखता। अतः उठ कलाकार, तू अपनी इकाई को चित्रित कर। उस वृक्ष पर, जहाँ कली फूल बना रही हो; उस जमीन पर, जहाँ वृक्ष उठ रहा हो और फूल झर रहे हों—जहाँ उम्मीदें हरी हों और प्राप्ति फेंकी जा रही हो—जहाँ काँटे प्रहरी हों, और सुगंधायमान कोमलता चरणों पर उतार डालने की वस्तु हो! यह गर्जन, यह उभाड़, यह अँधेरा, यह नमी, यह बूँदें, यह प्रवाह, यह परिन्दे और वह शेर की दहाड़—रंग की कलम पर चढ़कर आने दे कलाकार, कि दुनिया जाने कि कलाकार का एकान्त कोटि-कोटि घमासानों की बस्ती है—उसका बिन्दु कोटि-कोटि तरलताओं का उछाल है। उसकी चिनगारी की इकाई, कोटि-कोटि ज्वालामुखियों का उभाड़ है। पर्वतों की ऊँचाई और सागरों की गहराई की नाप आकार का अर्थ देनेवाली किसी कलाकार की दो लकीरें हों प्यार मेरे!

०

जयशंकर प्रसाद
[सन् १८८६—१९३७]

यथार्थवाद और छायावाद

हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियां हैं, जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं। साहित्य के पुनरुद्धारकाल में श्री हरिश्चन्द्र ने प्राचीन नाट्य रसानुभूति का महत्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भावधारा को वेदना तथा आनन्द में नए ढंग से प्रयुक्त किया। नाटकों में "चन्द्रावली" में प्रेम-रहस्य की उज्ज्वल नीलमणिवाली रस-परम्परा स्पष्ट थी और साथ ही "सत्य-हरिश्चन्द्र" में प्राचीन फलयोग की आनन्दमयी पूर्णता थी; किन्तु "नीलदेवी" और "भारत-दुर्दशा" इत्यादि में राष्ट्रीय भावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई।

श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। "प्रेमयोगिनी" हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी का समझता हूं। प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी में उसी समय प्रारम्भ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्थावाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिन्दी में उसी समय आरम्भ हुआ। 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' वाला सिद्धान्त कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल के सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिचन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थ-वाद भी पल्लवित होता रहा।

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टि-पात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक

है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। भारत के तरुण आर्य्य संघ में सांस्कृतिक नवीनता का आन्दोलन करनेवाला दल उपस्थित हो गया था। वह पौराणिक युग के पुरुषों के चरित्र को अपनी प्राचीन महत्ता का प्रदर्शन मात्र समझने लगा। दैवी शक्ति से तथा महत्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, संकीर्ण संस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युगवाणी में प्रकट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात्र उसी दिन हुआ, जब गवर्नमेण्ट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढंग की भाषा का समर्थन किया और भारतेन्दुजी को उनका विरोध करना पड़ा। उन्हीं दिनों हिन्दी और बंगला के दो महाकवियों में परिचय भी हुआ। श्री हरिश्चन्द्र और श्री हेमचन्द्र ने हिन्दी और बँगला में आदान-प्रदान किया। हेमचन्द्र ने बहुत सी हिन्दी की प्राचीन कविताओं का अनुवाद किया और हरिश्चन्द्र ने "विद्यासुन्दर" आदि का अनुवाद किया।

जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरणस्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलतः आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर—जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही सम्बद्ध होती थीं—मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरम्भ होता है। भारत के लिए उस समय दोनों ही आवश्यक थे—यहाँ के दरिद्र जनसाधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किन्तु जनसाधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में विश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेकदम्भपूर्ण आडम्बरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य, जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे, वही क्षुद्रता में महान् दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख-संवलित मानवता को स्पर्श करनेवाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।

आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का

पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है, परन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं। और वास्तविक चित्रों में पतन का उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निन्दनीयता भी—जो सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित रहती हैं—अपनी सत्ता बनाकर दूसरे रूप में अवतरित होती हैं। वास्तव में कर्म, जिनके सम्बन्ध में देश, काल और पात्र के अनुसार यह कहा जाता है कि वे सम्पूर्ण रूप से न तो भले हैं और न बुरे हैं, कभी समाज के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं, कभी त्याज्य होते हैं। दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जानेवाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता करने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रगट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूँढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह संदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है, स्त्री नारी है और पुरुष नर है; इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।

वेदना से प्रेरित होकर जनसाधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्मनिरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूलभाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं, साहित्यकार को आदर्श-

वादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता; क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें शिव-मंगल की भावना ओतप्रोत रहती है।

सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है, वह महत्व और लघुत्व दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरण का संकेत कर सके, तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य साहित्य ही बना।

* * * *

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से, जिसमें वाह्य वर्णन की प्रधानता थी, इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नए ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक भाव से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा वाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यान्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया : भवभूति के शब्दों के अनुसार—

> व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोपि हेतुः
> न खलु वहिरुपाधीन प्रीतयः संश्रयन्ते।

वाह्य उपाधि से हटकर आन्तरहेतु की ओर कवि कर्म प्रेरित हुआ। इस

नए प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे। किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समाप के शब्द भी उसे शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थबोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्य्याय-वाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतंत्र लावण्य रखता है। मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अङ्ग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य भंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। कुन्तक के मत में ऐसी भणिति शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबद्ध व्यतिरेकी होती है। यह रम्यच्छायान्तर—स्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह उज्ज्वला छायातिशय रमणीयता वक्रता की उद्भासिनी है।

कभी-कभी स्वानुभव सम्वेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—वे आँखें कुछ कहती हैं। अथवा—

निद्रानिमीलितदृशो मद मन्थराया
नाप्यर्थ वन्ति न चयानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या—
स्तान्य क्षराणि हृदये किमपिध्वनन्ति॥

किन्तु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया।

यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनन्दवर्धन के शब्दों में—

मुख्या महाकवि गिरामलंकृति भृतामपि
प्रतीपमानच्छायैषाभूषालज्जेव पोषिता ।।३-३८।।

कवि की वाणी में यह प्रतीपमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी सुलभ श्री की वहिन ही है, घूँघटवाली लज्जा नहीं। संस्कृत साहित्य में यह प्रतीपमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनव गुप्त के लोचन में एक स्थान पर लिखा है—'परां दुर्लभां छायां आत्मरूपतां यान्ति।'

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थवैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था।

'निरहंकार मृगाङ्क', 'पृथ्वीगत यौवना', 'सम्वेदन मिवाम्बरं', मेघ के लिए 'जनपद वधू लोचनैः पीयमानः' या कामदेव के कुसुम शर के लिए विश्वसनीय-मायुधं—ये सब प्रयोग वाह्य सादृश्य से अधिक आन्तर सादृश्य को प्रकट करने-वाले हैं।

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं।

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरंभ हुए, तो कुछ लोग चौंके सही; परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्यजगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। वाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब 'वहति विकलं कापोन मुञ्चति चेतनाम्' की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिर बन्धन में बांध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है, उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए।

हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनु-सरण किया है। कुन्तक के शब्दों में 'अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि' के कारण

कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टतावाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है कि जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृङ्खल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो; परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिविम्ब है। इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्यधारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भावसमर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति—छाया कान्तिमय होती है।

●

राधिकारमण प्रसाद सिंह
[सन् १८९१—........]

गुड़गुड़ी

गुड़गुड़ ! गुड़गुड़ ! यह क्या ? आप चौंक क्यों पड़े—बेतरह खिंच क्यों गए ? यह कोई अनोखी आवाज नहीं, अशरीरी वाणी नहीं। आप अपने घर में या अपने दोस्त के घर में अपने ही मुख से या अपने पूत के मुख से इस गुड़गुड़ गाने को सुनते ही रहते हैं, लेकिन इस समय कुछ ध्यान नहीं ! सच है, सूरज की रोशनी आपके घर में, बाग में, आँगन में, साल भर दिन-दिन खेलती रहती है और आपका ध्यान कभी उस तरफ नहीं खिंचता। हाँ, यदि रंगीली बिजली बदली में तड़प उठे या बारूद के खिलौने आकाश में चमक पड़ें, तो आपकी आँखें उस क्षणभंगुर चमक पर अवश्य दौड़ जाएँगी, किन्तु उस चिर प्रसन्न जगज्जीवनी ज्योति पर भूले भी नहीं देखतीं। क्यों न हो, आजकल सभी को कुतूहल या नवीनता सूझती है। फिर इस विश्वव्यापी चिर मधुर घर के बाजे पर ध्यान क्योंकर फिरे।

अब भी समझे, यह जल भरे झुके-झुके मेघों की गुड़गुड़ नहीं, वसंत वैभव में विभोर पलाश-पल्लव की मर्मर नहीं, वर्षा-सोहाग से पागल किसी स्रोतस्विनी की झरझर नहीं। वह आवाज इन सभों से कहीं निराली है, कहीं मधुर है। जो इस ध्वनि के अनुरागी हैं, वही जानते हैं कि कहीं पास से इस गाने को सुनकर वे भूलोक पर या देवलोक पर रहते हैं—शायद मयूर मेघों की प्रेमवाणी के टेर पर इसी तरह उठ बैठता है, जिस तड़प से आप सब इस गुड़गुड़ को सुनकर नाच उठते हैं, और उसी गाने को स्वयं गाने पर वार जाते हैं। हृदय मुँह पर आता है, मुँह में पानी भर आता है। कोई बंशी की कूक देकर वन के भोले पशु को भले ही खींच ले, आपने पहली रात अपनी नववधू के पाजेब की रुनझुन पर स्वर्गीय गान का अंदाज खूब कर लिया, तो आपने हारमोनियम से भी सुकोमल किसी कोकिल कंठ की काकली पर शत-शत बार तालियाँ पीट ली हों; किन्तु ऐसे क्षण भर के मधुर गुंजन आपको चिर दिन अपना अनुचर

वनाकर नहीं रखते—उनके बिना आपकी जान नहीं जाती—आपका दम नहीं फूलता। हां, यदि सालों-साल, दिन रात, क्षण-क्षण आपको या आपके दोस्तों को वेचैन नचाए मारती है, तो यही सामान्य समस्वर वेताल वेसुरा गुड़गुड़ ! कहिए अव उपाधि के योग्य कौन निकला ? हमारा सरल सर्वसुलभ गुड़गुड़ या लक्ष्मी के लाड़ले धनान्धों के महफिल में थिरकती हुई गौहर की तानों की थर्राहट।

यदि कहीं गरम तावा खिल रहा हो, तम्बाकू की मीठी-मीठी सुरभि तवे से मिल रही हो और गुड़गुड़ गुंजन कमरे में गूंज रहा हो, फिर आपके हृदय का आवेग समाज-वंधन पर आंखें तरेरे विना नहीं मानता। यदि किसी दोस्त का घर हुआ, तव तो आप 'अरे यार, दो कश इधर भी दो' कहते हुए टूट पड़े, या केवल जान-पहचान निकली तव "वन्दगी, मिजाज मोवारक, यह तम्वाकू तो वड़ी खुशवूदार है"—"तशरीफ लाइए—जी हां, कन्नौज से मँगाया है, ८०) सेर है—एक कश लेते न जाइए"—"माफ कीजिए, मुझे जरूरत नहीं" —"अजी साहेव, जरा देख तो लीजिए"—"जो इरशाद," के सरस आलाप-संलाप का होना कुछ दुर्लभ नहीं और एक कश के वदले चार, छः, दस वलिष्ठ कश ले लेना कुछ दुस्तर नहीं और जाते-जाते एक मर्मभेदी मसोस के साथ उस पीयूष प्लावी मुँहनाल को फिर दोस्त के हाथ में रखना अपनी सारी कमाई उनके हाथ में रख देने के खयाल से कुछ कम नहीं।

भोजनांतर मेरी पूजा होना अवश्य है। यदि कहीं सफर में जाना है या सरकारी आफिस ही को जाना है और दस वजने में कोई दस मिनट रह गए हैं, फिर तो आप आधी सूखी रोटी-दाल पेट में जल्दी-जल्दी फेंककर उठ गए और वस चटपट मुझ पर करन्दों की तरह लपटे। वीवी वा लड़केवाले अपना-अपना मुंह लिये खड़े ही रह गए और आप मेरे मुंह पर तीन-चार प्रमत्त चुंवन देकर कोट की वटन लगाते-लगाते चल दिये और कहीं वाजार से तम्वाकू लाने में दाई ने देर कर दी और इधर जाने का समय आ गया, फिर तो झंझावात भी उस झपट से नहीं टूटती होगी, जिस झपट से लालाजी अपने घरवालों पर टूटते हैं—घरनी पर दो-तीन प्रलय झिड़की, नौकरों पर मुष्टिका मर्दन—वस, इसी तरह उस आतुर गुड़गुड़ी-परायण हृदय-आवेग को निकालना पड़ता है। डांट-डपटकर चल तो दिए—लेकिन निखिल जगत्—उसकी सारी वातें निर्जीव नीरस निरानंद होकर देख पड़ीं। रामवाग की यात्रा जल यात्रा सी हो गई। प्रमोद वन श्मशान भूमि वनकर शून्य देख पड़ा। या कहीं आफिस जाना रहा, फिर तो दफ्तर वही में चित्त नहीं लगा और अफसर के भ्रू कुंचन या टुम टाम की चोट सहनी ही पड़ी। यदि आप कलकत्ते से छः महीने पर किरानीगिरी में

कुशल होकर विराट अस्थिपंजर, धूम-धूसर मुख, धंसी-धंसी आँखें, पेट और सर दर्द की बड़ी पूंजी लेकर घर लौटे, हाँ पतली सी छड़ी, कृष्ण कलेवर विकट निनादि डासन बूट, गले में फूलदार रूमाल की सुन्दर गाँठ और आँखों पर झूलते हुए बँगला फैशन के तैलस्तवी केश, गलियों में मारी हुई खेमटा, करण्टे टोपवालों की टूटी-फूटी अँगरेजी, जात-पाँति पर अनंत विद्वेष, विधवावृन्द पर अपार करुणा, होटल तीर्थ की एकांत उपासना, बहू-बेटियों पर विभ्रम कटाक्ष, नवीन सभ्यता के उच्च आदर्श इत्यादि-इत्यादि....अवश्य कमा लाये होंगे—फिर लड़के वाले कैसे हैं—घरवाली जीती-जागती है—इन सब बातों की पूछताछ कहाँ ? बस आते ही जेब से निकाल मेरे-नवजवान प्राणप्रिय आत्मज चुरट देव की आराधना में तत्पर हुए या बीबी से डपटकर मुझे बुला भेजे और बड़े चाव से शत-शत बार चाम चूम किए, तब घर के और सब धंधों की तरफ दृष्टि फेरी।

यदि कारणवश आपको किसी के यहाँ जाकर ठहरना पड़ा और उसने अपनी बिचारी घरवाली को जेठ की गरमी में पकाकर अच्छी-अच्छी चीजें पकवायीं, फिर खाने के समय मालूम हो कि यहाँ—ईश्वर ऐसी जगह को भूकंप से उड़ा दे—कोई भी मेरी पूजा नहीं करता, फिर तो आपके मुँह का रंग—माफ कीजिए—तम्बाकू के रंग में परिणत होता है और सामने सजे-सजे अंगूरी मुरब्बे, जाफरानी पोलाव, किसमिसी फिरनी, जेल की खिचड़ी की तरह रूखे-सूखे देख पड़ते हैं। मुँह से खाया कहाँ से जाय—दो बातें भी ऐसी नहीं निकलतीं कि पाक-कुशला पत्नी को प्रशंसा सुनने के लिए आतुर आपके मित्र को भी खाना अच्छा लगे या आपके पीछे की झिलमिली पर कान देकर खड़ी हुई किसी के हृदय के आवेग को शान्ति हो। आप तो बैठे-बैठे उस सुगंधिमय खाना खाने के बदले सौगंध खाते जाते हैं कि फिर इस मकान में कदापि नहीं आवेंगे। घर की मोटी खोटी रोटी इस पोलाव-प्लावित भोजन से कहीं प्रियतर है। फिर तो आप उस मकान पर ठहरना तो दूर रहे, आँखें उठाकर देख भी नहीं सकते। कुछ इसी दृष्टि से हिन्दू भी मुसलमान के मकान पर या सनातनधर्मी एक ही माँ के बच्चे आर्यसमाजियों के मकान पर देखते हैं, शायद यह समझकर कि विरोध का फल दिन-दिन पक-पककर बड़ा सुमधुर हो रहा है।

दुनिये में आजकल त्रिदेव की पूजा बड़ी प्रचलित है—लक्ष्मी की, काम की और मेरी। किंतु इन दोनों से कहीं सरल, कहीं सुलभ मेरी आराधना है। इसका आजीवन प्रचार है, जगतव्यापी प्रचार है। समय से ह्रास होने के बदले दिन-दिन प्रदीप्त होती है। लक्ष्मी की वंदना कुछ कठिन नहीं, चंचल के

चित्त का हेर-फेर, भाई-भाई में खेंचातानी, कुटुम्ब में सर पर यह निवेश, गली-गली में धूलिभक्षण ऐसे-ऐसे झमेलों को झेले विना यह दुस्तर यश निबट नहीं पाता और यदि काम की आराधना है, फिर तो पूर्व पुरुषों की लालित लक्ष्मी, शत वत्सर की कुल प्रतिष्ठा, एक सुन्दर स्वस्थ शरीर, इन सभों का विसर्जन किए विना आपके इष्टदेव प्रसन्न नहीं होते। मेरी उपासना ऐसी नहीं, दुनिये के ठोकरों का उठाना नहीं, दिन-दिन चिंता की चपत बैठती नहीं, जिसने एक बार भूले भी मेरी आराधना का सुख उठा लिया, उसकी श्रद्धा-लहरी फिर अंतरप्रांत से कुछ उसी वेग से उबलती है, जिस वेग से जल की धारा हिमाचल की चोटी से छूटती है; किन्तु समय पाकर यह स्रोत शिथिल नहीं होती, चट्टानों के टक्कर पर रुक नहीं जाती; वरंच जीवन के सायंकाल में जगजर्जर जीव का एकमात्र प्राण आशा या आनन्द में ही रहता हूं। जीते-जागते रहें भक्तगण, जिनके हृदय का एक-एक स्पंदन मेरे प्रणय संगीत को उठाता रहता है। जो सुबह में आँखें खोलते हैं, सबसे पहले मुझे पुकारते हैं और फिर दिन भर के चक्कर से थके-मांदे मेरी ही शरण में शांति लेते हुए सुख की नींद में आँखें बन्द कर लेते हैं।

आप इस विराट संसार में ऐसी एक भी जगह तो बता दें, जहाँ मेरी आराधना नहीं, पूजा मंदिर नहीं? कहीं सिगरेट, कहीं सिगार, कहीं हुक्का, कहीं नारियल, कहीं चरस, कहीं, चंडू इत्यादि—इन कई एक नामों से मैं दुनिये के एक सिरे से दूसरे सिरे तक व्यात हूं। परमेश को आप अल्लाह कहें, क्राइस्ट कहें या कृष्ण कहें, कुछ भेद नहीं; आप चाहे नंगे बदन होकर आठ भुजेवाली, शेर पर सवार, काली कलूटी मूर्ति के सामने खड़े-खड़े कपूर की बत्ती दिखाया करें या अपनी नुंगी का पुछल्ला खोलकर बार-बार बैठते-बैठते सर को जमीन पर लाया करें; कोट बूट टोप पहिनकर शत-शत चंचल कटाक्ष के साये में कुर्सी पर बैठे-बैठे किसी किताब के वरक़ को उलटा करें, बात एक ही रही, अपने-अपने देश की प्रथा के अनुसार एक ही जगद्गुरु की वंदना हुई। मेरी पूजा भी कुछ इसी तरह है, चाहे आप सिगरेट में दियासलाई लगाकर धूम्रपान करें या हुक्के पर खिला हुआ गरम तावा रखकर पान करें। सनातन धर्म से एक-एक चिनगी लेकर न जानें कितने लोग अपना-अपना घूईं रमाकर ताप रहे हैं, कुछ इसी तरह मुझसे भी चुरटादि जगतव्यापी कितने देवों का प्रादुर्भाव है। या यों कहिए, जहाँ जिस प्रकार के दुःख को दूर करना रहा, जहाँ जिसमें लोगों का जैसा सुभीता देखा, वहाँ वैसा ही आकार धारण कर अवतरित हुआ। बरफ से शीतल देश में हाथों हाथ चलता हुआ जेबवासी सिगरेट बनकर प्रकट हुआ और गर्मी से जलते देश में जलस्नात महफिल शोभी विराट शटक रूप से लोगों के

ताप को दूर किया। किंतु जो हो, गुड़गुड़ी मेरा दिव्य ब्रह्मरूप है, सोलहों कला का अवतार है।

कहिए, पाठक! आप सबमें से कितने ही इस समय तम्बाकू के धुँओं के साथ-साथ मेरी इस रामकहानी को पढ़ रहे हैं। मुझे आशा है कि आप सबके सब मेरे पुराने उपासक हैं और यदि एक दो न हों, तो ईश्वर उनके जीवन सफल करें। उनसे यही विनती है कि इस लेख को पढ़कर एक बार वे मेरी बातों की परीक्षा कर लें और फेनाइल छिड़िकने के बदले, गंध धूप जलाने के बदले दो रोज तम्बाकू के धूमामोद से अपने घर को परिष्कृत कर लें। पाठक-पाठिके! कहिए, यदि अचानक आपके हाथ से कोई हुक्का खैंच ले, वह आधी सूधी नशा मस्तिक से हट जाय, तब भी क्या इस आख्यायिका को आप भली-भांति पढ़ लेंगे? कदापि नहीं। मुंह से मुंहनाल को हटाते ही, आँखों पर की झीनी बदली हवा में मिलते ही, बनी-बनाई सारी बातें टुकड़ों में बँट जाती हैं। फिर दुष्यंत की प्रेम संगीत सुमधुर बोल नहीं सकती, विदूषक की ठठोली चित्त को लपेट नहीं लेती या शकुन्तला का चीत्कार हृदय में पैठ नहीं जाता। आप मानव जीवन से आशा खैंच लें—फिर किसका काल आया है कि जीने के लिए मरेगा? वैसे ही आप इस दुनिये से मुझको उठा लें, फिर पतझड़ की पत्तियों की रुखाई एक-एक मनुष्य के चेहरे पर देख लें। आप क्या समझते हैं? आप एक कविता भी ठीक-ठीक बिना तावा का दम खैंचे लिख लेंगे? लगानेवाली चीज मैं ही हूं। सुझानेवाली चीज भी मैं ही हूं। क्या कालिदास 'मेघदूत' की सृष्टि बिना मेरी सहायता ही लिये कर लेते? या शेक्सपियर ही बिना पाइप मुंह में रक्खे जगन्मोहन 'हैमलेट' लिख लेते या मानव अंतर के गूढ़ रहस्यों का पता पा लेते? आप कवि हैं, कविता लिखते हैं। सूखे वाक्यों में रस धारा या अट-पटी बातों में झनत्कार आपके लिए कुछ दुस्तर नहीं। आप किसी "वीणावरवेणु-मंडितकरा" सरस्वती के चरणों पर शत-शत बार सर झुकाते हैं—प्रतिभा के भिखारी बने मंदिर के किवाड़ों पर टकराते हैं, लेकिन जब रिमझिम बरसात की रात कमरे में लेटकर आप लेखनी द्वारा अपनी मनोनीत माला गूंथने लगते हैं, फिर तो स्वर्ग में कमल पर बैठकर वीणा बजाती हुई आपकी "जाप्यमहा भगवती" वहां से प्रतिभा की गट्ठियां बांध नहीं लाती—मगर हां, वही तम्बाकू की धुंआं आंखों पर एक मस्त कुज्झटिका को उठाकर चित्त को हरे-भरे भावों से सराबोरकर, आपको कहां से कहां ले जाती है, किन-किन रुकावटों से निकाल चलाती है, उन सबों की विस्तार वर्णना मैं कहां तक लिखूं, आप स्वयं समझ जाएंगे!

प्यारे पाठक! यदि आपको मेरी व्यापकता देखनी है तब आइए—टोपी चादर लीजिए और घर के बाहर आकर मेरे शत-शत उपासकों के ठट्ट को देखिए। यदि सभ्यता के प्रतिकूल न हो, तब अपने मकान के पीछेवाली नावदान जलप्लावित झोपड़ी में पैवन्द चिथड़ों में चिपटी हुई इस बिचारी बुड्ढी को आकर देखिए! देखिए, किस चाव से वह अपने नारियल पर चिलम, चिलम पर तम्बाकू, तम्बाकू पर टिकिया और टिकिये पर आग धीरे-धीरे सजा रही है और फिर किस संतोष से, किस उच्छ्वास से रह-रहकर दो-दो फूंक ले लेती है। क्यों, देखते हैं! उसकी आँखों के ऊपर एक पतली धुएँ की बदली उठ रही है और उसी बदली के भीतर से कभी-कभी दो बूंदें भी निकल आती हैं। क्यों, आप कह सकते हैं—यह कंकालशेष गरीबनी इस समय क्या सोच रही है? तम्बाकू पीते-पीते उसकी मनोवृत्ति कैसी हो रही है। नहीं, नहीं आप भूलते हैं, आपके नौकरों की जर्री पोशाक, आपके रसोई से पोलाव फीरनी की गंध, स्त्री के गहने की झनकार इस घड़ी इसे विवश नहीं करते। वह इन्हें तुच्छ समझ रही है। दुनिये के चामचूम चहल-पहल के ऊपर उठ गई है। आपके चांद सूरज सोने-चांदी इस दम उसे छू नहीं पातीं, फिर क्या सोचती है? सुनिए —वह अपने गतप्राय प्राणों के प्राणधन स्मृति के एकमात्र लाड़ले उन दिनों को सोच रही है, जब उसके बाग के फूलों पर बहार थी, यह जर्ज्जर जटिल जगत् प्रतिदिन नए-नए रंग बदलकर जीवन से मिलता था, जब बाल पके नहीं थे, आँखें खिची नहीं थीं, हृदय पर वसंत की लपट थी और शरीर पर यौवन की वर्षा थी। वह आंखों पर की छायी हुई धुएँ की बदली के भीतर इंद्रधनुष सा हरा-भरा किसी अलौकिक अतीत हृदय को देख रही है। वह इसी पीछेवाली वाटिका के पद प्रान्त पर बिखरी हुई नदी के घाट पर बनी-छनी चीनी का शरबत, नव वर्षार्द्र मौलसरी का हार और सुकुमार उस कातर प्राण लेकर बैठी, पर पार से डोंगी पर आते हुए अपने उज्ज्वल दिनों के संगी को एकटक देख रही है। पाठकवर, छेड़िए नहीं, देखने दीजिए। इस सुख की अंतिम छटा को देखने दीजिए। देख ले वृद्धे! देख ले! जब तक मेरी धुएँ की मस्त कुज्झटिका आंखों के सामने फट नहीं जाती, तब तक अपनी चिर मधुर मनोमूर्ति को देख ले। फिर ऐसी बातें जीवन में देखनी नहीं। फिर तू नवेली दुलहिन बन नहीं सकती, फिर तेरा अलौकिक अतीत तुझे लौट नहीं सकता। तेरे जीवन की संध्या हो चुकी है। अभी देखते-देखते तू अनंत अंधकार में मिल जाएगी। यदि इस घड़ी सुदूर आकाश पर उस विगत ज्योति की कोई भटकी किरण, कोई क्षीण कटाक्ष या प्रतिबिम्ब भी देख पड़ता हो, तब आंखों में प्राण भरकर उसे एकटक देख

ले। अहा, यह क्या ! वह धुँधली घन रेखा कहाँ उड़ गई। अरे ! वह वृद्धा नारियल को दीवाल से लगाकर किसी रोते हुए बच्चे को उठाने भीतर दौड़ पड़ी। पाठक ! समझे, वह प्रेम प्रदीप्त मायाराज्य अल्लाउद्दीन के किले की तरह उड़ गया और वह फिर अपने चिर अभ्यस्त जटिल दुनिये में लौट आयी।

आइए श्रीमान् ! इसी विहार वाग में आकर एक लकदक महफिल की लीला देखिए। देखिए, उस कारचोर्बा की गद्दी पर सुफेद वाल को काला कर, गालों की झुर्रियों को सीट साटकर, झुके गर्दन को तकिये से उठाये यह कौन जीव है, और उसके चारों तरफ उसकी अटपटी बातों में सुर मिलाते, आँखों की कनखियाँ ढूंढ़ते तथा होठों पर हँसी देखते कैसे हाथ जोड़नेवाले, सर झुकाने वालों की ठट्ट लगी है। कुछ देखते हैं ?—सामने ही लाल मखमल की फर्श पर क्या रक्खा है ? यह वादशाहों का मनोरंजन, मुसाहिवों का गौरव शिखर, महफिल विलासी फर्शी है। सर पर चाँदी की टोपी है। गले में काठ की कंठी है। प्यारे पाठक ! यदि आपको दिव्य चक्षु मिली रहती, तब आप देख लेते कि मंडली के एक-एक खुशामदी के अंतर में कैसी खलवली मची है। कौन गुड़गुड़ी-परायण नहीं, किसका हृदय उसी सटक के पादपद्म पर न्योछावर नहीं ? मुँहनाल के चुंवन पर सभी कटे हैं। होठों पर अनंत स्फुरण है। मुझे मालूम नहीं, आप घुटनों को मोड़कर किस चाव से अपने राजाधिराज के करतल को चूमते हैं या किस उच्छ्वास से अपनी मनोहारिणी के अधर पल्लव की सुधा चाटते हैं; लेकिन जिस प्राण-प्लावी प्रकंप से आपके प्यासे होठ मेरे मुँहनाल पर दौड़ते हैं—माफ कीजिए, मैं आपकी प्रदीप्त राज्य भक्ति या पत्नी भक्ति पर कटाक्ष नहीं करता, वह आवेग मेरी समझ में हिमाचल की चोटी से टूटी हुई धारा से भी कहीं प्रवल है—और क्यों न हो, मनुष्य ही का न हृदय है, गुड़गुड़ी ही के लिए न आवेग है, फिर इसमें शंका कैसी ?

कहिए, महाशय ! आप थक चले—मैं भी कहाँ कहाँ ले चलूँ, किसे किसे दिखाऊँ ! यदि एक दो मानव रहते, एक दो नगर रहते, किंवा एक दो देश रहते, तब किसी तरह देखना-दिखाना पार भी लगता; लेकिन जिसकी माया अनंत है, जो हर जगह सदैव उपस्थित है, उसे बैठे बिठाए देख लेना क्योंकर संभव हो ? ईश्वर ने आपको आँखें दी हैं, बुद्धि दी है, स्वयं देख लें। आपके बाग के फूलों पर वसंत की लपट हो या पतझड़ की झपट हो। मैं ऊँची-नीची सभी अवस्था में साथ देता हूँ—कूदकर उबलने से भी बचाता हूँ, पछाड़ खा कर गिरने से भी उठाता हूँ। मेरे ही भरोसे महफिल की लीला है। मुझी को

लेकर नाच-तमाशे का रंग है। यदि यौवन का अंत हो, फिर मैं ही धीरे धीरे डावाँडोल नौका को बचाकर पार लगाता हूँ। कहीं अचानक वज्रपात हो, तब भी मैं इस जीवन से, संसार से नाता तोड़ने नहीं देता—नेह निवाह ही जाना है। जब भीषण पिशाचिनी महामारी सालोंसाल घर घर आग लगाती फिरती है—तुम्हारे पलंग पर दो तकिये नहीं रहने देती, तुम्हारे घर का चिराग बलने नहीं देती, और जिन्हें छोड़ भी देती है, उनके अंतर में चिर नवीन विवर फोड़ जाती है—तव मैं ही आकर धीरे-धीरे उन छिद्रों को भरता हूँ और टूटे-फूटे दिल को फिर जगत से जोड़ मिलाता हूँ। यदि मैं नहीं रहता, तब दिन काटने वाले क्योंकर दिन काटते ? नव विधवा शोक-शय्या छोड़कर उठती नहीं। लड़ाई से लौटा हुआ शीर्ण सैनिक अपने पौत्र का व्याह देख नहीं पाता।

स्वर्ग में मेरी चर्चा है कि नहीं, पाताल में मेरी उपासना है कि नहीं—इन्हें जानकर क्या होगा ! आपका स्वर्ग तो वहीं है, जहाँ मैं हूँ। स्वर्ग को भी आप मुझी से स्वर्ग मानते हैं। आपके भावों को किसी प्रकार आप ही के कवि ने खूब बतलाया है—'जिन्नत में भी दुनिये के मज़े याद करेंगे।'

समझे पाठक ! वह दुनिया का मजा कौन-सा है ? यदि धर्म के बदले मैं ही मरने के बाद आपके साथ जाता—तव परलोक में भी हाय-हाय नहीं मचती ! नंदन कानन के उत्सव में एक और लीला रहती। देवेंद्र मेनका के गाने को और भी मधुर पाते।

०

चतुरसेन शास्त्री
[सन् १८९१—१९६०]

क्रोध

सिर्फ हजार रुपये ही की तो बात थी। वह भी नहीं दे सका। देना एक ओर रहा, पत्र का उत्तर तक नहीं दिया। एक-दो-तीन-चार, सब पत्र हजम किए। सब पचा लिए? यही मित्रता थी? मित्रता? मित्रता कहाँ है? मित्रता एक शब्द है, एक आडम्बर है, एक विडम्बना है, एक छल है—ठीक छल नहीं, छल की छाया है। वह भूत की तरह बढ़ती है, रात की तरह काली है और पाप की तरह काँपती है।

तुम लखपती थे? वे तुम्हारे लाख रुपये सुरक्षित लोहे के सन्दूकों में बन्द रखे हैं? और मैं? मैं हाड़-मांस का आदमी, जिसकी छाती में हृदय—जीवित हृदय धरोहर धरा है, इस तरह यातना, अपमान, कष्ट और भयंकरता में झकोरे ले रहा हूँ। मित्रता की ऐसी तैसी। मित्रता के बाप की ऐसी तैसी। निष्ठुर पाखंडी सोने के डले। बिना तपाए और कुचले तुझमें नर्मी आना ही असम्भव था!!!

तुम! तुम मेरे भक्त थे, क्या यह सच है? भक्ति किसे कहते हैं, मालूम है? चुप रहो। बको मत, ज्ञान मत बघारो। मैं ही मूर्ख हूँ। मेरे उपदेशों को तुमने मनोहर कहानी समझा होगा। ठीक, अब समझा, तुम मनोरंजन के लिए ही मेरे पास आते थे। धीरे-धीरे अब सब दीख पड़ता है। जब मैं आवेश में आकर अपने आविष्कृत सिद्धान्त जोरशोर से तुम्हारे सामने बोलता था, तब तुम हँसते थे। उस तुम्हारी हँसी का तब मतलब नहीं समझा था—अब समझा। उफ़, ऐसे भयंकर गंभीर सिद्धान्तों को तुम मनोरंजन समझकर सुनते थे। ठीक है। पिशाचों को श्मशान में नृत्य ही की सूझती है। प्रकृति कहाँ जायगी! पर मुझे मनुष्य की परख नहीं हुई। मैं पूरा वज्र मूर्ख हूँ। मैंने भैंस को बीन बजाकर सुनाई थी—हाय करम! हाय तकदीर!!!

कुछ भी समझ नहीं पड़ता। अचम्भा है। मनुष्य रूप पाकर मनुष्य हृदय

से शून्य कैसे जीते हैं ? अमीरों के हृदय कहां हैं ? सारे अमीर मरकर भेड़िए, चीते, सिंह, सांप, बिच्छू बनेंगे । मनुष्य-जन्म में अपनी बुद्धि से जिस रूप का अभ्यास कर रहे हैं, वही रूप इन्हें मिलेगा । वाह ! बड़ा अच्छा तुम्हारा भविष्य है । मैंने सुना है, पुराने खजानों पर सांपों का पहरा होता है । तुम सब धनी लोग वही सांप हो । फर्क इतना है कि तुम बननेवाले हो और वे बन गए हैं—वे तुमसे सिर्फ एक जन्म आगे हैं । उनके तुम्हारे बीच में केवल एक मृत्यु का पुल है । इसे पार किया कि बस, असली रूप पा गए ।

हे सफेद पगड़ी और सफेद अंगरखेवालो । हे टमटम, मोटर गाड़ियों में खिचड़नेवालो ! हे अपाहिजो ! अभागो ! रोगियो ! निपूतो ! हीजड़ो ! तुम पर मुझे दया आती है । किन्तु तुम्हारा भविष्य देखकर मुझे सन्तोष होता है—सुख मिलता है ।

मेरा बच्चा मर गया । उसे दूध नहीं मिला । मेरी स्त्री के स्तनों में जितना दूध था, वह सब पिला चुकी । जब निबट गया, तब लाचार हो गई । बाजार से मिला नहीं । पैसा नहीं था । बिना पैसे बाजार में कुछ नहीं मिलता । पहले जब संसार में बाजार नहीं था, घर थे, तब सबको सब कुछ मिलता था । चीज के होते हुए कोई तरसता नहीं था । अब खुल गए बाजार और बाजार में उन्हीं को मिलता है, जिनका बाजार है । बाजार है पैसे का । पैसे ही से बाजार है । बच्चा कई दिन सूखे मुंह, सूखे स्तन चूसकर सिसकता रहा । अन्त में ठंडा पड़ गया । मेरे प्यारे मित्र ! तुमसे तो कुछ छिपा नहीं है । वही एक मेरा बच्चा था । अब मैं किसे देखूं ? अच्छा, दिखाओ तो तुम्हारा बच्चा कितना मोटा हो गया है । हरे राम ! सांप के बच्चे को तो देखो, कैसा फूला है ! तुमने इसे इतना क्यों चराया है ? इतना खून यह क्या करेगा ? इसे कितने दिन इस योनि में रखने का इरादा है ? यह अपनी कांचली कब बदलेगा ?

मेरी कुशल पूछते हो ? ठीक है, वाजबी है । बहुत दिन से मिली नहीं थी। अच्छा सुनो । भयानक युद्ध में फंसा हुआ हूँ । इसी युद्ध में मेरे स्त्री-बच्चे ढह चुके हैं—एक भूखा रहकर और दूसरा रोगी रहकर । मैं भी रोगी हो गया हूँ । अब खाया नहीं जाता । चिन्ता ने जठराग्नि को बुझा दिया है । सिर झनझनाता रहता है । नींद मर गई है । उसकी लाश को तुम्हारे बच्चे चुरा ले गए हैं । पर खैर, मुझे सोने की फुर्सत भी नहीं । हौंस भी नहीं है । युद्ध कर रहा हूँ—कंगाली से युद्ध कर रहा हूँ । दरिद्रता भीषण दांत कटकटाकर असंख्य शस्त्र लिये झपट रही है । हां हां, अब तक परास्त किया है । यह युद्ध का मध्य भाग आ गया है । ठहरो, दो हाथ में साफ है । अभी जीतकर आता हूँ । सबर करो

—सबर। तब तक तुम अपने बच्चे को मलाई खिलाओ। अजीर्ण बढ़ाओ। बढ़ाओ। और मेरा युद्ध कौशल, वीरता देखनी हो, तो आओ मैदान में देखो, लड़ने को नहीं, देखने को। साँपों का लड़ने का काम नहीं है। वे तो अँधेरे में जहाँ पैर पड़ा, बस वहीं काट लेने के मतलब के हैं। अच्छा, जाने दो। मैं फतेह करके आता हूँ। देखो, जिस धन को, जिस सोने के ढेर को तुम छाती में छिपाए उसकी आराधना कर रहे हो, उसे माँ-बाप, भैया, लुगाई, चाचो, ताई, नानी-नाना समझ रहे हो, उसी पर, हाँ उसी पर—चाहे वह तुम्हारा कुछ ही क्यों न हो—बिना किसी लिहाज किए उसी पर—उसी ढेर की छाती पर पैर धरके ताण्डव नृत्य करूँगा। अपनी स्त्री की हड्डियों की ठठरियों की मैंने 'मोगली' बनाई है और अपने बच्चे की खाल से उसे मढ़ लिया है। यह है मेरा डमरू। वह बजेगा ढम-ढमाढम—दिग्दिगन्त गूँज उठेंगे। फिर मेरा थिरक-थिरककर ताण्डव नृत्य होगा। हा! हा! हा! ताण्डव नृत्य होगा। फिर नाचकर, उसी ढेर का ठुकराकर, जूतों में कुचलकर फेंक दूँगा। उस पर थूक दूँगा। उस पर पेशाब कर दूँगा। तब जी चाहे तो ले जाना। लूटकर ले जाना, आँख बचाकर ले जाना। धन है, वह लात मारने से, थूकने से, अपवित्र, अपमानित तो हो नहीं जाएगा! उसकी रबड़ी, मिठाई, फल लाकर बच्चे को खिलाना। मोटा हो जायगा! रंगत चढ़ जायगी। और तुम्हारी स्त्री? हा! हा! हा! उस धन का घांघरा उसके लिए परम कल्याणकारक होगा। वही हजार रुपया—उसमें से दान-धर्म में लगा देना। बस, स्वर्ग में तुम्हारे बाप तुम्हारे लिए द्वार खोले खड़े रहेंगे।

मगर ठहरो। खुशी से उछल न पड़ना। यह लूट का माल देर से मिलेगा। अभी युद्ध भी विजय नहीं हुआ है। सम्भव है, इसी युद्ध में मेरी जवानी मारी जाय। उसी के सिर तो इस युद्ध का सेहरा है! वही तो इस युद्ध का सेनापति है! उसके चारों ओर गोली बरस रही है। यदि वह मारी गई और तब विजय हुई, तो उसके अनन्तर ताण्डव नृत्य करने में भी कुछ समय लगेगा। ओढ़ने को रक्त भरी ताजी खाल चाहिए, और वह भी हाथी की! पर मैं वह किसी काले रंग के भारी सेठ की निकालूँगा, रुपया देकर मोल ले लूँगा। मेरा सफेद केश, दन्तहीन मुख, उस पर सज जायगा। एक बार नाचकर मैं उसे ठोकर मार दूँगा। फिर जिसके भाग्य में हो, वह उसे ले जाय।

मेरी यह विजय-वीरता की कहानी जो सुनेगा, उसे सांप का जहर नहीं चढ़ेगा। मेरी शपथ देने से सांप का विष उतर जावेगा। जो सांप मनुष्य का रूप धरे छल से धन पर बैठे हैं और जो धन निकम्मा पड़ा-पड़ा जंग खा रहा

है और उनके डर से जो लोग, बालक, स्त्रियाँ शरीर और लज्जा की रक्षा तक करने को तरसती हैं, पर उसमें से नहीं ले सकतीं, मेरे नाम की दुहाई लेते ही, वे सब काले साँप बन जावेंगे और क्षण-भर में भाग जावेंगे। उस धन से भूखे अन्न लेंगे, बच्चे दूध लेंगे, रोगी औषधि लेंगे, प्यासे जल लेंगे और दुखी सुख लेंगे। इतने पर भी जो शेष बचेगा, वह मेरी दिवंगत आत्मा का होगा। विद्वान् लोग मेरी आत्मा की शान्ति के लिए प्रतिवर्ष भाद्रपद बदी चौथ को उस धन पर एक, दो, तीन, चार, दस, बीस, पचास, सौ, हजार, लाख, करोड़, अरब, खरब, असंख्य जूते लगावेंगे ! अहा हा ! कब होगा वह मेरा ताण्डव नृत्य ! वह युद्ध का यौवन फूटा पड़ता है। हूँ—हूँ—वह मारा !! हूँ ! हूँ !

●

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'
[सन् १८९१—१९४५]

दुबेजी की चिट्ठी

अजी सम्पादकजी महाराज,

जय राम जी की !

लोग कहते हैं कि मुसीबत अकेली नहीं आती, सो यह कहावत मेरे ऊपर अक्षरशः चरितार्थ हुई। कानपुर की कांग्रेस देखने की उत्सुकता हृदय में इतनी प्रबल थी कि यद्यपि बीमारी के कारण इस योग्य न था कि घर के बाहर निकलूं; परन्तु फिर भी किसी न किसी प्रकार हृदय को कड़ा करके यह पक्का इरादा कर लिया कि इस बार यदि कांग्रेस न देखी, तो नर-देह धारण करना व्यर्थ हो जायगा, अतएव कांग्रेस देखनी चाहिए। जब इरादा पक्का हो गया, तब दूसरी मुसीबत सामने आई—वह थी खर्च की। कांग्रेस में जाने के लिए खर्च कहाँ से आवे ? इस पर तुर्रा यह है कि लल्ला की महतारी भी चलने के लिए कमर कसकर तैयार हो गई। मैंने कहा भी कि तुम क्या करोगी चलके, पर उसने तुनककर जवाब दिया—"क्या तुम्हीं बड़े शौक़ीन हो—तुम्हीं बड़े कांग्रेस-भक्त हो ? मैं भी किसी बात में तुमसे कम नहीं हूं। मैं अवश्य चलूंगी।" मैंने सोचा खैर, चलने दो अपना क्या हर्ज है। साथ में रहने से आराम ही मिलेगा।

खैर, लल्ला की महतारी का चलना भी निश्चित हो गया। अब फ़िक्र हुई कि दो आदमियों का खर्च कहाँ से लाया जाय। पास टका नहीं और कांग्रेस के लिए तैयार—फिर एक न दो, पूरा घर भर। खैर, जनाब, पहले तो मैंने सोचा कि लल्ला की महतारी का गहना कहीं गिरवी धरके काम निकालना चाहिए, परन्तु इस पर लल्ला की महतारी राज़ी न हुई। उसने कहा, गहना गिरवी नहीं धरा जा सकता। मेले-तमाशे में तो गहने की आवश्यकता ही पड़ती है। ऐसे अवसर पर गहना गिरवी धरना बदनामी का कारण होगा। खैर, इस ओर से निराश होने पर यह किया गया कि दस किसी से लिये, पांच किसी से लिये। इस प्रकार यथेष्ट रुपये इकट्ठे करके २५ तारीख को कानपुर के लिए रवाना

हुए। हमारी गाड़ी सुबह कानपुर पहुँचनेवाली थी। रात को बारह-एक बजे तक जागते रहे, इसके पश्चात् जो लम्बी तानी तो नौ बजे आँख खुली। एक मुसाफ़िर से पूछा, "क्यों महाशय, कानपुर कितनी दूर रह गया ?" उसने उत्तर दिया—"कानपुर तो कभी का निकल गया, अब तो आप फतेहपुर से आगे निकल आये !" इतना सुनते ही जान निकल गई। झट से लल्ला की महतारी को जगाया और उससे सब हाल कहा। उसने कहा, "चलो, यह भी अच्छा हुआ। अब प्रयागराज चले चलो, वहाँ त्रिवेणी में स्नान करके कल लौटेंगे।"

खैर साहब, प्रयागराज पहुँचे। वहाँ कानपुर से प्रयाग तक का अधिक किराया देने के बाद स्टेशन से बाहर पहुँचे। एक धर्मशाला में बिस्तर जमाया। दिन में त्रिवेणी-स्नान किया, सन्ध्या-समय गहरी छानकर चौक की सैर की। रात को फिर लद-फँदकर स्टेशन पहुँचे और गाड़ी में सवार होकर कानपुर की ओर चले। इस बार यह निश्चय कर लिया था कि रात भर जागरण करेंगे, क्योंकि गाड़ी सवेरे चार बजे कानपुर पहुँचती थी। खैर साहब, रात के दो बजे तक तो किसी न किसी प्रकार जागते रहे; पर इसके बाद पता नहीं, कब और कैसे नींद आ गई। आँख खुली तो देखा कि खूब दिन चढ़ आया है—जान निकल गई। एक साहब से पूछा—"क्यों महोदय, इस समय कितने बजे होंगे ?" उन्होंने कहा—"नौ बजने के निकट है।" मैंने कहा—"भई वाह, इन नौ बजे ने मेरा अच्छा पिण्ड पकड़ा है ! इधर से जाते हुए भी नौ बजे आँख खुली और उधर से आते हुए भी नौ बजे होश आया। अब क्या किया जाय ? गाड़ी फफूंद के निकट पहुँच रही थी। फिर लल्ला की महतारी से सलाह गाँठी। उसने कहा —चलो, यह भी अच्छा हुआ। इधर से मथुराजी होते चलें। बहुत दिनों से मथुराजी देखने की लालसा लगी हुई थी। खैर साहब, हाथरस पहुँचे, वहाँ से मथुराजी की गाड़ी में बैठे। मथुराजी पहुँचकर एक पण्डे के यहाँ ठहरे। एक दिन मथुराजी रहे। पास-पल्ले जो कुछ था, वह सब खर्च हो गया—अब केवल घर लौटने भर के पैसे बच रहे।

दूसरे दिन घर का टिकट लेकर गाड़ी पर सवार हुए—तीसरे दिन घर पहुँचे। ज्योंही मित्रों को हमारे लौटने की सूचना मिली, सब एक-एक कर आने लगे। अब जिसे देखिए, वह यही प्रश्न करता है कि कांग्रेस में क्या देखा ? मैं किससे-किससे क्या-क्या कहूँ ? अन्त में मैंने सोच-समझकर ऐसे उत्तर देने आरम्भ किए कि जिससे कोई भकुआ यह भी न समझ सका कि यह कांग्रेस नहीं गए। सबको यही विश्वास हो गया कि यह अवश्य कांग्रेस देखकर आये हैं। एक महोदय ने प्रश्न किया—कांग्रेस में कितने आदमी थे ?

मैंने कहा—जनाब, आदमियों की न पूछिए—तिल धरने की जगह न थी।

उन्होंने प्रश्न किया—हज़ारों आदमी होंगे ?

मैंने उत्तर दिया—हज़ारों क्या, सैकड़ों आदमी थे, ऐसी कांग्रेस तो आज तक हुई ही नहीं।

वह—तिलक नगर कैसा बना था ?

मैं—बस, आज तक ऐसा नगर नहीं बना था—नगर क्या, पूरी बस्ती थी—जो चीज चाहिए, वहाँ मिलती थी।

वह—सुना, सब चीज़ों की दूकानें वहाँ थीं ?

मैं—यानी बस आप यह समझ लीजिए कि पूरी और पान तक की दूकानें थीं—हद है।

वह—और पेण्डाल कैसा बना था ?

मैं—पेण्डाल क्या, पूरा पेण्डाल था। ऐसा पेण्डाल तो मैंने कभी देखा ही नहीं।

वह—भला, पेण्डाल में कितने आदमी बैठ सकते थे ?

मैं—चाहे कितने आदमी बैठते चले जायँ—जिसके पास टिकट हो, वही बैठ सकता था।

वह—हाँ, व्याख्यान कैसे हुए ?

मैं—ओहो, इसके बारे में मत पूछिए, ऐसे व्याख्यान तो आज तक सुने ही नहीं।

वह—सुना, मालवीयजी खूब बोले।

मैं—ऐसे बोले कि लोग मुग्ध हो गए।

वह—सभानेत्री का भाषण भी सुना, अच्छा था ?

मैं—एक अच्छा कि बहुत अच्छा। ऐसा भाषण तो आज तक सुना ही नहीं।

वह—प्रदर्शनी कैसी थी ?

मैं—प्रदर्शनी का क्या कहना है—ऐसी प्रदर्शनी तो आज तक देखी ही नहीं।

वह—प्रबन्ध कैसा था ?

मैं—बस क्या कहूँ, मुझे यह भी नहीं मालूम कि मैं गया था या नहीं—यह तक पता नहीं कि मैं कानपुर में था या कहीं और—बस, यह मालूम होता था कि मैं कानपुर-कांग्रेस में नहीं आया हूँ, वरन् प्रयागराज या मथुराजी म बैठा हूँ।

शिवपूजन सहाय
[सन् १८९३—१९६३]

साहित्य

'साहित्य' बड़ा ही व्यापक अर्थ रखनेवाला एक महान् गौरवपूर्ण शब्द है। यह विश्वजनीन भाव का द्योतक है, विश्वबंधुत्व का संदेशवाहक है, देश और जाति के जीवन का रस है, समाज की आंतरिक दशा का दिव्य दर्पण है, सभ्यता और संस्कृति का संरक्षक है। इसमें सहित का भाव है, अतएव यह अपने में सब कुछ समेटे हुए है, जो मानव जाति के जीवन के लिए हितकर, सुखकर और श्रेयस्कर है। यह ईश्वर के विराट् रूप के समान विश्व की समस्त विभूतियों का आश्रय स्थल है। दृश्यमान जगत् के समग्र वैभवों की निधि तो यह है ही, अदृश्य लोकों की संपदा का भी कुबेर यही है। लौकिक और अलौकिक, सब कुछ इसी के भण्डार में है। इहलोक और परलोक इसके लिए हस्तामलकवत् हैं। जान पड़ता है, शब्दमय अनादि-अनन्त ब्रह्म का यह प्रतीक है। इसमें हम अखिल ब्रह्माण्ड का चित्र देख सकते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष, कुछ भी इससे परे नहीं जान पड़ता। ऐसा यह सर्वशक्ति-सम्पन्न है।

किसी राष्ट्र या जाति में संजीवनी शक्ति भरनेवाला साहित्य ही है। इसलिए यह सर्वतोभावेन संरक्षणीय है। सब कुछ खोकर भी यदि हम इसे बचाए रहेंगे, तो फिर इसी के द्वारा हम सब कुछ पा भी सकते हैं। इसे खोकर यदि बहुत कुछ पा भी लेंगे, तो फिर इसे कभी पा न सकेंगे। कारण, यह हमारे पूर्वजों की कमाई है। किसी जाति के पूर्वजों का चिर-संचित ज्ञान-वैभव ही साहित्य है। अन्यान्य लौकिक वैभव नश्वर हैं। यह अविनाशी है। इसीलिए इसका जो पल्ला पकड़े रहेगा, वह भी अमर रहेगा।

भारत के हिन्दुओं की स्वतन्त्रता खो गई, संपत्ति लुट गई, उनके विपुल ऐश्वर्य के गौरव मण्डित स्मारक भी लुप्त हो गए; पर उन्होंने अपने साहित्य का बहुलांश बचा लिया। उसे भ्रष्ट या कलुषित या विनष्ट न होने दिया। जब ग्रंथों पर आपत्ति देखी कि वे फाड़े और जलाए जा रहे हैं, तब मस्तिष्क और

कण्ठ में धारण कर उन्हें वाणी का अमृत पिलाया। भला, अपने पूर्वजों के उस ज्ञान-भाण्डार को हम भी क्यों न बचाएँ ? हमारा यही धर्म और कर्त्तव्य है। हमारा वह साहित्य विश्व साहित्य का मेरुदण्ड है। उसकी प्रखर किरणें भूमण्डल में फैली हुई हैं। उसके खजाने भी खुले खजाने लूट-खसोट हुई है। फिर भी उसकी रीढ़ नहीं टूटी। उसमें आज भी जो कुछ है, अनूठा है, अमूल्य है, अनिवर्चनीय है।

हमारी हिन्दी का साहित्य अभी भी शायद आधे से अधिक अप्रकाशित है। अनेक प्राचीन ग्रन्थ कहीं वेठनों में लिपटे पड़े हैं, कहीं कूप-मंडूकों के घर में दीमकों को दावत दे रहे हैं। उसी प्रकार अनेक आधुनिक साहित्यकारों की कृतियां भी प्रकाशकों के अभाव से अथवा हमारी अगुणज्ञता एवं असावधानता से प्रकाश में नहीं आई हैं। यदि हमारा संपूर्ण हिन्दी साहित्य सांगोपांग प्रकाशित हो जाए, तो हिन्दी का रत्नागार देखते ही वने। कुछ लोग हिन्दी साहित्य की वास्तविक महत्ता से अपरिचित होने के कारण इसे अधूरा और हेय समझते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि ग्रन्थों का संख्या वाहुल्य ही किसी साहित्य की श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं है। काँच के चमकीले टुकड़ों की राशि से दो-चार-दस जगमगाते अनमोल लाल कहीं अच्छे हैं। हिन्दी साहित्य में आज भी, जब उसके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अन्वेषकों और प्रकाशकों की प्रतीक्षा में पड़े विलख रहे हैं, ऐसे-ऐसे देदीप्यमान ग्रन्थरत्न हैं, जिनकी तुलना के ग्रन्थ अन्य भाषाओं के साहित्य में प्रायः दुर्लभ हैं। जब कभी हिन्दी का सितारा चमकेगा, और ईश्वर की दया से वह दिन बहुत दूर नहीं है, तब विस्मृति के अन्धकारपूर्ण गिरि-गह्वर से उसके बहुत-से ग्रन्थ-तपस्वी निकलेंगे। उस दिन संसार आँखें फाड़कर उन्हें देखेगा। हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के सुदिन अभी आ रहे हैं—वे क्षितिज के छोर पर चमक रहे हैं। दोनों की वर्तमान प्रगतिशीलता में आशा और उत्साह की किरणें झलक रही हैं। निश्चय ही दोनों के अभ्युदय में आपका हार्दिक सहयोग सर्वथा अपेक्षित है।

आप तो जानते हैं कि जितना साहित्य नगरों के छापाखानों ने अब तक प्रकाशित किया है, उतना ही क्यों, उससे भी अधिक आपके चारों ओर के गाँवों में भरा और विखरा पड़ा है। स्पष्टतः यह संकेत ग्रामगीतों की ओर है, जिनके अनेक भेद और रूप-रंग देहात में दीख पड़ते हैं। उनमें देश की अधिकांश जनता के हृदय की अनुभूतियां भरी पड़ी हैं। उन्हीं में 'गाँवों के देश' भारत के सुख-दुख की सच्ची अभिव्यक्ति है।

२८५ के उत्कर्ष के लिए सभी साहित्यकारों और साहित्यानुरागियों का

पारस्परिक सहयोग तथा सामूहिक प्रयत्न आवश्यक है। साहित्य की उन्नति के लिए हमें भोग-विलास के बदले विद्याविलासी बनना होगा। अपने जीवन-रथ को सुख के पथ ,पर ले चलनेवाली आवश्यकताओं में हमें साहित्य को भी सम्मिलित करना होगा। केवल अन्न की भूख और पानी की प्यास की तरह नहीं, बल्कि वासना की भूख और हृदय की प्यास की तरह जब हमें साहित्य को भूख-प्यास भी सताने लगेगी, तब कहीं हमें समझना होगा कि साहित्य अब हमारे रोम-रोम में रम चुका। सच मानिए, साहित्य के आन्तरिक सौन्दर्य का विधिवत् विश्लेषण करने में जो विलक्षण हैं, वे ब्रह्मानन्द-सहोदर सुख के उपभोक्ता हैं। साहित्य का रस सभी रसों से आला और निराला है। इसके द्वारा आप ईश्वर-भक्ति-जनित परमानन्द की अनुभूति उपलब्ध कर सकते हैं, सांसारिक सुखों के रसास्वादन में अलौकिक तल्लीनता पा सकते हैं, नाना प्रकार के लाभ-लोभ से बचकर अपने ही मानसिक आनन्द में मग्न रह सकते हैं, स्वाभिमान और सन्तोष से जीवन में सच्ची शक्ति का अनुभव कर सकते हैं। साहित्य का रस जिसने पा लिया, उसके लिए भूतल ही स्वर्ग बन गया।

साहित्य का रस जिस रस में मिल जाता है, उसे अनुपम माधुर्य से परिपूर्ण कर देता है। यदि साहित्य के रस से हम वंचित हैं, तो प्रकृति की सुषमा में भी हमारे लिए कोई रस नहीं, संसार की किसी चीज की मिठास का असली स्वाद हमें सुलभ नहीं। कमनीय कामिनी-कटाक्ष और उसकी मन्द स्मितयुक्त भ्रू-भंगिमा भी हमारे लिए नीरस है, यदि हम साहित्य-रसज्ञ नहीं हैं। शिशु की मन्द मुसकान में, मानिनी के मान में, कृषक-कन्या के गान में, रस-लम्पट मधुप के मधुपान में, शरत्पूर्णिमा के विमल धवल हास-विलास में, तरंगित यौवन के मदोच्छ्वास में, सुरभित सुमनों के विकास में, कहीं भी हमें रस का अभिनव आभास न मिलेगा, यदि हमारा हृदय साहित्य-रससिक्त नहीं है—यदि हमारा जीवन साहित्य के लालित्य के लिए लालायित नहीं है। साहित्य-सरिता में गहरा गोता लगाए बिना हम समुद्र, नदी, पर्वत, वन-उपवन, चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र-मण्डल, पशु-पक्षी आदि का आभ्यन्तरिक सौष्ठव नहीं देख सकते हैं। वृक्ष पर चढ़ी हुई लोनी लता को सभी देखते हैं, पर साहित्यिक की पैनी दृष्टि केवल लहलही लता ही नहीं देखती—कुछ और भी देखती है। कोयल की कूक सारी दुनिया सुनती है, पर साहित्यिक का सुनना कुछ और ही है। फूल को जितना साहित्यिक समझता है, उतना शायद भौंरा भी न समझता होगा।

साहित्य ही ने भगवान् को भी भक्तों के मानस-मंदिर में प्रतिष्ठित किया है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, मीरा सबके सब साहित्य

की ही सजीव प्रतिमा हैं। साहित्य ने ही उनके रूप में अवतीर्ण होकर धरातल को धन्य किया। परमात्मा ने अपने अपूर्व सृष्टि-कौशल का रहस्य समझाने के लिए ही साहित्य का सर्जन किया। उन्होंने साहित्य को अद्भुत शक्ति प्रदान की है। वह अतीत को वर्तमान बना सकता है। वह भविष्य का रहस्य-भेदन कर सकता है। वह कांच को कंचन कर सकता है। अदृश्य को भी दृश्यमान करना उसके बाएँ हाथ का खेल है। उसकी दिव्य दृष्टि प्रज्ञाचक्षु संजय की दृष्टि से भी होड़ बद सकती है। वह आज भी सदियों पहले के युद्ध की विभीषिका से आपके कलेवर को कंटकित कर सकता है। उसके श्रीमुख से आप सुनना चाहें, तो राम का धनुष-टंकार सुन लें, पार्थ का गाण्डीव-घोष सुन लें, भीम के प्रचण्ड भुजदण्डों का भीषण गर्जन सुन लें, मुरली मनोहर की वंशी-ध्वनि सुन लें, हल्दीघाटी की तलवारों की झनकार सुन लें, शिवा और गुरु गोविन्द की प्रलय ललकार सुन लें। उसके सामने रेडियो और ग्रामोफोन की क्या हस्ती है! ये निर्जीव यन्त्र भी उसी के प्रताप से सजीव बने हैं। वह मिट्टी छू दे, तो सोना हो जाए; ठकठे काठ को ठोक दे, तो जल-तरंग हो जाए। यदि वह न होता, तो हमारे जीवन-सर्वस्व राम और कृष्ण भी हमारे बीच न होते। उसी के बल पर हम मदान्ध साम्राज्यवादी को भी चुनौती देने का साहस रखते हैं। उसी की तेजस्विता हमारी निष्प्राण नसों में बिजली भरती है। उसी का अमर सन्देश हमें पराधीनता की कड़ियाँ तोड़ने के लिए उद्बुद्ध और कटिबद्ध करता है। उसी की उपासना से उत्पीड़ित देश का उद्धार होता है। उसी के शंखनाद से हमारी मोह निद्रा भंग होगी। यदि वह हमारे जीवन-व्यापार में संग-संग न चलेगा, तो अपने पूर्वजों से हमारा नाता टूट जायगा—पतन की खाई से निकलने का सहारा जाता रहेगा। उसकी महत्ता की कोई इयत्ता नहीं। अतः उसी की आराधना में दत्तचित्त होना हमारा एकमात्र कर्त्तव्य है।

●

राहुल सांकृत्यायन
[सन् १८९३—१९६३]

अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा

शास्त्रों में जिज्ञासा ऐसी चीज के लिए होनी बतलाई गई है, जो कि श्रेष्ठ तथा व्यक्ति और समाज सबके लिए परम हितकारी हो। व्यास ने अपने शास्त्र में ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे जिज्ञासा का विषय बनाया। व्यास-शिष्य जैमिनि ने धर्म को श्रेष्ठ माना। पुराने ऋषियों से मतभेद रखना हमारे लिए पाप की वस्तु नहीं है, आखिर छः शास्त्रों के रचयिता आस्तिक ऋषियों में भी आधों ने ब्रह्म को धता बता दिया है। मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। कहा जाता है, ब्रह्मा ने सृष्टि को पैदा, धारण और नाश करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया है। पैदा करना और नाश करना दूर की बातें हैं, उनकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए न प्रत्यक्ष प्रमाण सहायक हो सकता है, न अनुमान ही। हाँ, दुनिया के धारण की बात तो निश्चय ही न ब्रह्मा के ऊपर है, न विष्णु के और न शंकर ही के ऊपर। दुनिया—दुःख में हो, चाहे सुख में—सभी समय यदि सहारा पाती है, तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। खेती, बागबानी तथा घर-द्वार से मुक्त वह आकाश के पक्षियों की भाँति पृथिवी पर सदा विचरण करता था, जाड़े में यदि इस जगह था, तो गर्मियों में वहाँ से दो सौ कोस दूर।

आधुनिक काल में घुमक्कड़ों के काम की बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुराके उन्हें गला फाड़-फाड़ अपने नाम से प्रकाशित किया, जिससे दुनिया जानने लगी कि वस्तुतः तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब कुछ करते हैं। आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव-वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि सारे ही विज्ञानों को उससे सहायता मिली। कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा

बदलनी पड़ी। लेकिन क्या डारविन अपने महान् आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत नहीं लिया होता ?

मैं जानता हूँ, पुस्तकें भी कुछ-कुछ घुमक्कड़ी का रस प्रदान करती हैं, लेकिन जिस तरह फोटो देखकर आप हिमालय के देवदार के गहन वनों और श्वेत हिम-मुकुटित शिखरों के सौन्दर्य, उनके रूप, उनके गंध का अनुभव नहीं कर सकते, उसी तरह यात्रा-कथाओं से आपको उस बूँद से भेंट नहीं हो सकती, जो कि एक घुमक्कड़ को प्राप्त होती है। अधिक से अधिक यात्रा-पाठकों के लिए यही कहा जा सकता है कि दूसरे अन्धों की अपेक्षा उन्हें थोड़ा आलोक मिल जाता है और साथ ही ऐसी प्रेरणा भी मिल सकती है, जो स्थायी नहीं तो कुछ दिनों के लिए उन्हें घुमक्कड़ बना सकती है। घुमक्कड़ क्यों दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है ? इसीलिए कि उसी ने आज की दुनिया को बनाया है। यदि आदिम पुरुष एक जगह नदी या तालाब के किनारे गर्म मुल्क में पड़े रहते, तो वह दुनिया को आगे नहीं ले जा सकते थे। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहाई हैं, इसमें सन्देह नहीं, और घुमक्कड़ों से हम हर्गिज नहीं चाहेंगे कि वह खून के रास्ते को पकड़ें, किन्तु अगर घुमक्कड़ों के काफिले न आते जाते, तो सुस्त मानव जातियाँ सो जातीं और पशु से ऊपर नहीं उठ पातीं। आदिम घुमक्कड़ों में से आर्यों, शकों, हूणों ने क्या-क्या किया, अपने खूनी पथों द्वारा मानवता के पथ को किस तरह प्रशस्त किया, इसे इतिहास में हम उतना स्पष्ट वर्णित नहीं पाते, किन्तु मंगोल-घुमक्कड़ों की करामातों को तो हम अच्छी तरह जानते हैं। बारूद, तोप, कागज, छापाखाना, दिग्दर्शक, चश्मा यही चीजें थीं, जिन्होंने पच्छिम में विज्ञान-युग का आरम्भ कराया, और इन चीजों को वहाँ ले जानेवाले मंगोल घुमक्कड़ थे।

कोलम्बस और वास्को द-गामा दो घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने पश्चिमी देशों के आगे बढ़ने का रास्ता खोला। अमेरिका अधिकतर निर्जन-सा पड़ा था। एशिया के कूप-मंडूकों को घुमक्कड़-धर्म की महिमा भूल गई, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झण्डी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन और भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, इनको इतनी अकल नहीं आई कि जाकर वहाँ अपना झण्डा गाड़ आते। आज अपने ४०-५० करोड़ की जनसंख्या के भार से भारत और चीन की भूमि दबी जा रही है, और आस्ट्रेलिया में एक करोड़ भी आदमी नहीं हैं। आज एशियायियों के लिए आस्ट्रेलिया का द्वार बन्द है, लेकिन दो सदी पहले वह हमारे हाथ की चीज थी। क्यों भारत और चीन आस्ट्रेलिया की अपार संपत्ति और अमित भूमि से

वंचित रह गए ? इसीलिए कि वह घुमक्कड़ धर्म से विमुख थे, उसे भूल चुके थे।

हाँ, मैं इसे भूलना ही कहूँगा, क्योंकि किसी समय भारत और चीन ने बड़े-बड़े नामी घुमक्कड़ पैदा किए । वे भारतीय घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने दक्षिण-पूरब में लंका, बर्मा, मलाया, यवद्वीप, स्याम, कम्बोज, चम्पा, बोर्नियो और सेलीबीज ही नहीं, फिलिपाईन तक का धावा मारा था, और एक समय तो जान पड़ा कि न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया भी बृहत्तर भारत का अंग बननेवाले हैं; लेकिन कूप-मंडूकता तेरा सत्यानाश हो ! इस देश के बुद्धुओं ने उपदेश करना शुरू किया कि समुन्दर के खारे पानी और हिंदू धर्म में बड़ा बैर है, उसके छूने मात्र से वह नमक की पुतली की तरह गल जायगा । इतना बतला देने पर क्या कहने की आवश्यकता है कि समाज के कल्याण के लिए घुमक्कड़-धर्म कितनी आवश्यक चीज है । जिस जाति या देश ने इस धर्म को अपनाया, वह चारों फलों का भागी हुआ, और जिसने इसे दुराया, उसके लिए नरक में भी ठिकाना नहीं । आखिर घुमक्कड़ धर्म को भूलने के कारण ही हम सात शताब्दियों तक धक्का खाते रहे, ऐरे-गैरे जो भी आये, हमें चार लात लगाते गए ।

शायद किसी को संदेह हो कि मैंने इस शास्त्र में जो युक्तियाँ दी हैं, यह सभी लौकिक तथा शास्त्र-बाह्य हैं । अच्छा तो धर्म से प्रमाण लीजिए । दुनिया के अधिकांश धर्मनायक घुमक्कड़ रहे । धर्माचार्यों में आचार-विचार और तर्क तथा सहृदयता में सर्वश्रेष्ठ बुद्ध घुमक्कड़-राज थे । यद्यपि वह भारत से बाहर नहीं गये, लेकिन वर्षा के तीन मासों को छोड़कर एक जगह रहना वह पाप समझते थे । वह अपने ही घुमक्कड़ नहीं थे, बल्कि आरम्भ ही में अपने शिष्यों को उन्होंने कहा था—"चरथ भिक्खवे ! चारिकं" जिसका अर्थ है—भिक्षुओ ! घुमक्कड़ी करो । बुद्ध के भिक्षुओं ने अपने गुरु की शिक्षा को कितना माना, क्या इसे बताने की आवश्यकता है ? क्या उन्होंने पश्चिम में मकदूनिया तथा मिस्र से पूरब में जापान तक, उत्तर में मंगोलिया से लेकर दक्षिण में बाली और बांका के द्वीपों तक को रौंदकर रख नहीं दिया ? जिस बृहत्तर-भारत के लिए हरेक भारतीय को उचित अभिमान है, क्या उसका निर्माण इन्हीं घुमक्कड़ों की चरण-धूलि ने नहीं किया ? केवल बुद्ध ने ही अपनी घुमक्कड़ी से प्रेरणा नहीं दी, बल्कि घुमक्कड़ों का इतना जोर बुद्ध से एक दो शताब्दियों पूर्व भी था, जिसके ही कारण बुद्ध जैसे घुमक्कड़-राज इस देश में पैदा हो सके । उस वक्त पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ तक जम्बू-वृक्ष की शाखा ले अपनी प्रखर प्रतिभा का जौहर

दिखातीं, बाद में कूपमंडूकों को पराजित करतीं सारे भारत में मुक्त होकर विचरा करती थीं।

कोई-कोई महिलाएँ पूछती हैं—क्या स्त्रियाँ भी घुमक्कड़ी कर सकती हैं, क्या उनको भी इस महाव्रत की दीक्षा लेनी चाहिए ? इसके बारे में यहाँ इतना कह देना है कि घुमक्कड़ धर्म ब्राह्मण-धर्म जैसा संकुचित धर्म नहीं है, जिसमें स्त्रियों के लिए स्थान नहीं हो। स्त्रियाँ इसमें उतना ही अधिकार रखती हैं, जितना पुरुष। यदि वह जन्म सफल करके व्यक्ति और समाज के लिए कुछ करना चाहती हैं, तो उन्हें भी दोनों हाथों इस धर्म को स्वीकार करना चाहिए। घुमक्कड़ी-धर्म छुड़ाने के लिए ही पुरुष ने बहुत से बंधन नारी के रास्ते में लगाए हैं। बुद्ध ने सिर्फ पुरुषों के लिए घुमक्कड़ी करने का आदेश नहीं दिया, बल्कि स्त्रियों के लिए भी उनका वही उपदेश था।

भारत के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म भी है। जैन धर्म के प्रतिष्ठापक श्रमण महावीर कौन थे ? वह भी घुमक्कड़-राजा थे। घुमक्कड़-धर्म के आचरण में छोटी-से-बड़ी तक सभी बाधाओं और उपाधियों को उन्होंने त्याग दिया था—घर-द्वार और नारी-संतान ही नहीं, वस्त्र का भी वर्जन कर दिया था। "करतलभिक्षा, तरुतल वास" तथा दिग-अम्बर को उन्होंने इसीलिए अपनाया था कि निर्द्वन्द्व विचरण में कोई बाधा न रहे। श्वेताम्बर-बन्धु दिगम्बर कहने के लिए नाराज न हों। वस्तुतः हमारे वैशालिक महान् घुमक्कड़ कुछ बातों में दिगम्बरों की कल्पना के अनुसार थे और कुछ बातों में श्वेताम्बरों के उल्लेख के अनुसार। लेकिन इसमें तो दोनों सम्प्रदाय और बाहर के मर्मज्ञ भी सहमत हैं कि भगवान् महावीर दूसरी-तीसरी नहीं, प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ थे। वह आजीवन घूमते ही रहे। वैशाली में जन्म लेकर विचरण करते ही पावा में उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। बुद्ध और महावीर से बढ़कर यदि कोई त्याग, तपस्या और सहृदयता का दावा करता है, तो मैं उसे केवल दम्भी कहूँगा। आजकल कुटिया या आश्रम बनाकर तेली के बैल की तरह कोल्हू से बँधे कितने ही लोग अपने को अद्वितीय महात्मा कहते हैं या चेलों से कहलवाते हैं; लेकिन मैं तो कहूँगा, घुमक्कड़ी को त्यागकर यदि महापुरुष बना जाता, तो फिर ऐसे लोग गली-गली में देखे जाते। मैं तो जिज्ञासुओं को खबरदार कर देना चाहता हूँ कि वह ऐसे मुलम्मेवाले महात्माओं और महापुरुषों के फेर से बचे रहें। वे स्वयं तेली के बैल तो हैं ही, दूसरों को भी अपने ही जैसा बना रखेंगे।

बुद्ध और महावीर जैसे सृष्टिकर्त्ता ईश्वर से इनकारी महापुरुषों की घुम-

क्कड़ी की बात से यह नहीं मान लेना होगा कि दूसरे लोग ईश्वर के भरोसे गुफा या कोठरी में बैठकर सारी सिद्धियाँ पा गए या पा जाते हैं। यदि ऐसा होता, तो शंकराचार्य, जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे, क्यों भारत के चारों कोनों की खाक छानते फिरे? शंकर को शंकर किसी ब्रह्म ने नहीं बनाया, उन्हें बड़ा बनानेवाला था यही घुमक्कड़ी धर्म। शंकर बराबर घूमते रहे—आज केरल देश में थे, दो ही महीने बाद मिथिला में, और अगले साल काश्मीर या हिमालय के किसी दूसरे भाग में। शंकर तरुणाई में ही शिवलोक सिधार गए, किन्तु थोड़े से जीवन में उन्होंने सिर्फ तीन भाष्य ही नहीं लिखे; बल्कि अपने आचरण से अनुयायियों को वह घुमक्कड़ी का पाठ पढ़ा गए कि आज भी उसके पालन करने वाले सैकड़ों मिलते हैं। वास्को द-गामा के भारत पहुँचने से बहुत पहले शंकर के शिष्य मास्को और योरुप तक पहुँचे थे। उनके साहसी शिष्य सिर्फ भारत के चार धामों से ही सन्तुष्ट नहीं थे, बल्कि उनमें से कितनों ने जाकर बाकू (रूस) में धूनी रमाई। एक ने पर्यटन करते हुए बोल्गा तट पर निज्नीनोवोग्राद के महा-मेले को देखा। फिर क्या था, कुछ समय के लिए वहीं डट गया और उसने ईसाइयों के भीतर कितने ही अनुयायी पैदा कर लिए, जिनकी संख्या भीतर-ही-भीतर बढ़ती हुई इस शताब्दी के आरम्भ में कुछ लाख तक पहुँच गई थी।

रामानुज, मध्वाचार्य और दूसरे वैष्णवाचार्यों के अनुयायी मुझे क्षमा करें, यदि मैं कहूँ कि उन्होंने भारत में कूप-मंडूकता के प्रचार में बड़ी सरगर्मी दिखाई। भला हो, रामानन्द और चैतन्य का, जिन्होंने कि पंक से पंकज बनकर आदि काल से चले आते महान् घुमक्कड़ धर्म की फिर से प्रतिष्ठापना की, जिसके फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के तो नहीं, किन्तु द्वितीय श्रेणी के बहुत से घुमक्कड़ पैदा हुए। ये बेचारे बाकू की बड़ी ज्वालामाई तक कैसे जाते, उनके लिए तो मानसरोवर तक पहुँचना भी मुश्किल था। अपने हाथ से खाना बनाना, मांस-अण्डे से छू जाने पर भी धर्म का चला जाना, हाड़-तोड़ सर्दी के कारण हर लघुशंका के बाद बर्फीले पानी से हाथ धोना और हर महाशंका के बाद स्नान करना तो यमराज को निमन्त्रण देना होता, इसीलिए बेचारे फूंक-फूंककर ही घुमक्कड़ी कर सकते थे। इसमें किसे उज्र हो सकता है कि शैव हो या वैष्णव, वेदान्ती हो या सदान्ती, सभी को आगे बढ़ाया केवल घुमक्कड़ धर्म ने।

महान् घुमक्कड़-धर्म, बौद्ध धर्म का भारत से लुप्त होना क्या था, तब से कूप-मंडूकता का हमारे देश में ोलबाला हो गया। सात शताब्दियाँ बीत गई, और इन सातों शताब्दियों में दासता और परतन्त्रता हमारे देश में पैर तोड़कर बैठ गई, यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी। लेकिन समाज के अगुओं ने चाहे कितना ही

कूप-मंडूक बनाना चाहा, लेकिन इस देश में माई-के-लाल जब तब पैदा होते रहे, जिन्होंने कर्म-पथ की ओर संकेत किया। हमारे इतिहास में गुरु नानक का समय दूर का नहीं है, लेकिन अपने समय के वह महान् घुमक्कड़ थे। उन्होंने भारत-भ्रमण को ही पर्याप्त नहीं समझा और ईरान और अरब तक का धावा मारा। घुमक्कड़ी किसी बड़े योग में काम सिद्धिदायिनी नहीं है, और निर्भीक तो वह एक नम्बर का बना देती है। घुमक्कड़ नानक मक्के में जाके काबा की ओर पैर फैलाकर सो गए, मुल्लों में इतनी सहिष्णुता होती तो आदमी होते। उन्होंने एतराज किया और पैर पकड़के दूसरी ओर करना चाहा। उनको यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि जिस तरफ घुमक्कड़ नानक का पैर घूम रहा है, काबा भी उसी ओर चला जा रहा है। चमत्कार! आज के सर्वशक्तिमान, किन्तु कोठरी में बन्द महात्माओं में है कोई ऐसा, जो नानक की तरह हिम्मत और चमत्कार दिखलाए?

दूर शताब्दियों की बात छोड़िए, अभी शताब्दी भी नहीं बीती, इस देश से स्वामी दयानन्द को विदा हुए। स्वामी दयानन्द को ऋषि दयानन्द किसने बनाया? घुमक्कड़ी धर्म ने। उन्होंने भारत के अधिक भागों का भ्रमण किया; पुस्तक लिखते, शास्त्रार्थ करते वह बराबर भ्रमण करते रहे। शास्त्रों को पढ़कर काशी के बड़े-बड़े पंडित महा-महा मंडूक बनने में ही सफल होते रहे, इसलिए दयानन्द को मुक्त-बुद्धि और तर्क-प्रधान बनाने का कारण शास्त्रों से अलग कहीं ढूँढ़ना होगा। और वह उनका निरन्तर घुक्कड़ी धर्म का सेवन उन्होंने समुद्र यात्रा करने, द्वीप-द्वीपांतरों में जाने के विरुद्ध जितनी थोथी दलीलें दी जाती थीं, सबको चिट्ठी-चिट्ठी उड़ा दिया और बतलाया कि मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं है, वह जंगम प्राणी है। चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा, वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के भारतीय घुमक्कड़ों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। इतना लिखने से मालूम हो गया होगा कि संसार में यदि कोई अनादि सनातन धर्म है, तो वह घुमक्कड़ धर्म है। लेकिन वह संकुचित सम्प्रदाय नहीं है, वह आकाश की तरह महान् है, समुद्र की तरह विशाल है। जिन धर्मों ने अधिक यश और महिमा प्राप्त की है, वह केवल घुमक्कड़ थे, उनके अनुयायी भी ऐसे घुमक्कड़ थे, जिन्होंने ईसा के संदेश को दुनिया के कोने-कोने में पहुँचाया। यहूदी पैगम्बरों ने घुमक्कड़ी धर्म को भुला दिया, जिसका फल शताब्दियों तक उन्हें भोगना पड़ा। उन्होंने अपने जान चूल्हे से सिर निकालना नहीं चाहा। घुमक्कड़ धर्म की ऐसी भारी अवहेलना करनेवाले की जैसी गति होनी चाहिए,

वैसी गति उनकी हुई। चूल्हा हाथ से छूट गया और सारी दुनिया में घुमक्कड़ी करने को मजबूर हुए, जिसने आगे उन्हें मारवाड़ी सेठ बनाया; या यों कहिए कि घुमक्कड़ी धर्म की एक छींट पड़ जाने से मारवाड़ी सेठ भारत के यहूदी बन गए। जिसने इस धर्म की अवहेलना की, उसे रक्त के आँसू बहाने पड़े। अभी इन बेचारों ने बड़ी कुर्बानी के बाद और दो हजार वर्ष की घुमक्कड़ी के तजर्बे के बल पर फिर अपना स्थान प्राप्त किया। आशा है, स्थान प्राप्त करने से वह चूल्हे में सिर रखकर बैठनेवाले नहीं बनेंगे। अस्तु। सनातन-धर्म से पतित यहूदी जाति को महान् पाप प्रायश्चित या घुमक्कड़ी के रूप में भोगना पड़ा, और अब उन्हें पैर रखने का स्थान मिला। आज भारत तना हुआ है। वह यहूदियों की भूमि और राज्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। जब बड़े-बड़े स्वीकार कर चुके हैं, तो कितने दिनों तक यह हठधर्मी चलेगी? लेकिन विषयान्तर में न जाकर हमें यह कहना था कि यह घुमक्कड़ी धर्म है, जिसने यहूदियों को केवल व्यापार-कुशल उद्योग-निष्णात ही नहीं बनाया, बल्कि विज्ञान, दर्शन, साहित्य, संगीत सभी क्षेत्रों में चमकने का मौका दिया। समझा जाता था कि व्यापारी तथा घुमक्कड़ यहूदी युद्ध-विद्या में कच्चे निकलेंगे; लेकिन उन्होंने पाँच-पाँच अरबी साम्राज्यों की सारी शेखी को धूल में मिलाकर चारों खाने चित्त कर दिया और सबने नाक रगड़कर उनसे शांति की भिक्षा मांगी।

इतना कहने से अब कोई सन्देह नहीं रह गया कि घुमक्कड़ धर्म से बढ़कर दुनिया में धर्म नहीं है। धर्म भी छोटी बात है, उसे घुमक्कड़ के साथ लगाना "महिमा घटी समुद्र की, रावण बसा पड़ोस" वाली बात होगी। घुमक्कड़ होना आदमी के लिए परम सौभाग्य की बात है। यह पन्थ अपने अनुयायी को मरने के बाद किसी काल्पनिक स्वर्ग का प्रलोभन नहीं देता, इसके लिए तो कह सकते हैं—"क्या खूब सौदा नक्द है, इस हाथ से ले, उस हाथ दे।" घुमक्कड़ी वही कर सकता है, जो निश्चिन्त है। किन साधनों से सम्पन्न होकर आदमी घुमक्कड़ बनने का अधिकारी हो सकता है, यह आगे बतलाया जायगा; किन्तु घुमक्कड़ी के लिए चिंताहीन होना आवश्यक है, और चिंताहीन होने के लिए घुमक्कड़ी भी आवश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय होना दूषण नहीं, भूषण है। घुमक्कड़ी से बढ़कर सुख कहाँ मिल सकता है? आखिर चिंताहीनता तो सुख का स्पष्ट रूप है। घुमक्कड़ी में कष्ट भी होते हैं, लेकिन उसे उसी तरह समझिए, जैसे भोजन में मिर्च। मिर्च में यदि कड़वाहट न हो, तो क्या कोई मिर्च-प्रेमी उसमें हाथ भी लगाएगा? वस्तुतः घुमक्कड़ी में कभी-कभी होनेवाले

कड़वे अनुभव उसके रस को और बढ़ा देते हैं, उसी तरह जैसे काली पृष्ठभूमि में चित्र अधिक खिल उठता है।

व्यक्ति के लिए घुमक्कड़ी से बढ़कर कोई नकद धर्म नहीं है। जाति का भविष्य घुमक्कड़ी पर निर्भर करता है, इसलिए मैं कहूँगा कि हरेक तरुण और तरुणी को घुमक्कड़ व्रत ग्रहण करना चाहिए। इसके विरुद्ध दिये जानेवाले सारे प्रमाणों को झूठ और व्यर्थ का समझना चाहिए। यदि माता-पिता विरोध करते हैं, समझना चाहिए कि वह भी प्रह्लाद के माता-पिता के नवीन संस्करण हैं। यदि हितबान्धव बाधा उपस्थित करते हैं, तो समझना चाहिए कि वे दिवांध हैं। यदि धर्म-धर्माचार्य कुछ उलटा-सीधा तर्क देते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि इन्हीं ढोंगों और ढोंगियों ने संसार को कभी सरल और सच्चे पथ पर चलने न दिया। यदि राज्य और राजनी नेता अपनी कानूनी रुकावटें डालते हैं, तो हजारों बार की तजर्बा की हुई बात है कि महानदी के वेग की तरह घुमक्कड़ की गति को रोकनेवाला दुनिया में कोई पैदा नहीं हुआ। बड़े-बड़े कठोर पहरे-वाली राज्यसीमाओं को घुमक्कड़ों ने आँख में धूल झोंककर पार कर लिया। मैंने स्वयं ऐसा एक से अधिक बार किया है। (पहली तिब्बत यात्रा में अंग्रेजों, नेपाल-राज्य और तिब्बत के सीमा-रक्षकों को आँख में धूल झोंककर जाना पड़ा था।)

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं, यदि कोई तरुण-तरुणी घुमक्कड़ी धर्म दीक्षा लेता है—यह मैं अवश्य कहूँगा, कि यह दीक्षा वही ले सकता है, जिसमें बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस है—तो उसे किसी की बात नहीं सुननी चाहिए, न माता के आँसू बहने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की, न भूल से विवाह लाई अपनी पत्नी के रोने-धोने की फिक्र करनी चाहिए और न किसी तरुणी को अभागे पति के कलपने की। बस, शंकराचार्य के शब्दों में यही समझना चाहिए—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः" और मेरे गुरु कपोतराज के वचन को अपना पथप्रदर्शक बनाना चाहिए—

"सैर कर दुनिया की गाफिल, जिन्दगानी फिर कहाँ ?
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?"

दुनिया में मानुष-जन्म एक ही बार होता है और जवानी भी केवल एक ही बार आती है। साहसी, मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नहीं धोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ो। संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।

●

सियारामशरण गुप्त
[सन् १८९५—१९६३]

अपूर्ण

वसन्त का आगमन अभी हाल में ही हुआ है। बहुत सी बातों के कारण घर में उससे दो घड़ी बात कर लेने का भी समय नहीं मिलता। इसके लिए वन और खेत का एकांत चाहिए। इसी कारण आज का काम कल कर लेने की मूर्खतापूर्ण बात सोचकर भी आज संध्या समय कुछ जल्दी घूमने के लिए बाहर निकल आया हूँ।

वृक्षों में नई नई कोपलें आ गई हैं। आम ने मोरकर अपने भीतर की खटाई और कसैलेपन को भी मधुर कर दिया है। नये जीवन की उष्णता पाकर हवा भी कुछ और की और हो गई है। कदाचित् कोइल भी कूकने लगी है, परंतु अभी तक मैं उसे सुन नहीं सका। सुन कैसे सकूँ, पहले पहल किसी कवि-सखा के कान में ही वह अपना अमृत ढालेगी।

कुछ हो, किसी तरह कवि बनने की इच्छा तो आज मेरी भी है। कम से कम काम मैं कवि का ही कर रहा हूँ। पक्की सड़क की मोटी 'लीक' छोड़कर घूमने के लिए मैं खेतों की ओर मुड़ गया हूँ। मैंने यह विचार नहीं किया कि यह रास्ता ऊँचा-नीचा, चौड़ा-सकड़ा, टेढ़ा-मेढ़ा, और जहाँ तहाँ झाड़-झंखाड़ और काँटों से भरा होने के कारण मुझ जैसे जन के चलने योग्य नहीं है!

साँझ के मटमैलेपन के ऊपर सप्तमी के अर्द्धचंद्र का प्रकाश स्पष्ट हो उठा। स्पष्ट उतना ही जितना यह है। सोचा था, खेतों की हरियाली से ही मैं आज अपने को तृप्त करूँगा; चाँदनी का रस लेने के लिए मुझे पूर्णिमा की प्रतीक्षा करनी होगी। परंतु मेरा मन अब यह कुछ नहीं सुनना चाहता। एकाएक भीतर के भीतर तक वह पुलकित हो उठा है। पक्के व्यवसायी की भाँति तेरह के उधार का लोभ छोड़कर उसने नौ का ही यह नगद सौदा तत्काल पक्का कर लिया है।

यह पूरा विकसित नहीं है तो क्या हुआ, इस अपूरे के भीतर भी उस पूरे

का ही प्रकाश है ! अधूरे और अधखिले में भी अपना कुछ स्वाद है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जिन नववयस्कों की रसना और दंतपंक्ति में बुढ़ापे का कीट नहीं लग गया, उन्हें कच्चे आम में भी पके रसाल की अपेक्षा अधिक रस मिलता है। इस विषय में मेरा निजी अनुभव भी ऐसा ही है। बहुत पहले इन्हीं दिनों एक बार मैंने लगातार तीन चार महीने खटिया पर रोग का सेवन किया था। लेटे-लेटे उस समय मैं प्रायः यही प्रश्न किया करता था कि मेरे अच्छे होने तक अमियों की फसल तो रहेगी नहीं ? मेरे सिरहाने बैठकर इस संबंध में अन्यथा आश्वस्त करके भी जिसने मुझे उस समय प्रसन्न कर रक्खा था, उसे साक्षी के रूप में पाठक के सामने उपस्थित कर सकने में आज मैं असमर्थ हूं। फिर भी उस आनंद की स्मृति चिरस्मरणीय होकर मेरे साथ है। उस समय मुझमें रसबोध नहीं था, यह मैं स्वीकार नहीं करना चाहता। आनंद देवता के उदार हाथों से जब जो मिले उसी से संतुष्ट हो सकने में ही हमारा गौरव है। नहीं तो हममें और सिर फोड़कर धरना देनेवाले मंगतों में अंतर ही क्या रहा ? इस अर्द्धचंद्र का पूरा का पूरा वैभव छीनकर, हमने इसे कल के लिए कंगाल नहीं कर दिया, इससे बढ़कर दूसरा आनंद हमारे लिए हो नहीं सकता। वर्ष के प्रारंभ में ही न जाने कब से मधुमास हमें आधा ही मिलता आ रहा है। कदाचित् ऐसा इसलिए कि उसके मधु-भंडार की अक्षयता में हमारा विश्वास बना रहे। और, इस प्रकार हमारा यह वर्ष ऊपर से नीचे तक का पूरा का पूरा मधुमिश्रित हो गया है, इसका कहना ही क्या।

आश्चर्य की बात है कि इतने सुन्दर इस अर्द्धचंद्र की उपेक्षा हमारे कवियों ने क्यों की। मुझे याद नहीं पड़ता कि इसे देखकर उन्होंने कभी अपना उल्लास प्रकट किया हो। कहने को कहते वे यही हैं कि 'सब उघरे सोहें नहीं कवि आखर' इत्यादि। चाहते तो इस सूची में इस प्रेयस् चंद्र को भी शामिल कर सकते थे। परंतु न जाने वे क्यों इसे पूरा ही देखना चाहते हैं, भले ही इसके लिए उन्हें अपना सिद्धांत बदल देना पड़े। वे जानते हैं कि इस वास्तविक जगत् में 'नित प्रति पूनों ही' नहीं रह सकती। पूनों का संगीत सुनने के लिए तीस दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस तीसवें दिन भी राहु-केतु, बिजली और बादल की कड़क आदि न जाने कितनी कितनी बाधाएँ हैं। हालत उनकी, उनके कहने के ही अनुसार, ऐसी है कि बस अब या तब। फिर भी न तो उनकी प्रेयसी पूरे चंद्रमा को देखे बिना अधीर हो सकती है और न वे स्वयं भी आँसू बरसा सकते हैं। कवियों की देखा-देखी हमारे समालोचकों का हाल भी ऐसा ही है। उन्हें भी पूरा ही पूरा चाहिए। उस पूरे में भी देखने को यद्यपि वे

कलंक ही देखेंगे, परंतु इस अधूरे के लिए तो उन्हें इतना कष्ट भी स्वीकार न होगा। जो हो, कवि और समालोचक को देखने का समय आज मुझे नहीं है। आज मैं इस अर्द्धचंद्र का आनंद नहीं छोड़ना चाहता। कबीर ने उपदेश किया है कि जो कल करना चाहते हो उसे आज करो; और आज के करने का जो काम है उसे अभी, इसी समय। तुरत दान, महा कल्याण ! इस संसार में प्रत्येक पल प्रलयशील है; उसका बनना-बिगड़ना हम किसी भी क्षण देख सकते हैं। मैं नहीं चाहता कि पूनों के चंद्र को देखने के लिए चौबीस घंटे के कितने ही दिन-रात आँखें मूँदकर बैठा रहूँ। मैं बैठा रहना चाहूँ तब भी यह बात होने को नहीं दिखाई देती। फिर किसी कवि अथवा किसी समालोचक के कहने से मैं आज का यह आनंद अन्य कितने ही कलों के लिए क्यों छोड़ दूँ ? आज के आनंद का उपभोग आज करूँगा, और कल परसों का क्रम बीच में ही भंग नहीं हो गया तो मैंने कुछ ऐसी शपथ नहीं ले रक्खी है कि फिर मैं आँखें खोलूँगा ही नहीं।

मैं समझता हूँ सप्तमी नहीं तो वसंत की द्वादसी ही वह होगी जिस दिन वाल्मीकि ने करुणा के खारी जल से अपनी दोनों आँखों का कीच धोकर पहले पहल रामचंद्र का दर्शन किया। इस अवतार में भगवान् की द्वादश ही कलाएँ हैं न ? मैं मान लेता हूँ, द्वादश नहीं और कम थीं। परंतु क्या कभी मैं यह भी मान ले सकता हूँ कि उनकी यह अपूर्णता अग्राह्य है ? इस अपूर्णता को लेकर आज के इस घोर युग में भी हम सतयुग के, अच्छा सतयुग नहीं तो त्रेता के, उस साकेतधाम में विहार करने लगते हैं, जिसे बड़े से बड़ा पुरातत्त्वदर्शी बाहर से झाँककर देख तक नहीं नहीं सकता। कुछ क्यों न हो, आज मैं किसी के भी बहकावे में किसी तरह नहीं पड़ना चाहता।

अच्छा हाँ, कृष्णचंद्र षोडशकलावतार थे। यह ठीक है। ऐसा होने पर भी, किंतु, यह भुला देना ठीक नहीं है कि इस पूर्णचंद्र के साथ कृष्ण जुड़ा हुआ है, शुक्ल नहीं। महत्व वहीं है, जहाँ अंधकार में प्रकाश हो। विधाता ने केवल अंधकार अथवा केवल प्रकाश की ही सृष्टि की होती तो उसकी बहुमुखी प्रतिभा का मूल्य बहुत निम्न कोटि के कलाकार जितना भी न रहता।

ज्ञान अथवा अज्ञान के विषय में भी यही बात है। मंत्रद्रष्टा ऋषि 'नेति-नेति' कहकर जब आगे का अपना अज्ञान स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं, तभी यह बात हमारे मन में जमती है कि कहीं ज्ञान है तो यहीं, केवल इनके पास। परम ज्ञानियों और महात्माओं की सेवा और सत्संग में रहकर भी मनुष्य को शांति मिलती होगी, परंतु उस आनंद की तुलना दूसरी जगह नहीं पाई जा सकती,

जिसे कोई अबोध शिशु अनायास एक घड़ी के भीतर दे देता है। हमारे साहित्य के सूर्य और चंद्र का अनुभव भी इस विषय में ऐसा ही है। ज्ञान के प्रवीण उद्धव की बात इनमें से एक ने सुन तो ली, परंतु मन उनका वहीं लगा है, जहाँ उनका उपास्य बाल रूप में—

'शोभित कर नवनीत लिये
घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि-लेप किये।'

दूसरे घर-बार-त्यागी साधु का हाल भी ऐसा ही है—

'घुंघराली लटें लटकें मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की;
निवछावर प्रान करे तुलसी, वलि जाउँ लला इन वोलन की।'

बात यह है कि ऊपर से मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न प्रतीत होता रहे, उसका भीतरी मन जानता है कि वस्तुतः एक अस्फुट शिशु से ज्ञान में वह किसी भी भाँति अधिक नहीं। इसी से जब उनकी मंडली में वह पहुँच जाय, तब मानो समवयस्कों की शैली और संगति पाकर भीतर-बाहर खिल पड़ता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि ऐसा बाल-गोपाल तो उसे अपने घर में ही मिल सकता था। इसके लिए हाथ में कमंडल लेकर और शरीर में भभूत रमाकर इतना भटकने की आवश्यकता उसे न थी। आज यह अपूर्ण, यह अविकच मुझे अनायास मिल गया है। आगे आनेवाले किसी पूर्ण की लालसा में आज का यह आनंद छोड़ देने की मूर्खता मैं नहीं करूंगा।

मेरे ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर सप्तमी के चंद्र की यह चांदनी छिटकी पड़ी है। ऊपर से नीचे तक हलके वसंती रंग की होली खेलकर इसने मुझे सराबोर कर दिया। मेरे चारों ओर गेहूँ, चना, अलसी और सरसों के हरे-हरे खेत हैं। पककर अभी पूरे नहीं हुए, इससे ये भी मेरे मन के साथ ठीक मेल खा जाते हैं। संध्या समय वायु के हिलकोरों के साथ जो शोभा इनकी थी, इस धुंधली चांदनी में अब वह दिखाई नहीं पड़ती। फिर भी इसके लिए मुझे शिकायत नहीं है। यहाँ मैंने बहुत कुछ देख-सुन लिया। अपरिहार्य होकर मेरे भीतर जो अस्पष्टता, जो अवगुण, जो त्रुटि, जो अपूर्णता, निवास कर रही है, इसके लिए आज मैं अपने को धिक्कारूंगा नहीं। वृक्षों के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर मैं देखता हूँ कि छाया और प्रकाश के ये छोटे-छोटे बच्चे यहाँ एक दूसरे से हिल-मिलकर खेल रहे हैं। वसंत का भीना-भीना पवन वृक्ष के पल्लवों को गुदगुदाता है और छाया और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट पोट होकर गिर-गिर पड़ते हैं एक दूसरे के ऊपर। एक दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक दूसरे के लिए 'अब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य' का चीत्कार नहीं करते। इस झुरमुट के बाहर खुले में भी

कुछ ऐसी ही है। इस धुंधली चाँदनी में अप्रकट और प्रकट को एकरस देखकर मैंने भरतमिलाप का नया दृश्य देख लिया। एक ही माँ के यमज लालों की भाँति ये एक दूसरे को भेंटते हुए छाती से छाती मिलाकर आपस में मिल गए हैं। इनमें कौन प्रकाश है और कौन अंधकार इसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिरंतन द्वंद्व मिट चुका है; दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं। अपूर्ण और पूर्ण, दुःख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं, इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया।

वसंत का कोई संदेश सुनने के लिए मैं घर से निकला था। कह नहीं सकता, कितना उसने अपने में छिपा रक्खा और कितना मुझे दिया। कुछ हो, जितना मुझे मिल गया है, वह भी मेरे लिए कम नहीं।

●

पदुमलाल पन्नालाल बख्शी
[सन १८९५—]

कला का विन्यास

वसन्त के किसी मध्याह्नकाल में कुछ देर तक चिन्तामग्न रहने के बाद साहित्य के तरुण उपासक रमेश ने कलम उठा ली और लिखना प्रारम्भ किया।

"देवगढ़ के कुमार इन्द्रजीतसिंह के पास रूप था, सम्पत्ति थी, प्रभुत्व था और थी यौवन की स्फूर्ति। फिर भी उन्हें जीवन से विरक्ति हो गई थी। कोई भी काम उन्हें अच्छा नहीं लगता था। प्रतिदिन वहीं बातें होतीं, वही लोग मिलने आते और उनसे उन्हीं बातों की चर्चा होती थी। वही चिन्ताएँ उन्हें प्रतिदिन करनी पड़ती थीं। यात्रा से अब उन्हें अनुराग नहीं था। घूमते-घूमते वे एक क्लान्ति का अनुभव करने लगे थे। सिनेमा से तो उन्हें बिलकुल चिढ़ हो गई थी, संगीत में भी अब उन्हें कोई रस नहीं प्राप्त होता था। साहित्य तो बिलकुल असह्य हो गया था। हाथ में किसी भी प्रसिद्ध कलाकार की पुस्तक लेते ही उन्हें नींद आने लगती थी। साहित्य को वे नींद लाने की एक औषध समझते थे। जीवन के प्रारम्भ-काल में उन्होंने प्रेम, उल्लास और स्फूर्ति का जो एक कल्पना-जगत् निर्मित किया था, वह संसार के यथार्थ कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट होते ही विलीन हो गया। जीवन में अब उन्हें कोई रस नहीं रहा।

कुमार इन्द्रजीतसिंह कुछ सोच नहीं सकते थे, कुछ समझ नहीं सकते थे कि उनकी इस अतृप्ति, विरक्ति और असंतोष का कारण क्या है। एक दिन गया से उनके एक मित्र उनसे भेंट करने के लिए आए। मित्र का नाम था राधाकान्त और वे उनके अंतरंग मित्र थे। इन्द्रजीतसिंह ने उन्हें अपने असंतोष की बात सुनाई। राधाकान्त ने कहा—'आप बाहर क्यों नहीं जाते? कूपमंडूक की तरह एक ही जगह बद्ध रहने से जीवन में रस कैसे आ सकता है?'

इन्द्रजीतसिंह ने कहा—'घूमते-घूमते तो भाई, मैं थक गया हूँ। कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, आगरा, जयपुर, जोधपुर सभी जगह घूम चुका हूँ। रेलगाड़ियों और मोटरों से बिलकुल ऊब गया हूँ। अब तो हवाई जहाज में भी मेरे लिए

कोई आकर्षण नहीं रहा। सच्ची बात यह है कि मैं अब जीवन का यथार्थ मधुर रस पाना चाहता हूँ।'

राधाकान्तजी उनकी बात सुन, 'हूँ' कह क्षण भर कुछ सोचते रहे, फिर उन्होंने कहा—'अब आप गया आइए। रुपयों की तो आपको चिन्ता नहीं है। मैं आपको वहीं जीवन के यथार्थ रस का अनुभव कराऊँगा। आप अकेले ही आइए। पंद्रह दिनों के बाद आइए, तब तक मैं आपके लिए सब प्रकार की व्यवस्था कर डालूंगा; परन्तु मुझे जितने रुपयों की आवश्यकता होगी, वह मैं आपसे ले लूंगा।'

कुमार ने राधाकान्तजी की बात स्वीकार कर ली।

पन्द्रह दिन के बाद कुँवर इंद्रजीतसिंह गया गए। उन्होंने राधाकान्तजी को अपने आने की सूचना दे दी। वे राधाकान्तजी को अच्छी तरह जानते थे। वे यह समझ चुके थे कि उन्हें राधाकान्तजी कहाँ-कहाँ ले जाएँगे। पर उनमें से किसी के प्रति भी उन्हें रुचि नहीं रह गई थी। ऐश्वर्य के विलासमय कृत्रिम जीवन से तो उन्हें घृणा हो गई थी, फिर भी उन्होंने यह सोचा कि दो दिन घूम आने में हानि ही क्या है? वे फर्स्ट क्लास में यात्रा कर रहे थे। उसमें और कोई दूसरा यात्री नहीं था। जब गया पहुँचने में दो-चार स्टेशन रह गए, तब एक छोटे स्टेशन पर गाड़ी छूटने के समय एक नवयुवती सहसा उसी डिब्बे में प्रविष्ट हुई। उसके चेहरे से ऐसा जान पड़ता था कि वह कुछ घबराई-सी है। उस युवती ने तुरन्त ही दरवाजा बन्द कर दिया और एक कोने में जाकर बैठ गई।

गाड़ी ने सीटी दी और क्षण भर में वह द्रुत वेग से चलने लगी। तब उस तरुणी ने कुमार इन्द्रजीतसिंह पर दृष्टिपात किया। पहले तो वह कुछ झिझककर उठ खड़ी हुई, फिर कुछ गंभीर होकर अपनी उसी जगह बैठ गई। उस युवती के चेहरे पर आतंक, उद्वेग और आशंका का एक ऐसा भाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता था कि उसके प्रति कुमार इन्द्रजीत के हृदय में आप-से-आप एक कौतूहलपूर्ण आकर्षण हो गया। पर कौतूहल होने पर भी वे उस अपरिचित रमणी से बातचीत करने का साहस न कर सके। वह युवती कुछ देर तक बाहर देखती रही, फिर उसने सहसा कुमार की ओर दृष्टिपात कर कहा—'आप मेरी धृष्टता क्षमा करें; क्या मैं जान सकती हूँ कि आप कहाँ से आ रहे हैं?'

कुमार ने उत्तर दिया—'बिलासपुर से।'

'आप क्या किसी काम से गया जा रहे हैं?'

'नहीं; मैं यों ही घूमने जा रहा हूँ।'

'आपको मेरी धृष्टता के कारण आश्चर्य होता होगा; पर मैं एक विचित्र संकट में पड़ी हुई हूँ।'

'यदि आप अनुचित न समझें, तो मुझे अपने संकट का हाल बतलाने की कृपा करें।'

'मैं अपनी विपत्ति का हाल बतला नहीं सकती, पर....।' इतना कहकर वह युवती क्षण भर रुक गई। फिर उसने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—'आपसे मैं सर्वथा अपरिचित हूँ, फिर भी आपके इस क्षणिक परिचय से मुझे यह विश्वास हो गया है कि आप में अपूर्व सहृदयता, सज्जनता और उदारता है। इसलिये मैं एक छोटी बात के लिये याचना करना चाहती हूँ।'

उस युवती में अपूर्व सौन्दर्य था। उसकी वाणी में मधुरिमा थी। कुमार विस्मय-विमुग्ध हो बोले—'यदि मैं आपकी किसी प्रकार सेवा कर सका तो अवश्य करूँगा। आप निस्संकोच कहिये।'

रमणी ने पूछा—'आप गया में कहाँ ठहरेंगे ?'

कुमार ने उत्तर दिया—'मैं गया में बाबू राधाकान्तजी के यहाँ ठहरूँगा। बाजार में उनका मकान है, और वहाँ किसी से भी पूछने पर आप उनका पता लगा लेंगी।'

'अच्छी बात है, मैं वहीं आपसे मिलूंगी। तब तक आप यह अँगूठी अपने पास रखिये।' यह कहकर उसने अपने बेग में से अँगूठी निकालकर उसे कुमार के हाथों में दी और कहा—'इसे आप साधारण अँगूठी मत समझिये। इसी पर मेरा जीवन-मरण निर्भर है। अभी मैं आपसे कुछ कह नहीं सकती, पर समय आने पर आप स्वयं जान जायेंगे कि इस अँगूठी का रहस्य क्या है ? आप खूब सावधानी से रखिये। आप इसे अपने अँगुली में ही पहन लीजिये और किसी भी अवस्था में इसे आप क्षण भर के लिए भी अलग न कीजिएगा। इसी एक बात पर मेरा सारा जीवन आश्रित है।'

कुमार इन्द्रजीतसिंह उस युवती की बातें सुनकर बड़े आश्चर्य में पड़ गए। पर उस युवती की बात स्वीकार कर उन्होंने वह अँगूठी पहन ली। फिर दोनों में कोई बात नहीं हुई। गाड़ी गया स्टेशन पर रुकी। रमणी तुरन्त ही उतरकर चली गई। इन्द्रजीतसिंहजी भी नीचे उतरे। वहाँ राधाकान्तजी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनकी इच्छा हुई कि युवती की बात वे राधाकान्तजी को बतला दें; पर कुछ सोच कर वे रुक गये। फिर वे राधाकान्तजी के साथ एक मोटर में बैठकर रवाना हुए।'

यहाँ तक लिख लेने के बाद रमेश की कलम आप-से-आप रुक गई। आगे किस प्रकार यह घटना-चक्र बढ़ाया जाय, यह उसकी समझ में न आया। वह बड़ी देर तक सोचता रहा। वह उसी दिन एक आख्यायिका लिख कर किसी पत्र में भेजना चाहता था। अर्थ की दृष्टि से पत्रों में आजकल आख्यायिका का ही मूल्य होता है। परन्तु आख्यायिका के लिये कथा-वस्तु सबसे अधिक मुख्य है, वही वह सोच नहीं पाता था। बात बिल्कुल सच है, जब तक कथा के लिए कोई वस्तु ही नहीं है, तब तक कथा लिखी किस प्रकार जा सकती है। इसीलिये रमेश बड़ी चिन्ता में पड़ा हुआ था।

मनुष्यों को कथा के प्रति जो अनुराग है, उसका कारण यह है कि उनके दैनिक जीवन में कहीं असाधारणता नहीं रहती, कहीं विलक्षणता नहीं रहती, एक ही प्रकार की बातें प्रतिदिन होती हैं। स्थिति वैपरीत्य से उन्हें भले ही कभी अर्थ की चिन्ता करनी पड़े, कभी कष्ट सहना पड़े, कभी प्रयास करना पड़े, पर सभी तरह के कष्टों में ऐसी कोई बात नहीं रहती, जो असाधारण या विलक्षण हो।

अधिकांश लोगों को कष्ट ही सहना पड़ता है। जीवन से विरक्त होकर लोग अपने छोटे-छोटे व्यवहार के कारण इतने त्रस्त और उद्विग्न हो जाते हैं कि सभी क्षण भर यथार्थ जगत् की कठोरता को भूलकर कल्पना के किसी माया-लोक में विचरना चाहते हैं। कल्पना के इस माया-लोक में प्रेम का राज्य है। वहाँ सौन्दर्य और श्री का निवास रहता है। वहाँ पीड़ा और वेदना में भी मादकता रहती है। वहाँ दुःख-कष्ट में गौरव रहता है। हम सभी नायक होकर अपनी हीनावस्था में भी एक उच्चतम अवस्था की कल्पना कर लेते हैं।

किसी विज्ञ ने कहा है कि कथा में जीवन की अनुभूति रहती है, उसमें जीवन का यथार्थ चित्रण होता है, उसमें समाज की यथार्थ स्थिति अंकित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य के आधार पर ही कल्पना कथा-जगत् का निर्माण करती है। कथाओं में पात्र कल्पित होते हैं, स्थिति कल्पित होती है, घटनाएँ कल्पित होती हैं, फिर भी उनमें सत्य का चिरन्तन रूप तो व्यक्त होता है; उस कल्पना के भीतर लेखक की सच्ची अनुभूति तो विद्यमान रहती है।

रमेश ने अब तक अपनी अनुभूति के आधार पर ही देवगढ़ के कुमार इन्द्रजीतसिंह की सृष्टि की। कुमार इन्द्रजीतसिंह की जो मानसिक स्थिति थी, वही उसकी भी थी। तरुणावस्था की अतृप्ति, विरक्ति, असन्तोष और एक

अज्ञात, अलक्षित आकांक्षा के भाव जैसे कुमार में उदित हुए थे, वैसे ही रमेश के हृदय में थे।

यात्रा में सभी समय अपूर्व सौंदर्य-शालिनी युवतियों से भेंट नहीं होती, यह सच है। फिर भी यह बात नहीं है कि हम लोग रेलगाड़ी में यात्रा करते समय कभी कोई ऐसी स्त्री को नहीं देख पाते जिसके रूप से हम लोग मुग्ध हो जाते हैं। कितने ही आख्यायिका-लेखकों ने रेलगाड़ी की यात्रा में ही नायकों का परिचय अपूर्व सुन्दरियों से कराया है। परिचय होने पर उनसे स्नेह और विश्वास या मधुरालाप सर्वथा असम्भव नहीं। किसी अज्ञात आशंका और भय से त्रस्त कोई अपूर्व सुन्दरी किसी अपरिचित युवक को उस विषम अवस्था में इतना विश्वासपात्र बना ले कि वह उसे अंगूठी दे दे; यह कोई अलौकिक घटना नहीं हुई। ऐसी बात बिलकुल असम्भव भी हो, तो तरुणों के हृदय में तो वह सर्वथा सम्भव है; क्योंकि सभी तरुण यह चाहते हैं कि किसी अपूर्व सुन्दरी से अचानक उनका परिचय हो जाय और उनका यह परिचय प्रेम और विश्वास के रूप में परिणत हो जाय।

यहाँ तक तो रमेश के हृदय में अपनी आख्यायिका की गति पर कोई सन्देह नहीं हुआ। पर अब घटनाओं का विन्यास कैसे किया जाय? कहा गया है कि सत्य सदैव नीरव रहता है और कल्पना ही मुखरा होती है। विधाता की रंगभूमि में जीवन का जो अभिनय हो रहा है, उसमें यवनिका का पतन सर्वथा अनिश्चित रहता है। न जाने कब, किस अवस्था में यवनिका का पतन हो जाए और पात्र किसी अज्ञात, रहस्यमय लोक में अन्तर्हित हो जाए। कितनी ही आशाएँ और कामनाएँ अपूर्ण रह जाती हैं; परन्तु कल्पना यथार्थ जगत् की इसी कठोरता को मनोहर बना देती है। यथार्थ जगत् में यात्रा का परिचय क्षणिक होता है। हृदय में लालसा होने पर भी परिचय प्रेम में परिणत नहीं होता। कभी-कभी तो यात्रा में हम लोगों को ऐसी असुविधाजनक स्थिति में रहना पड़ता है कि प्रेम के लिए स्थान ही नहीं रहता। तो भी कल्पना द्वारा हम लोग प्रेम की मधुर स्थिति का अनुभव कर लेते हैं। प्रताड़ित, तिरस्कृत और दलित होकर भी हम किसी अपूर्व सुन्दरी के हृदय-सिंहासन पर अक्षय स्थान पा जाते हैं।

इन्हीं सब भावों से प्रेरित होकर प्रेम की विलक्षण घटनाओं से पूर्ण एक कथा लिखने का विचार कर यहाँ तक तो कहानी लिख डाली, पर वह आगे क्या लिखे? अब कौन बात लेकर कथा का विकास किया जाय? यही सोचते-सोचते रमेश क्लान्त का अनुभव करने लगा। वह मन ही मन कहने लगा कि

खत्रीजी ने न-जाने किस बल से चौबीस भागों में एक उपन्यास लिख डाला; किशोरीलालजी गोस्वामी असंख्य उपन्यासों की रचना कर चले गए; गहमरीजी कितनी ही रहस्यपूर्ण घटनाओं का भंडाफोड़ कल्पना द्वारा कर गए। पर रमेश में तो वह शक्ति नहीं, तब वह क्या करे?

इसी चिन्ता में रमेश की आँखें झपने लगीं। उसे ऐसा जान पड़ा मानो वह अन्तरिक्ष में उड़ा जा रहा हो। शरीर विवश था। वह एक शिथिलता का अनुभव कर रहा था। फिर भी उसे ऐसा जान पड़ा कि वह किसी अपरिचित लोक में पहुँचा गया है। वहाँ उसने एक रमणीक स्थान में कुछ लोगों को बैठे देखा। वहीं जाकर वह खड़ा हो गया, अथवा यह कहना चाहिए कि वहाँ वह किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से खड़ा कर दिया गया। उसे देखकर उन व्यक्तियों में से एक ने कहा—'इस गरीब लेखक को कथा-वस्तु ही नहीं मिल रही है। भला, बतलाइए तो कि गप मारने के लिये भी क्या कोई शक्ति चाहिये?'

दूसरे ने कहा—'गप नहीं, गल्प कहो। इसमें सन्देह नहीं कि स्वर्ग में तत्व का चिन्तन करते-करते मैं भी ऊब गया हूँ। जब मैं भूलोक में था, तब मैं न-जाने कितनी कथाओं की सृष्टि किया करता था।'

तीसरे ने कहा—'तब इसको आप कुछ सहायता क्यों नहीं दे देते?'

उस व्यक्ति ने कहा—'एक काम कीजिए, हम सभी लोग तो कल्पना के मायालोक में विचरण कर चुके हैं। आइए, आज हम सभी मिलकर इस लेखक के लिए एक कथा तैयार कर दें। कथा ऐसी हो कि उसके निर्माण में हम सभी लोगों का कुछ-कुछ अंश होना चाहिये।'

यह बात सुनकर जितने वहाँ बैठे थे, सभी तैयार हो गए। तब एक गम्भीर आकृति के पुरुष की ओर दृष्टिपात कर एक ने कहा—'व्यासजी, आप ही उसकी कथा को आगे बढ़ाइए।

तब पंडित अम्बिकादत्तजी व्यास ने कहा—'यदि आप सब लोगों का यही अनुरोध है, तो मैं कथाओं का विशेष प्रेमी न रहने पर भी कथा आरम्भ किए देता हूँ।'

"गया में कुमार ने एक पहाड़ की बड़ी प्रशंसा सुनी। लोगों ने बतलाया कि वह सिद्धस्थान है। वहाँ तपस्वी मुनि भी रहते हैं। कुमार उत्कंठित होकर अपने चार-पांच इष्ट-मित्रों के साथ उस पहाड़ की ओर चले। सांझ होते-होते वे उस पहाड़ की जड़ में पहुँचे। उस समय एक तो सांझ होने के कारण अन्धकार होता ही जाता था, फिर उस पहाड़ के पेड़ों ने तो एकाएक नील

स्वरूप ही धारण कर लिया। वह आकाश चूमता हुआ पहाड़, वह श्याम पेड़ों की छटा, वह ठंढी हवा का सर्राटा, वह वनैले जन्तुओं का शब्द, वह बड़ी-बड़ी कन्दराओं का गूंजना और वह एक विलक्षण सन्नाटा—सभी कुछ अपूर्व था। ऊपर चढ़ जाने से उस अँधेरे में भी यह दीख पड़ने लगा कि यह पहाड़ कंकणाकार चारों ओर घूम गया है और बीच में इसने थोड़ा स्थान छोड़ दिया है। इसी पहाड़ी घेरे में पूर्व की ओर यह चढ़ाववाली भूमि थी। मानो घेरे में जाने का यह द्वार हो। फिर उतार की भूमि आई।

एक साथी ने कहा—'यहाँ भूत-पिशाच अधिक रहते हैं। कोई संग छोड़कर आगे-पीछे मत होना।'

इतने में रात हो गई, चन्द्रमा निकला, दूध की-सी वर्षा होने लगी, झरनों का जल चमाचम चमकने लगा। हवा से पेड़ काँपते दिखाई देने लगे और चारों ओर काले पत्थर भालुओं का भ्रम देने लगे। कुमार बहुत थक गया था, सो चुपचाप एक ऊँचे पत्थर पर बैठ गया। उसके साथियों में से यह बात किसी ने न जानी और उसने भी नहीं कहा; समझा कि झट साथ हो ही जाऊँगा। पर उस उमड़े हुए समुद्र ऐसे पहाड़ में उसकी आँख क्या लगी; देर तक वह उधर ही देखता रहा। फिर चित्त में कुछ भय हुआ। इधर तो यह डर का अंकुर जमा और उधर देखा कि कोई साथी नहीं। क्या जाने किधर चले गए। इतने ही में ऐसा जान पड़ा कि किसी ने उसके कन्धे पर धीरे से धक्का दिया। वह स्पर्श का अनुभव करते ही चिहुँक के साथ उछलकर एक ओर खड़ा हो गया और आश्चर्य तथा भयाकुल दृष्टि से फिर पीछे देखने लगा।'

यहीं उन्होंने कथा रोककर देवकीनन्दन खत्री की ओर इशारा कर कहा——'लीजिए, अब आप इसे और बढ़ाइए।'

तब खत्रीजी कहने लगे :—

"कुमार इन्द्रजीत को एक औरत दिखलाई पड़ी। उसने हाथ के इशारे से चुप रहने को कहा। उसने एक लिफाफा उनके हाथ में दिया। उन्होंने कुछ पूछना चाहा, मगर उसने यह कहकर कुमार का मुँह बन्द कर दिया कि 'बस, जो कुछ है, इस चिट्ठी से आपको मालूम हो जायगा। मैं जुबानी कुछ कहना नहीं चाहती और न यहाँ ठहरने का मौका है; क्योंकि अगर कोई देख लेगा, तो हम आप दोनों ऐसी आफत में फँस जायँगे कि छुटकारा पाना मुश्किल हो जायगा।' कुमार के जवाब का इन्तजार न करके वह औरत पहाड़ी पर चढ़ गई और चालीस-पचास हाथ जा, एक गढ़े में घुसकर न-मालूम कहाँ लोप हो गई। ताज्जुब में आकर कुमार आध घड़ी तक उस तरफ देखते रहे। मगर फिर

वह नजर न आई। लाचार हो उन्होंने कागज खोला और बड़े गौर से पढ़ने लगे। रात होने पर भी उन्होंने उसे साफ पढ़ लिया। उसमें साफ लिखा था :—

'हाय, मैंने अपने को आपके हाथ में सौंप दिया; लेकिन आपने मेरी कुछ भी खबर नहीं ली।'

इस चिट्ठी के पढ़ते ही कुमार के कलेजे में अजीब धड़कन पैदा हुई। वे चट्टान पर बैठ गए और कुछ देर तक सोचने लगे। फिर उठ, वे भी उस पहाड़ी पर वहाँ तक चढ़ गए, जहाँ वह औरत नजर पड़ी थी। ढूँढ़ने से एक सुरंग ऐसी नजर आई, जिसमें आदमी बखूबी घुस सकता था। कुमार को विश्वास हो गया कि इसी राह से वह औरत आई थी और वे भी इसी राह से उसके पास पहुँच जायेंगे। यही सोचकर ज्यों ही वे सुरंग के भीतर घुसे, त्यों ही एक खट आवाज हुई और उस सुरंग का मुँह बन्द हो गया।

चारों ओर अँधेरा हो गया। कुमार घबराकर खड़े हो गए। वे समझ नहीं सके कि क्या किया जाय। सहसा उन्हें एक रोशनी दिखाई पड़ी। ऐसा जान पड़ा कि कोई उनकी ओर आ रहा है। जब रोशनी पास आ गई, तब उन्होंने देखा कि वही स्त्री हाथ में मोमबत्ती लिए आ रही है। उसने उन्हें देखते ही कहा—'अच्छा, आप आखिर आ ही गए? अब मेरे पीछे-पीछे चले आइए।' कुमार उस औरत के पीछे-पीछे चलने लगे।

खोह की अवस्था देखने से जान पड़ता था कि वर्षों से उसकी जमीन ने किसी आदमी के पैर न चूमे होंगे। बल्कि यह कह सकते हैं कि शायद किसी जंगली जानवर ने भी उस खोह के अन्दर जाने का साहस न किया होगा। थोड़ी दूर पर खोह का अन्त हुआ। कुमार ने अपने सामने लोहे का एक बंद दरवाजा देखा। उस युवती ने एक भेदभरी निगाह उन पर डाली और कहा—'इस दरवाजे का हाल मेरे सिवाय और दूसरा नहीं जानता। आज आपको वह भेद मालूम हो जायगा। इसे खोलने की चाबी भी इसी जगह मौजूद है।' यह कहकर उसने खंजर के कब्जे से दरवाजे के दाहिनी तरफ बीचोंबीच की जमीन ठोंकी, जो वास्तव में किसी धातु की थी। मगर मुद्दत से काम में न आने के कारण उसका रंग पत्थर के रंग से मिल गया था। ठोकने के साथ ही तनिक-सा पल्ला अलग हो गया। उसके अन्दर हाथ डालकर पेंच घुमाया गया। इसके बाद वह कुमार को लिये हुए दरवाजे के अन्दर चली गई। दरवाजा खोलने के लिए जिस तरह की चाबी इस तरफ थी, उसी तरह की चाबी दरवाजे के दूसरे तरफ भी थी। उसे घुमाकर उस युवती ने दरवाजा बन्द किया। फिर आगे की तरफ बढ़ी। कुमार को घंटे भर तक उसके साथ बड़ी तेजी से चलना पड़ा। इसके

बाद वे लोग सुरंग के दूसरे मुहाने पर पहुँचे। इसका दरवाजा भी उसी ढंग से खुलता था। उस दरवाजे को खोलकर वह युवती कुमार को एक बड़े भारी कमरे में ले गई।"

यहीं उन्होंने अपनी कहानी रोककर कहा—'गोपालरामजी गहमरी, अब आप आगे का हाल बतलाइए।'

गहमरीजी ने कहना शुरू किया :—

"वह युवती कुमार को आसन पर बैठाकर, एक आलमारी से एक अँगूठी ले आई। फिर कुमार की ओर ताककर कहने लगी—'आपको मालूम नहीं है महाराज, मैं कितने दिनों से आपको जानती हूँ। मेरे मामा आपके ही घर में नौकर थे। आपके पिता नवागढ़ के राजा के साथ विलायत गए थे। वहाँ उन्होंने मेम से शादी की। उस मेम से, सुनती हूँ कि एक लड़की भी हुई। इसके बाद आपके पिता लौट आए। यहाँ आने पर उन्होंने फिर शादी की और बढ़िया सुन्दरी से शादी की। उस शादी की बात क्या कहूँ, बड़ी धूम-धाम से हुई थी। महीनों खुशी मनाई गई। नाच-रंग, तमाशा, रासलीला, नाटक, जादू के खेल, बड़े-बड़े साहब, साहूकार, सेठ, सरदार उस हजूम में आए। इसके बाद आपका जन्म हुआ और आपके जन्म के बाद नवागढ़ के राजा के लड़की हुई। लड़की को नवागढ़ के राजा साहब ने बड़े प्रेम से पाला। लड़की एक मेम से अँगरेजी पढ़ने लगी। दो आदमी गाना-बजाना सिखाने लगे।

'लड़की स्वर्ग की परी है। जैसा शरीर का सुनहला रंग, वैसा ही सुडौल मुख-मंडल, गठन वगैरह सब एक-से-एक बढ़कर। जैसा रूप है वैसा ही गुण। इतने धन-दौलत की मालकिन होने पर भी उसमें जरा भी घमंड नहीं। नवागढ़ के राजा ने और आपके पिता ने यह निश्चय किया कि उसी के साथ आपका विवाह होगा। देखिए, आपके हाथ में जो अँगूठी है, ठीक इसी तरह की यह अँगूठी है। यह अँगूठी बिलकुल उसी जैसी है। यह जो ऊपर आप ढकना-सा देख रहे हैं, वह स्प्रिंग के दबाने से ऊपर आता है। देखिए, मैं यह स्प्रिंग दबाती हूँ।'

उस युवती के स्प्रिंग दबाते ही ढक्कन खुल गया और उसमें एक छोटा फोटो दिखलाई देने लगा। वह फोटो किसी अपूर्व सुन्दरी का था। इसके बाद उस युवती ने कहा—'ठीक ऐसी ही अँगूठी उस लड़की के पास भी है। अन्तर इतना ही है कि इसमें जहाँ उसका फोटो है, उसमें उसी जगह आपका फोटो है। वह लड़की कलकत्ते से आ रही थी। उसके साथ उसको पढ़ानेवाली मेम थी। पर न-जाने रास्ते में क्या बात हुई कि वह लड़की बिलकुल गुम हो गई।

अभी तक उसका कोई पता नहीं लगा है। मेरा यह अनुमान है कि यह काम उसी मेम का है, जिसको आपके पिताजी ने विवाह कर विलायत में छोड़ दिया था। वह प्रतिहिंसा के भाव से आपके भी साथ कुछ अनिष्ट करना चाहती है। आपका जो मित्र राधाकान्त है, वह उस मेम की लड़की का प्रेमी है। वह आपको संकट में डालने के लिये यहाँ ले आया है। यह अँगूठी मैं आपको देती हूँ, अब आप जैसा ठीक समझिए कीजिए। मैं इस गुप्त घर से आपको बाहर निकाल देती हूँ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वह लड़की किसी गाँव में रहती है। आप उसे ढूँढ़ निकालिए। पर इसके साथ आपको एक काम और करना पड़ेगा। आपके पिताजी एक दस्तावेज देवदत्त के पास छोड़ गये हैं। आप पहले उनसे मिलकर दस्तावेज अपने कब्जे में कीजिये। यह कहकर उसने कुमार को एक गुप्त राह से बाहर निकाल दिया।

कुमार विस्मय, आतंक, आह्लाद और आशंका का भाव लेकर बाहर आए। फिर देवदत्त का पता लगाने में वे व्यस्त हुए।"

यहीं कथा समाप्त कर गहमरीजी ने अयोध्यासिंहजी उपाध्याय से कहा—'अब आप कहिए।'

तब उपाध्यायजी कहने लगे :—

"वैशाख का महीना था। दो घड़ी रात बीत गई थी। चमकीले तारे चारों ओर आकाश में फैले हुए थे। दूज का बाल-सा पतला चाँद पश्चिम की ओर डूब रहा था। अँधियारा बढ़ता जाता था। तारों की चमक बढ़ती जान पड़ती थी। उनमें ज्योति-सी फूट रही थी। वे कुछ हिलते भी थे। उनमें चुपचाप कोई-कोई कभी टूट पड़ते थे, जिससे सुनसान आकाश में रह-रहकर फुलझड़ी सी छूट जाती थी। रात का सन्नाटा बढ़ रहा था। बड़ी उमस थी। पवन डोलती तक नहीं थी, लोग घबरा रहे थे। कोई बाहर खेतों में घूमता था, कोई घर की खुली छतों पर ठण्ढा हो रहा था।

भीतों से घिरे हुए एक छोटे-से घर में एक छोटा-सा आँगन था। मिट्टी का एक छोटा-सा दीप जल रहा था। उसके धुँधले उजाले में देखने से जान पड़ता था कि इस आँगन में दो पलँग पड़े हुए हैं। एक पलँग पर चालीस-पैंतालीस वर्ष का एक व्यक्ति लेटा हुआ है। दूसरे पलँग पर पैंतीस-छत्तीस वर्ष की एक अधेड़ स्त्री लेटी पंखा झल रही है। इस स्त्री के पास चौदह वर्ष की एक लड़की भी बैठी है। वह एकटक आकाश की ओर देख रही है।"

यहाँ तक कहने के बाद उपाध्यायजी ने प्रेमचंदजी की ओर देखकर कहा—'अब आप कहिये।'

से आधी रात तक अन्तर्जगत् में डूबा हुआ, समस्त संसार से मुँह मोड़े, हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढ़ाता रहता है। भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी की अभक्ति है। आपके पास मन तो एक ही है, दोनों देवियों को आप एक साथ कैसे प्रसन्न कर सकते हैं; दोनों के वरदान के पात्र कैसे हो सकते हैं? यह भी समझ रखिए कि लक्ष्मी की यह अकृपा केवल धनाभाव के रूप में प्रकट नहीं होती, उसकी सबसे निर्दय क्रीड़ा यह है कि पत्रों के सम्पादक और पुस्तकों के प्रकाशक उसे उदारतापूर्वक, सहृदयता का दान भी नहीं देते।

यहीं रमेश की आँखें खुल गईं। उसने कहा—'इस स्वप्न ने सचमुच मेरी आँखें खोल दीं और उसने अब निश्चय कर लिया कि वह सब कुछ करेगा; किन्तु वह कहानी नहीं लिखेगा। पर इतने साहित्य महारथियों के सम्मिलित प्रयास से जो कहानी बनी है, उसे अधूरी तो नहीं छोड़ना चाहिए, यही सोचकर रमेश फिर लिखने लगा :—

"देवदत्तजी से दस्तावेज के रूप में कुमार को जो कागज मिला था, उसे खोलकर पढ़ते ही कुमार के आश्चर्य की सीमा न रही। उसमें राधाकान्तजी का एक पत्र था। उसमें लिखा था, आपको जीवन की यथार्थ रसानुभूति के लिए मैंने जो यह अभिनय कराया है, उसमें मेरे पाँच हजार रुपए खर्च हुए हैं। मुझे विश्वास है कि इतने दिनों तक आपने एक क्षण भी विरक्ति का अनुभव न किया होगा।"

पत्र पढ़कर कुमार ने एक दीर्घ निःश्वास लिया और कहा—"कुछ भी हो, पर उस युवती में सचमुच अपूर्व लावण्य है।"

●

प्रेमचंदजी कहने लगे :—

"जो व्यक्ति पलंग पर लेटा था, उसका नाम था देवदत्त। कभी पंडित देवदत्त के पूर्वजों का कारोबार बहुत विस्तृत था। वे लेन-देन किया करते थे। पर जब देवदत्त ने होश सँभाला, तब उसके पास खँडहर के अतिरिक्त कोई भी सम्पत्ति नहीं थी। अब निर्वाह के लिए कोई उपाय नहीं था। कृषि में परिश्रम और कष्ट था। वाणिज्य के लिए धन और बुद्धि की आवश्यकता थी। विद्या ऐसी नहीं थी कि कहीं नौकरी करते। पंडितजी उस समय निराशा के समुद्र में गोते खा रहे थे। रात्रि का अन्धकार बढ़ता जा रहा था। वृक्षों पर भी सन्नाटा छा गया था। इतने में घंटों के लगातार शब्द वायु और अन्धकार को चीरते हुए कान में आने लगे। उनकी सुहावनी ध्वनि इस निस्तब्धता में अत्यन्त भली प्रतीत होती थी। ये शब्द समीप होते गए और अन्त में पंडित देवदत्त के सामने आकर उस खँडहर में डूब गए।

इतने में किसी ने बाहर से पुकारा—'पंडितजी, पंडितजी !'

पंडितजी ने चौंककर सिर उठाया। अँधेरे में टटोलते हुए दरवाजे तक आए। देखा कि कई आदमी हाथ में मशाल लिये खड़े हैं और एक हाथी अपनी सूँड़ से अरण्य के वृक्षों को उखाड़ रहा है। हाथी पर एक सुन्दर युवक बैठा हुआ है, जिसके सिर पर केसरिया रंग की पाग है। उसका कलीदार अँगरखा और चूड़ीदार पैजामा, कमर में लटकती तलवार और गर्दन में सुनहले कंठे और जंजीर उसके सजीले शरीर पर अत्यन्त शोभा पा रहे थे। देखते ही उसने नीचे उतर कर पंडितजी की वंदना की। पंडितजी बोले—'आपका आगमन कहाँ से हुआ ?'

नवयुवक ने नम्र शब्दों में जवाब दिया—'मैं देवगढ़ का कुमार इन्द्रजीतसिंह हूँ........

प्रेमचन्दजी कुछ और कहना ही चाहते थे कि धर्मराज का एक दूत वहाँ पहुँच गया और उसने सभी उपस्थित साहित्य-सेवियों से नम्रतापूर्वक कहा कि 'अब आप लोग स्वर्गलोक में भू-लोक की कथा का निर्माण मत कीजिए। यदि आप लोगों की यही इच्छा है, तो स्वर्ग-सुख को छोड़कर आप आख्यायिका-लेखक के रूप में इसी लेखक के साथ फिर भू-लोक में अवतीर्ण हो जाइए।'

इस पर सभी लोग चुप हो गये। तब धर्मदूत ने रमेश को एक धक्का देकर कहा—'जाइए, अभी आप भू-लोक में और कुछ दिनों तक साहित्य-सेवा का आनन्द लूटिए। पर इन्हीं 'प्रेमचन्दजी ने साहित्य-सेवा के विषय में क्या लिखा है, उसे भी सुन लीजिए। इन्होंने खुद लिखा है कि साहित्य का उपासक सूर्योदय

से आधी रात तक अन्तर्जगत् में डूबा हुआ, समस्त संसार से मुँह मोड़े, हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढ़ाता रहता है। भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी की अभक्ति है। आपके पास मन तो एक ही है, दोनों देवियों को आप एक साथ कैसे प्रसन्न कर सकते हैं; दोनों के वरदान के पात्र कैसे हो सकते हैं? यह भी समझ रखिए कि लक्ष्मी की यह अकृपा केवल धनाभाव के रूप में प्रकट नहीं होती, उसकी सबसे निर्दय क्रीड़ा यह है कि पत्रों के सम्पादक और पुस्तकों के प्रकाशक उसे उदारतापूर्वक, सहृदयता का दान भी नहीं देते।

यहीं रमेश की आँखें खुल गईं। उसने कहा—'इस स्वप्न ने सचमुच मेरी आँखें खोल दीं और उसने अब निश्चय कर लिया कि वह सब कुछ करेगा; किन्तु वह कहानी नहीं लिखेगा। पर इतने साहित्य महारथियों के सम्मिलित प्रयास से जो कहानी बनी है, उसे अधूरी तो नहीं छोड़ना चाहिए, यही सोचकर रमेश फिर लिखने लगा :—

"देवदत्तजी से दस्तावेज के रूप में कुमार को जो कागज मिला था, उसे खोलकर पढ़ते ही कुमार के आश्चर्य की सीमा न रही। उसमें राधाकान्तजी का एक पत्र था। उसमें लिखा था, आपको जीवन की यथार्थ रसानुभूति के लिए मैंने जो यह अभिनय कराया है, उसमें मेरे पाँच हजार रुपए खर्च हुए हैं। मुझे विश्वास है कि इतने दिनों तक आपने एक क्षण भी विरक्ति का अनुभव न किया होगा।"

पत्र पढ़कर कुमार ने एक दीर्घ निःश्वास लिया और कहा—"कुछ भी हो, पर उस युवती में सचमुच अपूर्व लावण्य है।"

●

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
[सन् १८९६—१९६१]

हमारे साहित्य का ध्येय

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज में वह महत्व प्राप्त नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मण्डल में रहनेवालों में, जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसीलिए हमारे देश के अधिकांश प्रांतीय साहित्यिक राजनीति से प्रभावित हो रहे हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिए कार्यकरी सच्ची राष्ट्रनीति की अत्यंत आवश्यकता है, पर यह भी सच है कि देश में नवीन संस्कृति के लिए व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उसी हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीतिक कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देती है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एक देशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए, शरीर के तमाम अंगों की पुष्टि की तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति क्रम के जो विचार गणित के अनुसार प्रत्येक दशा की गणना कर संपत्तिवाद के कायदे से कल्पना द्वारा देश का परिष्कृत रूप सोचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बंध कर उनकी बहुमुखी उच्चाभिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या बाह्य स्वातंत्र्य सिद्ध करते हैं।

अधिकांश सम्मान्य नेताओं की उक्ति है, पहले राज्य, फिर सुधार, व्यवस्थाएँ, शिक्षा आदि। मनुष्य जब अपनी ही सत्ता पर जोर देकर संसार की बिगड़ी हुई दशा के सुधार के लिए कमर कस लेता है, तब वह प्रायः सोऽहम् बन जाता है, प्रकृति के विरोधी गुणों, दुनियाँ की अड़चनों तथा मनुष्यों की स्वभावप्रियता को एक ही छलाँग से पार कर जाता है। समष्टि के मन को यंत्र-तुल्य समझकर अपने इच्छानुसार उसका संचालन करता है। इसी जगह एक सच्चे नेता से एक सच्चे साहित्यिक का मतभेद है। साहित्यिक मनुष्य की प्रकृति

को ही श्रेय देता है। उसके विचार से हर मनुष्य जब अपने ही प्रिय मार्ग से चलकर अपनी स्वाभाविक वृत्ति को कला-शिक्षा के भीतर से अधिक मार्जित कर लेगा, और इस तरह देश में अधिकाधिक कृतिकार पैदा होंगे, तब सामूहिक उन्नति के साथ-ही-साथ काम्य स्वतंत्रता आप-ही-आप प्राप्त होगी, जैसे युवकों को प्रेम की भावना आप-ही-आप प्राप्त होती है, यौवन की एक परिणति की तरह।

संपत्ति-शास्त्र और गणित-शास्त्र कभी ईश्वर की परवा नहीं करते। उनके आधार पर चलनेवाले नेता भी अदेख शक्ति या अज्ञात रहस्यों पर विश्वास करना अपने को पंगु बनाना समझते हैं, और उनके लिए यह स्वाभाविक है भी, जब संपत्ति और गणित के साथ देश की मिट्टी में उन्हें जड़-ही-जड़ मिलता है, और उनकी स्वतंत्रता भी बहुत कुछ जड़ स्वतंत्रता है। साहित्यिक के प्रधान साधन हैं सत्, चित् और आनंद। उसका लक्ष्य है अस्ति, भाति और प्रिय। उसकी स्वतंत्रता इनकी स्फूर्ति से व्यक्ति के साथ समष्टि के भीतर से आप निकलती है।

साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नहीं चाहता, कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उसकी दृष्टि में 'पहले मुर्गी फिर अंडा या पहले अंडा तब मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्यमयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत् को अंतर्जगत् के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिए भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयंकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी ही है, गंदगी पर इत्र का छिड़काव। इस तरह विवाद-व्याध के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर हैं, जड़ प्राप्त द्वारा, रुपये-पैसे या जमीन से उसका निराकरण हो भी नहीं सकता। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यहीं सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का संबंध है। संस्कृत जीवन कुम्हार की बनाई मिट्टी है, जिससे इच्छानुसार हर तरह के उपयोगी बर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए हम प्रायः एक दूसरा रास्ता अख्तियार कर बैठते हैं, वह साहित्य के भीतर से अध्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिणति आप प्राप्त करेगा।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि-आदि की जातीय रेखाओं से चक्कर काटती हुई गंगासागर, मक्का और जरूसलेम की तरफ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है। उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है, और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिए नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भरनेवाला, नया जीवन फूंकनेवाला है। साहित्य में बहिर्जगत-संबंधी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए, जिसके प्रसार में केवल मक्का और जरूसलेम ही नहीं, किंतु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद गंगासागर तक रही, तो कुछ जनसमूह में मक्के का खिंचाव जरूर होगा, या बुद्धदेव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही गायब कर दिए जा सकें, तो तमाम दुनिया के तीर्थ होने में संदेह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओं, सब अंगों के लिए हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रंग यहीं का है। कालक्रम से अब हम लोग उस रंग से खींचे हुए चित्रों से इतने प्रभावित हैं कि उस रंग की याद ही नहीं, न उस रंग के चित्र से अलग होने की कल्पना कर सकते हैं, और इसीलिए पूर्ण मौलिक बन भी नहीं पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खींच सकते हैं, जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हों।

राजनीति में जाति-पाँति रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्त तमाम देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग सम स्वर से बोलने और एक राह से गुजरने लगते हैं। उनमें जितने अंशों में व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते हैं, उतने ही अंशों में वे एक-दूसरे से अलग हैं, इसलिए कमजोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है, जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो। जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा, तब विरोध में खंडक्रिया होगी ही नहीं। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना सहज है।

वियोगी हरि

[सन् १८९७—.......]

विश्व-मन्दिर

परमेश्वर का यह समस्त विश्व ही महामंदिर है। इतना सारा यह पसारा उसी घट-घटव्यापी प्रभु का घर है, उसी लामकां का मकान है। पहले उस मनमोहन को अपने अन्दर के मंदिर में दिल भर देख लो, फिर दुनिया के एक-एक ज़र्रे में उस प्यारे को खोजते चलो। सर्वत्र उसी प्रभु का सुन्दर मन्दिर मिलेगा, जहाँ-तहाँ उसीका सलोना घर दिखेगा। तव अविद्या की अँधेरी रात वीत गई होगी। प्रेम के आलोक में तब हर कहीं भगवान् के मंदिर ही मंदिर दिखाई देंगे। यह बहस ही न रहेगी कि उस राम का वास इस घर में है या उसमें। हमारी आँखों में लगन की सच्ची पीर होगी, तो उसका नूर हर सूरत में नजर आयेगा; कोने-कोने से सांवले गोपाल की मोहिनी बाँसुरी सुनाई देगी। हाँ, ऐसा ही होगा। बस, आँखों पर से मज़हबी तअस्सुब का चश्मा उतारने भर की देर है।

यों तो ऐसा सुन्दर मंदिर कोई भी भावुक भक्त एक आनंदमयी प्रेम-कल्पना के सहारे अपने हृदयस्थल पर खड़ा कर सकता है, या अपने प्रेमपूर्ण हृदय को ही विश्व-मंदिर का रूप दे सकता है। पर क्या अच्छा हो, यदि सर्वसाधारण के हितार्थ सचमुच ही एक ऐसा विशाल विश्व-मंदिर खड़ा किया जाए। क्यों न कुछ सनकी सत्यप्रेमी नौजवान इस निर्माण-कार्य में जुट जाएँ। इससे निस्सन्देह संशय, अविश्वास और अनीश्वरता का दूषित वायु-मण्डल हट जाएगा और सूखे दिलों से भी फिर एक वार प्रेम-रस का स्रोत फूट पड़ेगा।

वह विश्व-मंदिर होगा कैसा? एक अजीब-सा मकान होगा वह। देखते ही हर दर्शक की तबीयत हरी हो जाएगी। रुचि-वैचित्र्य का पूरा खयाल रखा जाएगा। भिन्नताओं में अभिन्नता दिखाने की चेष्टा की जाएगी। नक्शा कुछ ऐसा रहेगा, जो हर एक की आंख में बस जाए। किसी एक खास धर्म-सम्प्रदाय का न होकर वह मंदिर सर्व धर्म-संप्रदायों का 'समन्वय मन्दिर' होगा। वह

सबके लिए होगा, सबका होगा। वहां बैठकर सभी सबके मनोभावों की रक्षा कर सकेंगे; सभी सबको सत्य, प्रेम और करुणा का भाग दे सकेंगे।

चित्र उस मंदिर में ऐसे-ऐसे भावपूर्ण अंकित किए जाएंगे कि पाषाण-हृदय दर्शक को भी उनसे सत्य और प्रेम का कुछ-न-कुछ सन्देश मिला करेगा। किसी चित्र में राज-राजेश्वर राम ग़रीब गुह को गले लगाए हुए दिखाई देंगे, तो कहीं वे भीलनी के हाथ से उसके जूठे बेर चखते मिलेंगे। कहीं सत्यवीर हरिश्चन्द्र, रानी शैव्या से वत्स रोहिताश्व का आधा कफन दृढ़ता से मांगता होगा। कहीं त्रिलोकेश्वर कृष्ण एक दीन दरिद्र अतिथि के धूल भरे पैरों को अपने प्रेम-अश्रुओं से पखारते मिलेंगे और कहीं वही योगेश्वर वासुदेव घबराए हुए पार्थ को अनासक्ति योग का सन्देश दे रहे होंगे।

और भी वहां ऐसे ही अनेक चित्र देखने को मिलेंगे। भगवान् बुद्ध एक वेश्या के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर रहे होंगे। कहीं घिनौने कोढ़ियों के घाव धोते हुए दयालु ईसा का सुन्दर चित्र देखने को मिलेगा, और किसी चित्र में वही महात्मा संसार के पापों को अपने रक्त से धोने के लिए सूली पर चढ़ता हुआ दिखाई देगा। प्रियतमा सूली को चूमनेवाला मस्त मंसूर भी वहीं मुस्कराता हुआ नज़र आएगा। कहीं दर्द-दीवानी मीरा अपने प्यारे सजन का चरणोदक समझकर जहर का प्याला प्रेम से पी रही होगी, और किसी चित्र में निर्बल सूर की बांह झटककर वह नटखट-नन्दन वहीं कहीं लुका-छिपा खड़ा होगा।

एक और चित्र आप वहां देखेंगे। खादी की लँगोटी धारण कर गान्धी एक तरफ चर्खा चला रहा होगा। उसकी गोद में अछूतों के नंग-धड़ंग बच्चे खेलते होंगे, और वह अपने मोहन मंत्र से विपक्षियों के भी हृदय में प्रेम और सत्य को जाग्रत कर रहा होगा। और भी कितने ही सजीव चित्र उस मंदिर में खिंचे होंगे। हिमालय, गंगा और काशी-अयोध्या के दृश्य आप देखेंगे। वहीं बौद्धों के स्तूप और विहार भी दिखाई पड़ेंगे। काबे और जेरूसलेम के तीर्थ भी वहीं अंकित होंगे। बड़े-बड़े ऋषियों के, मस्त औलियों के और प्रेम-पीर का मर्म बतानेवाले सन्तों और सूफियों के आकर्षक चित्र देखकर आप आनन्द के आकाश में उड़ने लगेंगे।

वहां अनेक धर्मग्रन्थों के समन्वय-सूचक 'महावाक्य' भी दीवारों पर खुदे होंगे। वेद के मंत्र, कुरान की आयतें, अवस्ता की गाथाएँ, बौद्धों के सुत्त, इंजील के सरमन, कन्फ्यूसियस के सुवचन, कबीर के सबद और सूर के भजन आप उस मंदिर की पवित्र दीवारों पर पढ़ेंगे। किसी भी धर्मवाक्य में भेद न दिखाई देगा। सबका एक ही लक्ष्य, एक ही मतलब होगा। सब एक ही प्यारे प्रभु की तरफ इशारा कर रहे होंगे। उस विश्व-मंदिर की दीवारों पर खुदे हुए वे प्रेम-मंत्र

संशय और भ्रम का काला पर्दा उठा देंगे, अनेकता में एकता की झलक दिखा देंगे।

वहाँ की उपासना में पूर्व-पश्चिम का झगड़ा न रहेगा। सिरजनहार किस तरफ नहीं है? यह सारी दिशाएँ उसी की तो हैं। सारी भूमि गोपाल की ही तो है। वहाँ के एक-एक पत्थर में और एक-एक ईंट में प्यार ही प्यार भरा होगा। उन पत्थरों को चूमने में बेहद मजा आएगा, और उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने में भी अपार आनन्द मिलेगा। वहाँ एक साथ प्रेम का प्रसाद बाँटा जाएगा और वहीं खुद की कुर्बानी भी की जाएगी।

सभी बेरोक-टोक उस विश्व-मंदिर के अन्दर जा सकेंगे। वहाँ 'प्रवेश-निषेध' की तख्ती न होगी। विद्वान् भी वहाँ जाएँगे और मूर्ख भी जाएँगे, पुण्यात्मा जिस द्वार से जाएँगे, उसी द्वार से पापात्मा भी जाकर प्रार्थना में शामिल होंगे। पतित से भी पतित मानव को वहाँ प्यार की पाक जगह मिलेगी। दलित और दण्डित, दीन और दुखी, पतित और पापी सभी वहीं परमपिता का दर्शन ले सकेंगे, सभी गोविन्द का गुणगान कर सकेंगे। पश्चात्ताप के आँसुओं से सुबह-शाम मंदिर का आँगन पखारा जाएगा और प्रायश्चित्त की धूप से उसका कोना-कोना सुवासित किया जाएगा।

उस महान् समन्वय-मन्दिर में ही साधक जन लोकसेवा और विश्वप्रेम का आदेश प्राप्त कर सकेंगे। धार्मिक झगड़ों से ऊबे हुए और मजहबी खूंरेजी से घबराए हुए शान्तिप्रिय साधक वहाँ बैठकर दिव्य प्रेम की साधना किया करेंगे। अपनी-अपनी दिली राह से हर कोई वहाँ अपने राम को रिझाएगा। उस मंदिर में 'मैं-तू' न होगा, 'वही-वही' होगा।

क्या ऐसा सुन्दर विश्व-मंदिर किसी दिन खड़ा किया जा सकेगा? क्यों नहीं? पागल क्या नहीं कर सकते? उनके दिल में बात उतर भर जाए; फिर ऐसा कौन-सा काम है, जिसे वे पूरा कर न सकें? वह शुभ दिन जल्द आ जाए, जब इस कल्पना का विश्व-मंदिर हमारे वृद्ध भारत की तपोभूमि पर निर्मित हो जाए और उस पर किसी धर्म-मजहब का नहीं, बल्कि सत्य और ईमान का ऊँचा सफेद झण्डा फहरा उठे।

धीरेन्द्र वर्मा
[सन् १८९७ —.......]

मध्यदेश का सांस्कृतिक नवचेतना

उन्नीसवीं शताब्दी में देश में नवचेतना का आरंभ केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं हुआ, बल्कि वह संस्कृति के समस्त अंगों से संबंध रखता है।

पौराणिक सनातन धर्म का वर्तमान रूप पढ़े-लिखे भारतीय को संतोष देने में असमर्थ था, फलस्वरूप अनेक धार्मिक सुधार-आन्दोलन देश के शिक्षित वर्ग में प्रारंभ हुए, जैसे बंगाल में ब्रह्म-समाज, दक्षिण-भारत में थियासोफ़ी तथा महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज। इन सबकी प्रेरणा के मूल स्रोत वेदांत, उपनिषद्, गीता, अंग्रेजी शिक्षा तथा ईसाई धर्म के भ्रातृभाव के सिद्धान्त कहे जा सकते हैं। मध्यदेश पर विशेष प्रभाव डालनेवाले आंदोलनों में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज मुख्य था। स्वामी दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी पढ़े विद्वान् नहीं थे। वे संस्कृत के पंडित थे। उन्होंने मध्ययुगीन पौराणिक परम्पराओं को हटाकर प्राचीन मध्यदेश के वैदिक आर्य आदर्शों की ओर समाज को मोड़ना चाहा। फलस्वरूप इन आदर्शों की प्रचारक संस्था का नाम इन्होंने आर्यसमाज रक्खा। वैदिक भाषा और साहित्य के अध्ययन, गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली, कर्मप्रधान वर्णधर्म की व्यवस्था तथा आश्रम धर्म आदि का संदेश उन्होंने दिया। वे केवल प्रतिक्रियावादी नहीं थे, बल्कि स्वराज्य, स्वदेश तथा स्वभाषा आदि के महत्व पर भी बराबर बल देते थे। वे विदेशी शासन के ही विरोधी नहीं थे, बल्कि विदेशी धर्म, विदेशी भाषा और विदेशी संस्कृति का भी मूलोच्छेदन करना चाहते थे। किंतु साथ ही उन्होंने पौराणिक-कालीन धार्मिक भावनाओं, साहित्य तथा संस्कृति का भी विरोध किया है। स्वामीजी की सुधार-योजना केवल धर्म तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसके अंतर्गत समाज-सुधार, शिक्षा-सुधार तथा राजनीतिक-सुधार भी सम्मिलित था। आर्य-समाज का सीधा प्रभाव पंजाब तथा मध्यदेश की नागरिक जनता पर विशेष पड़ा, साथ ही उसने सर्वसाधारण के पौराणिक विचारों को भी परिवर्तित तथा प्रेरित

करने में सहायता पहुँचाई। विदेशी ईसाई और इस्लाम धर्मों के प्रचार को रोकने में भी आर्य-समाज का आंदोलन बहुत सहायक सिद्ध हुआ। भारत में विदेशी धर्मों की समस्या को आर्य-समाज शुद्धि के द्वारा स्थायी रूप में सुलझाने के पक्ष में रहा।

मध्यदेश से संबंध रखनेवाला दूसरा धार्मिक सुधार आंदोलन राधास्वामी संप्रदाय का कहा जा सकता है। इसकी विचाधारा का संबंध संत-परम्पराओं से है, जिनमें हमें साधना और भक्ति का मिश्रण मिलता है। राधास्वामी संप्रदाय ने नवीन औद्योगिक आवश्यकताओं पर भी बल दिया, जिसके फलस्वरूप आगरा के निकट इस संप्रदाय का प्रधान केंद्र दयालबाग में बना। राधास्वामी संप्रदाय का मध्य देश पर वैसा व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा है, जैसा आर्य-समाज पर पड़ा है।

जनसाधारण का धर्म अभी भी पौराणिक सनातन धर्म है, जिसके अंतर्गत अनेक वैष्णव, शैव, शाक्त संप्रदाय चल रहे हैं। गंगाजी का माहात्म्य, तीर्थ स्थानों का महत्व, गोरक्षा की भावना, श्राद्ध तथा धार्मिक व्रत-उत्सवों आदि का मानना इसके मुख्य बाहरी लक्षण हैं। आस्तिकता की भावना, पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास और जन्मगत बिरादरी-व्यवस्था इसके मौलिक सिद्धांत कहे जा सकते हैं। धर्मग्रन्थों के रूप में गीता, उपनिषद्, भागवत तथा तुलसीकृत रामायण का पाठ पढ़े-लिखे लोगों में होता है। वेदों में आस्था केवल मौखिक है। सर्वसाधारण में इन सबका स्थान सत्यनारायण की कथा और कीर्तन ने ले लिया है। सनातन धर्म को नवीन रूप देने और उसमें नवचेतना उपस्थित करने का प्रयास हो रहा है। अभी कोई ऐसा बड़ा व्यक्तित्व नहीं पैदा हुआ है, जो प्राचीन नींव पर जनता के धर्म के मंदिर का नवयुग के अनुरूप उचित निर्माण कर सके।

समाज के सीमित वर्गों में जैन धर्म चल रहा है। विदेशी धर्मों में इस्लाम तथा ईसाई धर्म मिलते हैं, किंतु विदेशी राज्यों की समाप्ति के बाद इनकी प्रेरणा शक्ति समाप्त हो गई है।

समाज सुधार की ओर भी सुधारकों का ध्यान गया। जहां तक सनातन-धर्मी तथा मुसलमान और ईसाई वर्गों के आपस के संबंध की समस्या का प्रश्न है, उसे अभी तक सुलझाया नहीं जा सका है। मुसलमान और ईसाई केवल धर्म नहीं हैं, बल्कि सर्वांगीण विदेशी संस्कृतियाँ हैं, अतः इनके साथ समझौता करने में स्वदेशी समाज असमर्थ है। आर्य-समाज की शुद्धि-योजना को राजनीतिक स्वतंत्रता आंदोलन के कारण स्थगित कर देना पड़ा था। हिंदू-मुस्लिम समस्या

को सुलझाने का महात्मा गांधी का हृदय-परिवर्तन सम्बन्धी उपचार सफल सिद्ध नहीं हुआ। पाकिस्तान बन जाने पर भी यह समस्या अभी भी क़ायम है। यदि विदेशी धर्मावलंबी संस्कृति के अन्य अंगों की दृष्टि से भारतीय बनाये जा सकें, तो यह समस्या बहुत कुछ सुलझ सकती है।

हिंदू समाज में अछूतों की समस्या पर स्वामी दयानंद सरस्वती तथा महात्मा गांधी दोनों ने अपने-अपने ढंग से बल दिया था और फलस्वरूप यह बहुत कुछ सुलझने के निकट दिखाई पड़ रही है। समाज में बिरादरी-व्यवस्था भोजन में तो अब उतने संकीर्ण रूप में नहीं दिखलाई पड़ती है, किन्तु विवाह संबंध के क्षेत्र में उसमें अभी भी विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आर्यसमाज का कर्मगत वर्णव्यवस्था का सिद्धांत व्यवहार में उसी प्रकार सफल नहीं हो सका, जिस प्रकार इस संबंध में बौद्ध और जैन सुधार तथा संत-संप्रदाय सफल नहीं हो सके थे। जिस ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर इस मौलिक समस्या को सुलझाने की आवश्यकता है, वैसा प्रयास इस संबंध में अभी तक नहीं हुआ है।

प्रथम विदेशी संघर्ष के फलस्वरूप स्त्रियों का स्थान समाज में अत्यंत निम्न हो गया था। योरोपीय सामाजिक आदर्शों तथा आर्यसमाज द्वारा प्रचारित वैदिक आदर्शों का प्रभाव स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर विशेष पड़ा। स्त्री-शिक्षा, पर्दे के रिवाज का उठ जाना, सामाजिक क्षेत्रों में स्त्रियों का सहयोग, बाल-विवाह का कम हो जाना आदि स्त्री-सुधार-आन्दोलन के स्पष्ट फल हैं। किन्तु भारतीय समाज में और परिवार में स्त्रियों का स्थान क्या हो तथा पति-पत्नी के संबंध का रूप क्या होना चाहिए, इस विषय में अभी भी विचारों में स्थिरता नहीं आ सकी है।

शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ी शासकों ने इस देश में अंग्रेजी-शिक्षा-प्रणाली प्रारंभ की और इसके फलस्वरूप यूरोपीय दृष्टिकोण से ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का प्रारंभ अंग्रेज़ी माध्यम के द्वारा हुआ। बहुत बड़ी संख्या में अंग्रेज़ी स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटियां स्थापित हुईं। यदि देश में अंग्रेज़ी-शासन नहीं भी होता तो भी उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव देश पर पड़ता, जैसे जापान, तुर्की, ईरान, चीन आदि अन्य स्वतंत्र देशों की शिक्षा-प्रणाली पर पड़ा। अंतर केवल इतना होता कि उस अवस्था में ज्ञान-विज्ञान की नींव भारतीय होती और शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ होतीं। फलस्वरूप गत सौ-सवा सौ वर्ष में प्रचुर उपयोगी साहित्य बन गया होता, शिक्षित वर्ग और जनसाधारण के बीच उतना भेद नहीं दिखलाई पड़ता, तथा शिक्षित जनता का प्रतिशत आज से बहुत अधिक होता।

शासन के संरक्षण के अभाव में आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुल तथा कांग्रेस-आंदोलन की प्रेरणा द्वारा स्थापित विद्यापीठ अधिक सफल नहीं हो सका। महामना मालवीयजी द्वारा स्थापित हिंदू विश्वविद्यालय भी एक ऐंग्लो-इंडियन संस्था ही बनकर रह गई। अलीगढ़ की मुस्लिम यूनिवर्सिटी ऐंग्लो शिक्षित वर्ग बनाने के लिए अंग्रेजी शासकों ने स्थापित की थी। इसमें वे सफल हुए। महात्मा गांधी की प्रेरणा से बेसिक शिक्षा संबंधी प्रयोग हुए। जो हो, आधुनिक-शिक्षा-प्रणाली तथा ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी मध्यदेश के इतिहास में असाधारण महत्व रखती है। यदि गत डेढ़-सौ वर्ष में विदेशी शासन न होता, तो देश ने इस क्षेत्र में इतनी उन्नति कर ली होती, जितनी यूरोप के स्वतंत्र देश गत ३००-४०० वर्षों में कर सके। स्वदेशी-शिक्षा-प्रणाली की भावी रूपरेखा स्थायी रूप से स्थिर करने के प्रयास प्रारंभ हो गए हैं, जिनमें निकट भविष्य में सफलता की संभावना है। इस संबंध में एक मौलिक सिद्धांत यह होना चाहिए कि शिक्षा का संचालन शिक्षाविज्ञों के हाथ में पूर्णतया दे दिया जावे, शासन को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। न्याय तथा उच्च शिक्षा को शासन के नियंत्रण से मुक्त रखना देश के लिए नितांत आवश्यक है।

कलाओं, जैसे संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, शिल्पकला आदि के क्षेत्रों में नव-चेतना का आरंभ बंगाल तथा महाराष्ट्र के केंद्रों से प्रारंभ हुआ था और अब धीरे-धीरे यह मध्यदेश में फैल रही है। प्रथम विदेशी संघर्ष के काल में यहाँ की कला की परंपराएँ, बहुत कुछ नष्ट तथा विकृत हो गई थीं, किन्तु इनका जीर्णोद्धार असंभव नहीं है। कत्थक नृत्य शैली, हिंदुस्तानी संगीत, राजपूत तथा पहाड़ी चित्रकला आदि के रूप में अभी भी मध्यदेशीय परंपराएँ सुरक्षित हैं, जिन्हें परिष्कृत करके आसानी से विकसित किया जा सकता है। इसी प्रकार गृहनिर्माण, पहिनावे, भोजन आदि में भी प्राचीन परंपराओं के आधार पर सुधार संभव है।

आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी शासनकाल भारत तथा मध्यदेश के इतिहास में अत्यन्त दुरवस्था का काल कहा जा सकता है। कृषि के क्षेत्र में नवीन उन्नत उपायों का उपयोग न करने, प्राचीन उद्योग-धंधों के नष्ट कर देने, नवीन उद्योग-धंधों को आरंभ न करने तथा विदेशी, विशेषतया अंग्रेजी माल की खपत के कारण देश जितना इस काल में निर्धन हुआ, वैसा कभी नहीं हुआ था। मुस्लिम विदेशी शासकों ने मध्यदेश में अपना घर बना लिया था, अतः देश का अधिकांश धन यहाँ ही व्यय होता था। अंग्रेजी शासक इंगलैंड में ही शासन करते थे, अतः देश की संपत्ति निरंतर बाहर खिचती रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद

अपना शासन आर्थिक सुधार के संबंध में विशेष जागरूक है। देश की अधिकांश योजनाओं का उद्देश्य आर्थिक स्थिति में सुधार करना है।

दीर्घकालीन विदेशी शासन के कारण देश को जो सबसे अधिक क्षति पहुँची, वह जनता के नैतिक स्तर से संबंध रखती है। स्वतंत्र देशों की तुलना में देशवासियों का नैतिक स्तर साधारणतया चरम पतन को पहुँच गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक सुधार आंदोलनों तथा महात्मा गांधी के राजनीतिक आंदोलनों ने नैतिक स्तर को ठीक करने की ओर बराबर ध्यान दिया, किंतु इसमें अभी भी पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। नैतिक स्तर को ठीक करने में धार्मिक शिक्षा एक बहुत बड़ा साधन है, जिसका अभी उचित प्रयोग नहीं हो सका है।

संक्षेप में मध्यदेशीय जीवन के प्रत्येक अंग में नवचेतना और पुनरुत्थान के लक्षण उन्नीसवीं शताब्दी में ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे थे। बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ये अधिक अग्रसर हुए। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इनके पूर्ण विकास में अब कोई बाधा ही नहीं रह गई है, बल्कि देश की संपूर्ण शक्ति इसमें सहायक हो सकेगी। अतः यह निश्चय है कि देश के दीर्घकालीन इतिहास में एक नवीन युग—नवचेतना और पुनरुत्थान का युग—प्रारंभ हो चुका है। यह युग मध्यदेश के प्राचीन जनपद-युग का आधुनिक रूप होगा, ऐसी संभावना दिखलाई पड़ती है।

●

पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र'
[सन् १९०१—६७]

बुढ़ापा

१

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूलकर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूटकर रो रही है। उस "खोने" में दु:ख नहीं, सुख था, सुख ही नहीं, स्वर्ग भी था। इस "पाने" में सुख नहीं, दु:ख है; दु:ख ही नहीं, नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!

लड़कपन स्वर्गदुर्लभ सरलता से कहता था—"मैया, मैं तो चन्द्र खिलौना लैहों।" जवानी देवदुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—"दौर में साग़िर रहे गर्दिश में पैमाना रहे।" और, "अंगं गलितं पलितं मुण्डम्" वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्यग्र होकर कहता है—"अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल!"

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, हा हा हा हा! है? यह सब सुफ़ैद झूठ है, कोरी कल्पना है, प्रवंचना है। मुझसे पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातोंवाले एक, दो, दस, बीस नहीं—साठ वर्षों से पूछो। मेरे कटु अनुभव से पूछो। मेरी लाग़री से पूछो, दुर्बलता से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों और जवानों को बतलाएँगे कि जीवन का अर्थ "वाह" नहीं, "आह" है; हँसी नहीं, रोदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है!

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर क्या पाया?—जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन। जवानी ने बीस वर्षों तक; कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे, और कभी मान के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया?—वार्धक्य के लिफ़ाफ़े में सर्वनाश, पतन! और—और अब यह बुढ़ापा घंटों नाक दबाकर ईश्वर-भजन कर, सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त होकर खननन का खज़ाना इकट्ठा कर, बेटों की "बटालियन" और बेटियों की "बेटरी" तैयार कर कौन-सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा?—

वही सर्वनाश, वही पतन ! मुझसे पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोककर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है, "प....त....न !'

रोज़ की वात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूं, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिन-मणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी-उषा से होली खेल-खेलकर गंगा की वेला को, तरंगों को, मन्द मलयानिल को, नीलाम्बर को, दशों दिशाओं को और भगवती प्राची के अंचल को उन्माद से, प्रेम से और गुलावी रंग से भर देता है। अपने आगे दुनिया का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रंग में रंगकर वही नाच नाचने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर....मगर....?

रोज की वात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूं, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूच्छित दिन-मणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलावी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ—कम्पित करोंवाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है? सर्वनाश, पतन ! उस पार—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य को रक्त चिता जलती है। माथे पर सायंकाल-रूपी काला चांडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी वहन पश्चिमा "आग" देती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आंसू वहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओतप्रोत रहता है।

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञात होता है कि जीवन का असली अर्थ, और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

२

कोरी वातों में दार्शनिक विचार रखनेवालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की। वातों के दायरे से आगे वढ़नेवालों की।

जीवन का अर्थ पतन या सर्वनाश है, यह कह देना सहज है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी वात की पुष्टि कर देना भी कोई वड़ी वात नहीं। पर, पतन और सर्वनाश को आंखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना केवल दुरूह ही नहीं, असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नजर मुझ पर पड़ी। उनमें से एक ने कहा—"हट जाओ, हट जाओ ! हनुमानगढ़ी से भागकर

३

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनिया मेरी हालत पर हँसे या जो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो तो सामने आये। मैं खेलूंगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सुफेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, कांपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हज़ार-हज़ार रुपये, लाख-लाख गिन्नियां और गड्डियां नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पांसे फेंकने को तैयार हूं। सब कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूं। कोई हकीम हो तो सामने आये, उसे निहाल कर दूंगा, मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूं—जवानी की दवा चाहता हूं। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुंहमांगा दूंगा। कह चुका हूं, निहाल कर दूंगा; मालामाल कर दूंगा।

हर साल बसन्त आता है। बूढ़े-से-बूढ़ा रसाल माथे पर मौर धारणकर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्द-गति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर "कुहू-कुहू" करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब—नवयुवक—उन्माद की सरिता में, सब कुछ भूलकर विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं; सिपटते हैं, लिपटते हैं—दुनिया के पतन को, उत्थान को और सर्वनाश को मङ्गल का जामा पहनाते हैं। और मैं—टका सा मुंह लिये, कोरी आंखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकर-टुकर देखा करता हूं।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है ?

हर साल मतवाली वर्षा ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोटपोट हो जाता है—"काले मेघा पानी दे !" जवानी पगली होकर गाने लगती है—"आई कारी बदरिया ना।" और मेरा बुढ़ापा ? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख-भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर खांसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता है। सामने की परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते। तड़फ-तड़फकर रह जाते हैं; उफ़ !

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है !

इस नरक से कोई मुझे बाहर कर दे, युवक बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूं। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हां-हां, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझसे पूछो, मैं जानता हूं, मैं भुक्तभोगी हूं, मुझ पर बीत रही है।

कोई यदु हो तो इस बूढ़े ययाति की सहायता करे, मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आंखों को चाहता हूं, जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, चार होने और फंसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है, एक बार किसी के प्रेम में फंसकर गाऊँ—

ठाढ़े रहे घनश्याम उतै, इत
    मैं पुनि आनि अटा चढ़ि झांकी
जानति हो तुम हू ब्रजरीति
    न प्रीति रहै कबहूं पल ढांकी
"ठाकुर" कैसेहू भूतल नाहि नै
    ऐसी अरी वा विलोकनि बाँकी
भावत ना छिन भौनको बैठिबो,
    घूंघट कौन को? लाज कहां की?

इच्छा है, एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर, बैठे बिठाए, दुनिया की दृष्टि में व्यर्थ, परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ाकर प्रार्थना करूं—

रोज न आइये जो मनमोहन,
    तो यह नेक मतो सुन लीजिये
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन
    तुम्हें बिन देखे सु कैसे कै जीजिये
"ठाकुर" लालन प्यारे सुनो
    विनती इतनी पै अहो चित दीजिये
दूसरे, तीसरे, पांचवें, सातवें,
    आठवें तो भला आइबो कीजिये

४

मगर वार्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके। यह मर्ज ही ला-इलाज है। यह दर्द-सर ऐसा है कि सर जाए तो जाए, पर दर्द न जाए।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध-भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूं।

भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या, ईश्वर भी छुटकारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है, जिसका उत्थान केवल एक बार होता है—और वह होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है, तो एक 'जाह्नवीतोयं'—यदि वैद्य है तो एक—'नारायणो हरिः।'

फिर अब देर काहे की, प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भवसागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूँ। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है, गुणरहित है, प्रकाशहीन है। इसका शीघ्र नाश करो। पंचतत्व में लय करो।

फिर से, नए सिरे से निर्माण हो; फिर से, नए सिरे से सृष्टि हो; फिर से, नए सिरे से जन्म हो; फिर से, नए सिरे से शैशव हो; फिर से, नए सिरे से यौवन हो; फिर से भोग हो; विलास हो; पागलपन हो; मान में अपमान और अपमान में मान हो। फिर से, नए सिरे से यौवन की मतवाली अंगूरी-सुरा ऐसी छने—ऐसी छने कि लोक भूल जाए, परलोक भूल जाए, भय भूल जाए, शोक भूल जाए, वह भूल जाए, हम भूल जाएँ, और तुम ईश्वर भूल जाओ। तब जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर अब देर काहे की प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो।

सुमित्रानंदन पंत
[सन् १९००—.......]

आज की कविता और मैं

आज की कविता में अनेक स्तर और अनेक छायाएँ हैं। वह एक देशीय भी है, विश्वजनीन भी : वैयक्तिक भी है, सामाजिक भी : और इन सबके परे वह एक नवीन सत्य, नवीन प्रकाश एवं नवीन मनुष्यत्व की संदेशवाहक भी है, एक ऐसा मनुष्यत्व, जिसमें आज के देश और विश्व, व्यक्ति और समाज के बाहरी भीतरी विरोध, नवीन सामंजस्य ग्रहण कर रहे हैं।

जब मैं विश्व साहित्य एवं काव्य पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे लगता है कि उसमें मनुष्य जाति के जीवन का संघर्ष, उसके मन का चिन्तन तथा हृदय का मन्थन, ज्ञात और अज्ञात रूप से सदैव प्रतिफलित होता रहा है। प्रत्येक युग का साहित्यिक अथवा कवि अपने युग की समस्याओं को महत्त्व देता रहा है और उनसे किसी न किसी रूप में प्रभावित होता रहा है। आज का युग भी इसका अपवाद नहीं है। आज का युग अनेक दृष्टियों से कई युगों का युग है। आज मनुष्य जीवन में बहिरंतर क्रान्ति के चिह्न प्रकट हो रहे हैं। आज वह अपने पिछले संचय को नवीन रूप से सँजोने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर वह समाज के जीर्ण-शीर्ण ढांचे को बदल रहा है और दूसरी ओर जीवन की नवीन मान्यताओं को जन्म दे रहा है। आज उसे भीतर ही भीतर अनुभव हो रहा है कि वह सभ्यता के विकास की एक नवीन भूमिका पर पदार्पण करने जा रहा है। ऐसे संक्रांति के युग में ध्वंस और निर्माण साथ-साथ चलते हैं। शिव और ब्रह्मा, विष्णु के नवीन रूप को प्रकट करने में सहायक होते हैं। पौराणिक शब्दों में आज का युग कलियुग और सतयुग का संधिस्थल है। ऐसे युग में साहित्यिक या कवि का उत्तरदायित्व कितना अधिक बढ़ जाता है, और कौन साहित्यिक उसे निभाने में कहाँ तक सफल हो पाता है, इस पर निर्णय केवल इतिहास का आनेवाला चरण ही दे सकता है, जब कि वर्तमान की समस्याएँ अपना समाधान प्राप्त कर नवीन व्यक्तित्व धारण कर चुकेंगी। अतएव प्रस्तुत

वार्ता में आज की कविताओं के संबंध में ही अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करूँगा और अपने संबंध में निर्णय देने का अधिकार आनेवाले आलोचकों पर छोड़कर संतोष करूँगा।

सन् १६०० में मेरे जन्म के साथ ही 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का भी जन्म हुआ, जो हिन्दी अथवा खड़ी बोली की पहिली प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका थी। देश के उदयाचल पर जागरण के चिह्न प्रकट हो चुके थे और खड़ी बोली उसी जागरण की सशक्त वाणी बनने का प्रयत्न कर रही थी। मेरे काव्य जीवन के प्रारंभ होने से २-३ वर्ष पहिले ही श्री गुप्तजी की 'भारत भारती' प्रकाशित हो चुकी थी। यद्यपि उसमें स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा अनुभूत तथा स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रचारित सर्वधर्म समन्वय की भावना तथा अध्यात्म का व्यापक प्रकाश नहीं था, जिसने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के काव्य को प्रेरणा दी, किन्तु उसमें उस समय के लोकचिन्तन के स्वर स्पष्ट रूप से गूंज रहे थे, जो इस प्रकार थे :

'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।'

साथ ही उसके भविष्यत् खंड में हमारी कुंभकर्णी नींद में सोई हुई भूमि के लिए उद्बोधन और जागरण की आशा भी थी....

'हतभाग्य हिन्दू जाति तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ?
वर शील, शुद्धाचार, वैभव, देख, अब क्या है यहाँ॥
अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के।
सब जग जगाता है तुझे जगकर स्वयं जय बोल के॥'

किन्तु द्विवेदी युग के कवियों के काव्य सौष्ठव से हमारे युग को, जिसका श्रीगणेश प्रसादजी से होता है, न काव्य के रूप निर्माण के सम्बन्ध में विशेष प्रेरणा मिली, न भावना और दर्शन के सम्बन्ध में। छायावादी कवियों का लक्ष्य हिन्दू जाति के जागरण तक सीमित नहीं रहा, उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण पौराणिक आचार विचारों को अतिक्रम कर नए प्रकाश की खोज करने लगा। उनके रूप विन्यास में कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अँगरेजी के कवियों का प्रभाव पड़ा, भावना में युग संघर्ष की आशा निराशा का, तथा विचार दर्शन में विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर भूवाद, नव मानववाद तथा जनवाद में परिणत हो गए। द्विवेदी युग के कवियों में आगे चलकर श्री गुप्तजी ने छायावाद की चेतना को पौराणिक परिपाटी के भीतर से अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया।

विश्ववाद, सर्वात्मवाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियों ने अधिकतर कवीन्द्र रवीन्द्र से और अंशतः शैली आदि अंगरेजी कवियों से ग्रहण किया। कवीन्द्र रवीन्द्र का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद का युग था। कवीन्द्र विश्व भावना तथा लोकमंगल भावना को अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने काव्य में दे सके। जन सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार सरणि का अंग नहीं बन सकी थी। यंत्र युग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका साहित्य ओतप्रोत है, किन्तु यंत्रयुग की जनवादी सौन्दर्य भावना का उदय तब नहीं हो सका था, न पूंजीवाद ही उनके आत्म निर्माण-काल में ऐसा वीभत्स रूप धारण कर चुका था। जनवादी भावना के विपरीत उनके साहित्य में यंत्रों के प्रति विरोध की भावना मिलती है, जो मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया मात्र है। श्रीकृष्ण-चैतन्य अथवा वैश्ववाद उनकी रचनाओं में आधुनिक रूप धारणकर सर्वात्मवाद बनकर निखरा है। सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय नृतत्त्व शास्त्र की दिशा में किया है।

इन्हीं आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य सम्बन्धी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गई, उनके काव्य का पदार्थ भी उसी अनुपात में बदलता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, रूप से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से मानववाद, भूवाद, जनवाद की ओर बढ़ते गये। सत्य के खोज की उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युगपरिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।

प्रसादजी की 'कामायनी' छायावाद के प्रथम चरण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है। उनका 'आँसू' छायावादी युग की एक निर्बल सृष्टि। कामायनी में पूर्वी पश्चिमी विचार दर्शन का उनके युग का समन्वय है। उसमें इड़ा (तर्कबुद्धि) पश्चिम के रीजन या रैशनलिज्म की प्रतीक है। श्रद्धा भारतीय अभीप्साजनित भावना की। मनु मानव मन का प्रतीक है। चिन्ता, आशा, काम निर्वेद आदि प्रवृत्तियों का विकास जैवी विकासवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक विकासवाद के काव्यात्मक प्रयोग का निदर्शन है। इड़ा श्रद्धा का संघर्ष : श्रद्धा की विजय : भक्ति कर्म ज्ञान का समन्वय : अन्त में समरस आनन्द की व्यापक स्थिति, सब अत्यन्त सत्य, सफल और सुन्दर है। प्राचीन पौराणिक कथानक में विकासवाद की सक्रिय चेतना तथा शैवदर्शन की आत्मा प्रतिष्ठित कर उन्होंने युग के अनुरूप

अद्भुत काव्य सृष्टि की है। अतर्चेतना की सूक्ष्म देवशक्तियों का प्रवृत्तियों के रूप में मानसीकरण कर उन्हें भेद बुद्धि द्वारा स्थूल जीवन संघर्ष में डालकर, श्रद्धा की सहायता से पुनः निखारकर तथा उसी के द्वारा कर्म भक्ति ज्ञान के रूप में जीवन, भावना तथा बुद्धि में सामंजस्य स्थापित कर अभेद आनन्दमय सत्य की अवतारणा की है।

'नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व ही की प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन'

की भूमिका पर उठाकर प्रसादजी ने 'कामायनी' के श्रद्धा प्रसाद को

'समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था'

की आत्मानुभूति के स्वर्ग में प्रतिष्ठित कर दिया। व्यक्ति का जीवन 'कामायनी' के दर्शन के बिना असफल है। 'कामायनी' के काव्य पदार्थ में प्राचीन ऋषियों का हृदय स्पंदन तथा उनके विचार दर्शन की प्रतिध्वनियाँ मिलती हैं। और अंतिम सर्गों में विचार दर्शन से ऊपर आध्यात्मिकता का भी समरस प्रकाश मिलता है। प्राचीन तत्त्वद्रष्टाओं की तरह प्रसादजी ने भी व्यक्ति चेतना अथवा वैयक्तिक संचरण को प्राधान्य देकर सामूहिक एवं लोक कल्याण की समस्या का निदान किया है। किन्तु समूह एवं सामाजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार उन्मुक्त तथा प्रशस्त किया जाय, यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सन्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमें अनगढ़, विद्रोह भरे प्रगतिवाद के कवियों में मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन दर्शन भावप्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर धीरे-धीरे वस्तुप्रधान तथा सामाजिक हो गया। किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिवर्तन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास की भावना को ठीक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना ग़लत होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूँजीवादी तथा मध्यवर्गीय सौन्दर्य भावना की प्रतिक्रिया से पीड़ित रहा, उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन सौन्दर्य को वाणी देने के बदले धनपतियों तथा मध्य वृत्तिवालों के प्रति विद्वेष तथा विक्षोभ प्रकट करता रहा। नवीन लोकमानवता की गंभीर सशक्त चेतना के जागरण गान के स्थान पर उसमें नंगे-

भूखे श्रमिक कृषकों के अस्थिपंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुंठित बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार भरा क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा। विचार दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण केवल कुछ तत्कालीन परिस्थितियों के कोरे राजनीतिक नारों को बार-बार दुहराकर उनका पिष्टपेषण करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से, अधिकांश प्रगतिवाद आलोचक साहित्य चेतना के सरोवर तट पर राजनीतिक प्रचार का झंडा गाड़े, ऊपर ही ऊपर हाथ-पाँव मारकर झागों में तैरने का सुख लूटते रहे हैं और छिछले स्थलों से कीचड़ उछालते हुए काव्य की आत्मा को तोड़-मरोड़कर नव दीक्षितों को दिग्भ्रान्त करते रहे हैं।

छायावाद का प्रारंभिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद में अस्पष्ट भौतिकवाद अथवा वस्तुवाद बनने की हठ करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों में भागवत् या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जनजीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथ निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् भावना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट अथवा लक्ष्य की रूपरेखा या धारणा निश्चित नहीं बन पाई। एक भीतरी कुहासे में लिपटे रहे, दूसरे बाहरी कोहरे से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों को रेशमी रंगीनी का एवं उपमाओं की अभिनव सुन्दरता का सजीव का प्रयोग कर सके। छंदों की दृष्टि से संभवतः उन्होंने अपनी अंतर्लय हीन भावनाओं तथा उच्छृङ्खल उद्गारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छंद के रूप में पंक्तिबद्ध गद्य को अपनाया, जिसका प्रवाह उनके बहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असंबद्ध, छितरा-बिखरा तथा ऊबड़-खाबड़ रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि संस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया। छायावादी भावना की अति उदारता उतनी ही अधिक सिमटकर अत्यन्त संकीर्ण अंधानुयायिता में बदल गई। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार अपने गिरते पड़ते पैर मिट्टी के गर्द-गुबार से भरी एक व्यापक वास्तविकता की ओर उठाए। जागरणवादी कुछेक कवियों ने छायावादी चेतना ही को मिट्टी की ओर ले जाकर उसे हुंकार के साथ अभिव्यक्ति दी, जिनमें दिनकर प्रमुख हैं।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य भावना ने एक ओर आत्माभिव्यक्ति की पगडंडी पकड़ी, जो हमारी सड़कों के नए नामों की तरह पीछे

स्वतंत्र रूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलाई। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तर्क-वितर्कों में फँसकर एक क्रियाकार कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वर संगतिहीन भावनाओं की लहरियों में गुंजरित उपचेतन अवचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई तथा दमित कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोकचेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गई, छायावादी शब्दों का वैचित्र्य उक्ति का वैचित्र्य और उसके शाश्वत का स्थायित्व इसमें क्षणभंगुर रंग-रलियों का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा संदेहवादिता के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य भावना केंचुओं, घोंघों, मेंढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगी।

छायावादी छंदों में आत्मान्वेषण की शान्त स्निग्ध अतः स्वर संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में कोरा प्रेरणाशून्य कोमल लालित्य बनकर रह जाती है। प्रयोगवादी छंदों में सामूहिक आन्दोलन का कोलाहल तथा स्पंदन कंपन है, जो अधिकतर तोतली हुंकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छंदों में एक करुणा मिश्रित नींद भरी स्वप्न मर्मर है, जो प्रायः आत्मदया में द्रवित होकर प्रणय के आँसुओं तथा उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रीति काव्य सौन्दर्य भावना प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय गीत राग और वासनामूलक।

अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहंता को। काव्य की ये तीनों धाराएँ आज की युगचेतना के ऊर्ध्व, व्यापक तथा गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं। और तीनों ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से संपृक्त हैं।

इन तीन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त आज की कविता में राष्ट्र भावना से भरी देश प्रेम की झंकारें भी मिलती हैं, जो मुख्यतः गांधीवाद से अनुप्राणित एवं प्रभावित हैं। राष्ट्रवादी कवियों में मुख्यतः सियारामशरणजी, माखनलालजी तथा सोहनलाल द्विवेदीजी हैं। प्रथम दो के स्वरों में तप और संयम है; संस्कृत रुचि, उद्बोधन तथा आह्वान है। इनकी राजनीतिक भावना में सांस्कृतिक

चेतना की उपेक्षा नहीं है। इनमें अतीत की स्वस्थ परम्पराओं के जागरण के साथ आधुनिक विश्व बंधुत्व तथा नवीन मानवता की भावना का भी समावेश है। साध्य साधन का सामंजस्य, हृदय परिवर्तन का आग्रह, लोकहित तथा अहिंसात्मक क्रान्ति का निर्देश है; साथ ही आज की समतल विचारधारा की अराजकता में ऊर्ध्व उदात्त संतुलन स्थापित करने की चेष्टा भी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद साहित्यिकों को विशेष सृजन प्रेरणा न मिल सकने के कारण इस प्रकार की कविता में आज एक प्रकार का गतिरोध सा दृष्टिगोचर होता है।

देश प्रेम के अतिरिक्त इस युग में मानवीय प्रेम की भावनाओं पर आश्रित स्त्री पुरुष संबंधी रागात्मक कविताएँ भी लिखी गई हैं, जिसके प्रतिनिधि बच्चन हैं। बच्चन ने अपने हालावाद में, प्रेम के प्रतीक को, सूफियों की तरह, यौवन के भावोन्माद के लिबास में लपेटकर प्रस्तुत किया है। उसकी यौवन की प्रेम भावना निशा निमंत्रण, आकुल अंतर तथा एकान्त संगीत में प्रच्छन्न विरह के रूप में उमड़ी है, सतरंगिणी तथा मिलन यामिनी में उन्मुक्त मिलन उल्लास के रूप में। छायावादी अशरीरी प्रेम भावना बच्चन में मानवीय वास्तविकता ग्रहण कर सकी है, पर उसमें युगीन परिष्कार का अभाव है, उसके भीतर परम्परागत मध्यवर्गीय प्रेम के हृदय का उच्छ्वसित स्पंदन है, किसी प्रकार का नवीन सौन्दर्य भावना से मंडित, संस्कृत, मानवीय निखार नहीं। उसमें नवीन सामाजिकता के भीतर स्त्री पुरुष की रागात्मक वृत्ति का नवीन सौन्दर्य में मूर्त, सुघर संतुलित रागोच्छ्वास देखने को नहीं मिलता। बच्चन का प्रणय निवेदन 'वह पगध्वनि मेरी पहचानी' से लेकर 'इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो' तक रीतिकालीन प्रणय काव्य से पृथक् होने पर भी उर्दू प्रेम काव्य की परम्परा से अनुरंजित एवं प्रभावित है। वह हृदय को स्पर्श न कर इंद्रिय संवेदनों को उकसाता है तथा बहिर्मुखी तृषा पिपासा को तृप्त करता है। स्त्री-पुरुष की संज्ञा चेतना को शुभ्र ऊँचाइयों में उठाने अथवा गहन अंतर्लीन करने में सहायक नहीं होता। बच्चन की कविता की भाषा हिन्दी काव्य भाषा की परम्परा से छन कर आई है, वह छायावादी सौन्दर्योन्मेष और कल्पना पंखों की स्वर्णिम उड़ान लेकर नहीं आई। उसमें सूक्ष्म विश्लेषण संश्लेषण की रंगच्छायाएँ नहीं मिलतीं, वह अपने उच्चस्तर पर मुहावरों में बँधी और उक्तियों से भरी होती है। उसकी इधर की प्रणय पत्रिका की रचनाएँ भी....जो विनय पत्रिका का आधुनिक संस्करण समझी जानी चाहिए....काव्य की दृष्टि से उसी परम्परागत आत्मनिवेदन की कोटि में आती हैं। उदाहरण स्वरूप....'तन के सौ सुख सौ सुविधा में मेरा

मन वनवास दिया सा' अथवा 'आज मलार कहाँ तुम छेड़े, मेरे नयन भरे आते हैं।' इत्यादि।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओं के रूप में इसलिए लिया है कि मूलतः ये तीनों धाराएँ एक ही युग चेतना अथवा युग सत्य से अनुप्राणित हुई हैं। उनके रूप विन्यास, भावना सौष्ठव में कोई विशेष अंतर नहीं और उनका विचार दर्शन भी धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आ रहा है। ये तीनों धाराएं एक दूसरे की पूरक हैं। आज के युद्ध जर्जर युग में हम एक नवीन संतुलन चाहते हैं। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओं में नवीन समन्वय चाहते हैं, अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते हैं। अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोकजीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) में नया सामंजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूलगत आकांक्षाएँ आज हमारे साहित्य मे विभिन्न अनुरंजनाओं तथा अतिरंजनाओं के साथ अभिव्यक्ति पा रही हैं।

अपने युग की महत् चेतना से, एक छोटे से साहित्यजीवी के रूप में, मैं भी अपने ढंग से अनुप्राणित एवं प्रभावित हुआ हूँ। इसके चढ़ाव उतार में मेरी भी छोटी सी तुच्छ देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी महान् कवियों के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का भी मैं प्रशंसक तथा समर्थक रहा हूँ। अपनी काव्य साधना में मैंने संत कवियों तथा डा० टैगोर से अनुप्राणित छायावाद की आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता की अंतश्चेतना को नवीन लोकचेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है। मैं अपने युग की चेतना में छाए हुए अंधविश्वासों तथा निरर्थक रूढ़ि रीतियों के प्रेतों से लड़ा हूँ। मैंने विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा जातियों वर्गों में बंटे हुए लोगों को अपनी काव्य चेतना के प्रांगण में आमंत्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। मैंने आध्यात्मिक तथा भौतिक अतिरंजनाओं का विरोध किया है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोक कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक दूसरे के पूरक की तरह, संयोजित करना चाहा है। युगवाणी से लेकर स्वर्ण किरण तक मैंने जीवन की बहिरंतर मान्यताओं को सामंजस्य के ताने वानों में गूँथकर नवीन मानवता के सांस्कृतिक पट को शब्द ग्रथित करने का

विनम्र प्रयत्न किया है। अपने प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है। उसे नवीन रागात्मक संवेदनाओं, नवीन आदर्शों के स्पंदन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कलापक्ष में मैंने अपनी युगचेतना को नवीन सौन्दर्य का लिबास पहनाने का प्रयत्न किया है, जिस सबमें मुझे अवश्य ही सफलता नहीं मिल सकी है और जिसकी चर्चा करना मुझे केवल आत्मश्लाघा प्रतीत हो रही है। भविष्य में यदि मैं कभी अपने मन की पुण्य इच्छाओं तथा स्वप्न संभावनाओं को सापेक्षतः परिपूर्ण काव्यकृति का रूप दे सका, तो मैं अपनी साहित्यिक साधना को सफल समझूंगा।

●

रामवृक्ष बेनीपुरी
[सन् १९०२—६८]

गेहू बनाम गुलाब

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूंघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस?

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये, क्या पीये? मां के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाए उससे!

गेहूँ—उसकी भूख का काफिला आज गेहूं पर टूट पड़ा है! गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूं उपजाओ!

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए! बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक प्रवृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दबा रखा है।

*   *   *   *

किन्तु; चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर? मानव को मानव बनाया गुलाब ने! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी!

यही नहीं; जब उसके पेट में भूख खावँ-खावँ कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थीं, टँकी थीं।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ। उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की बनायी तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा

रामवृक्ष बेनीपुरी
[सन् १९०२—६८]

गेहूं बनाम गुलाब

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूंघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस?

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये, क्या पीये? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाए उससे!

गेहूँ—उसकी भूख का काफिला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है! गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ!

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए! बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक प्रवृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दबा रखा है।

*　　*　　*　　*

किन्तु; चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर? मानव को मानव बनाया गुलाब ने! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी!

यही नहीं; जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थीं, टँकी थीं।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ। उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की बनायी तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा

गा रहा था, तब उसके छप-छप में उसने ताल पाया, तराने छोड़े ! बाँस से उसने लाठी ही नहीं बनाई, वंशी भी बजाई !

रात का काला घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी; बल्कि वह आनन्दविभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः-शनैः प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस कणों से ! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौन्दर्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया; इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रङ्गों में रंग दिया !

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है, हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर ! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं हैं ! जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की।

गेहूँ की आवश्यकता उसे है; किन्तु उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की ! उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं !

* * * *

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का सम-तुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा !

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गाय चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरें गड़ी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं !

किन्तु धीरे-धीरे यह सम-तुलन टूटा !

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़नेवाले, थकानेवाले, उबानेवाले, नारकीय यन्त्रणाएं देनेवाले श्रम का—वह श्रम, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज का ! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
[सन् १८९६—१९६१]

हमारे साहित्य का ध्येय

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज में वह महत्व प्राप्त नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मण्डल में रहनेवालों में, जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसीलिए हमारे देश के अधिकांश प्रांतीय साहित्यिक राजनीति से प्रभावित हो रहे हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिए कार्यकरी सच्ची राष्ट्रनीति की अत्यंत आवश्यकता है, पर यह भी सच है कि देश में नवीन संस्कृति के लिए व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उसी हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीतिक कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देती है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एक देशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए, शरीर के तमाम अंगों की पुष्टि की तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति क्रम के जो विचार गणित के अनुसार प्रत्येक दशा की गणना कर संपत्तिवाद के कायदे से कल्पना द्वारा देश का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बंध कर उनकी बहुमुखी उच्चाभिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या बाह्य स्वातंत्र्य सिद्ध करते हैं।

अधिकांश सम्मान्य नेताओं की उक्ति है, पहले राज्य, फिर सुधार, व्यवस्थाएँ, शिक्षा आदि। मनुष्य जब अपनी ही सत्ता पर जोर देकर संसार की बिगड़ी हुई दशा के सुधार के लिए कमर कस लेता है, तब वह प्रायः सोऽहम् बन जाता है, प्रकृति के विरोधी गुणों, दुनियाँ की अड़चनों तथा मनुष्यों की स्वभावप्रियता को एक ही छलांग से पार कर जाता है। समष्टि के मन को यंत्र-तुल्य समझकर अपने इच्छानुसार उसका संचालन करता है। इसी जगह एक सच्चे नेता से एक सच्चे साहित्यिक का मतभेद है। साहित्यिक मनुष्य की प्रकृति

को ही श्रेय देता है। उसके विचार से हर मनुष्य जब अपने ही प्रिय मार्ग से चलकर अपनी स्वाभाविक वृत्ति को कला-शिक्षा के भीतर से अधिक मार्जित कर लेगा, और इस तरह देश में अधिकाधिक कृतिकार पैदा होंगे, तब सामूहिक उन्नति के साथ-ही-साथ काम्य स्वतंत्रता आप-ही-आप प्राप्त होगी, जैसे युवकों को प्रेम की भावना आप-ही-आप प्राप्त होती है, यौवन की एक परिणति की तरह।

संपत्ति-शास्त्र और गणित-शास्त्र कभी ईश्वर की परवा नहीं करते। उनके आधार पर चलनेवाले नेता भी अदेख शक्ति या अज्ञात रहस्यों पर विश्वास करना अपने को पंगु बनाना समझते हैं, और उनके लिए यह स्वाभाविक है भी, जब संपत्ति और गणित के साथ देश की मिट्टी में उन्हें जड़-ही-जड़ मिलता है, और उनकी स्वतंत्रता भी बहुत कुछ जड़ स्वतंत्रता है। साहित्यिक के प्रधान साधन हैं सत्, चित् और आनंद। उसका लक्ष्य है अस्ति, भाति और प्रिय। उसकी स्वतंत्रता इनकी स्फूर्ति से व्यक्ति के साथ समष्टि के भीतर से आप निकलती है।

साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नहीं चाहता, कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उसकी दृष्टि में 'पहले मुर्गी फिर अंडा या पहले अंडा तब मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्यमयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत् को अंतर्जगत् के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिए भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयंकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी ही है, गंदगी पर इत्र का छिड़काव। इस तरह विवाद-व्याध के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर हैं, जड़ प्राप्त द्वारा, रुपये-पैसे या जमीन से उसका निराकरण हो भी नहीं सकता। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यहीं सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का संबंध है। संस्कृत जीवन कुम्हार की बनाई मिट्टी है, जिससे इच्छानुसार हर तरह के उपयोगी बर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए हम प्रायः एक दूसरा रास्ता अख्तियार कर बैठते हैं, वह साहित्य के भीतर से अध्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिणति आप प्राप्त करेगा।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएं हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि-आदि की जातीय रेखाओं से चक्कर काटती हुई गंगासागर, मक्का और जरूसलेम की तरफ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है। उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है, और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिए नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भरनेवाला, नया जीवन फूंकनेवाला है। साहित्य में बहिर्जगत-संबंधी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए, जिसके प्रसार में केवल मक्का और जरूसलेम ही नहीं, किंतु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद गंगासागर तक रही, तो कुछ जनसमूह में मक्के का खिंचाव जरूर होगा, या बुद्धदेव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही गायब कर दिए जा सकें, तो तमाम दुनिया के तीर्थ होने में संदेह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओं, सब अंगों के लिए हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रंग यहीं का है। कालक्रम से अब हम लोग उस रंग से खींचे हुए चित्रों से इतने प्रभावित हैं कि उस रंग की याद ही नहीं, न उस रंग के चित्र से अलग होने की कल्पना कर सकते हैं, और इसीलिए पूर्ण मौलिक बन भी नहीं पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खींच सकते हैं, जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हों।

राजनीति में जाति-पांति रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्त तमाम देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग सम स्वर से बोलने और एक राह से गुजरने लगते हैं। उनमें जितने अंशों में व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते हैं, उतने ही अंशों में वे एक-दूसरे से अलग हैं, इसलिए कमजोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है, जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो। जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा, तब विरोध में खंडक्रिया होगी ही नहीं। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना सहज है।

●

वियोगी हरि
[सन् १८९७—.......]

विश्व-मन्दिर

परमेश्वर का यह समस्त विश्व ही महामंदिर है। इतना सारा यह पसारा उसी घट-घटव्यापी प्रभु का घर है, उसी लामकां का मकान है। पहले उस मनमोहन को अपने अन्दर के मंदिर में दिल भर देख लो, फिर दुनिया के एक-एक जर्रे में उस प्यारे को खोजते चलो। सर्वत्र उसी प्रभु का सुन्दर मन्दिर मिलेगा, जहाँ-तहाँ उसीका सलोना घर दिखेगा। तब अविद्या की अँधेरी रात बीत गई होगी। प्रेम के आलोक में तब हर कहीं भगवान् के मंदिर ही मंदिर दिखाई देंगे। यह बहस ही न रहेगी कि उस राम का वास इस घर में है या उसमें। हमारी आँखों में लगन की सच्ची पीर होगी, तो उसका नूर हर सूरत में नजर आयेगा; कोने-कोने से सांवले गोपाल की मोहिनी बांसुरी सुनाई देगी। हां, ऐसा ही होगा। बस, आंखों पर से मजहबी तअस्सुब का चश्मा उतारने भर की देर है।

यों तो ऐसा सुन्दर मंदिर कोई भी भावुक भक्त एक आनंदमयी प्रेम-कल्पना के सहारे अपने हृदयस्थल पर खड़ा कर सकता है, या अपने प्रेमपूर्ण हृदय को ही विश्व-मंदिर का रूप दे सकता है। पर क्या अच्छा हो, यदि सर्वसाधारण के हितार्थ सचमुच ही एक ऐसा विशाल विश्व-मंदिर खड़ा किया जाए। क्यों न कुछ सनकी सत्यप्रेमी नौजवान इस निर्माण-कार्य में जुट जाएं। इससे निस्सन्देह संशय, अविश्वास और अनीश्वरता का दूषित वायु-मण्डल हट जाएगा और सूखे दिलों से भी फिर एक बार प्रेम-रस का स्रोत फूट पड़ेगा।

यह विश्व-मंदिर होगा कैसा? एक अजीब-सा मकान होगा वह। देखते ही हर दर्शक की तबीयत हरी हो जाएगी। रुचि-वैचित्र्य का पूरा खयाल रखा जाएगा। भिन्नताओं में अभिन्नता दिखाने की चेष्टा की जाएगी। नक्शा कुछ ऐसा रहेगा, जो हर एक की आंख में चस जाए। किसी एक खास धर्म-सम्प्रदाय का न होकर यह मंदिर सर्व धर्म-संप्रदायों का 'समन्वय मन्दिर' होगा। यह

सबके लिए होगा, सबका होगा। वहाँ बैठकर सभी सबके मनोभावों की रक्षा कर सकेंगे; सभी सबको सत्य, प्रेम और करुणा का भाग दे सकेंगे।

चित्र उस मंदिर में ऐसे-ऐसे भावपूर्ण अंकित किए जाएँगे कि पाषाण-हृदय दर्शक को भी उनसे सत्य और प्रेम का कुछ-न-कुछ सन्देश मिला करेगा। किसी चित्र में राज-राजेश्वर राम गरीब गुह को गले लगाए हुए दिखाई देंगे, तो कहीं वे भीलनी के हाथ से उसके जूठे बेर चखते मिलेंगे। कहीं सत्यवीर हरिश्चन्द्र, रानी शैव्या से मरत रोहिताश्व का आधा कफन दृढ़ता से माँगता होगा। कहीं त्रिलोकेश्वर कृष्ण एक दीन दरिद्र अतिथि के धूल भरे पैरों को अपने प्रेम-अश्रुओं से पखारते मिलेंगे और कहीं वही योगेश्वर वासुदेव घबराए हुए पार्थ को अनासक्ति योग का सन्देश दे रहे होंगे।

और भी वहाँ ऐसे ही अनेक चित्र देखने को मिलेंगे। भगवान् बुद्ध एक वेश्या के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर रहे होंगे। कहीं घिनौने कोढ़ियों के घाव धोते हुए दयालु ईसा का सुन्दर चित्र देखने को मिलेगा, और किसी चित्र में वही महात्मा संसार के पापों को अपने रक्त से धोने के लिए सूली पर चढ़ता हुआ दिखाई देगा। प्रियतमा सूली को चूमनेवाला मस्त मंसूर भी वहीं मुस्कराता हुआ नजर आएगा। कहीं दर्द-दीवानी मीरा अपने प्यारे साजन का चरणोदक समझकर जहर का प्याला प्रेम से पी रही होगी, और किसी चित्र में निर्बल सूर की बाँह झटककर वह नटखट-नन्दन वहीं कहीं लुका-छिपा खड़ा होगा।

एक और चित्र आप वहाँ देखेंगे। खादी की लँगोटी धारण कर गान्धी एक तरफ चर्खा चला रहा होगा। उसकी गोद में अछूतों के नंग-धड़ंग बच्चे खेलते होंगे, और वह अपने मोहन मंत्र से विपक्षियों के भी हृदय में प्रेम और सत्य को जाग्रत कर रहा होगा। और भी कितने ही सजीव चित्र उस मंदिर में खिंचे होंगे। हिमालय, गंगा और काशी-अयोध्या के दृश्य आप देखेंगे। वहीं बौद्धों के स्तूप और विहार भी दिखाई पड़ेंगे। काबे और जेरूसलेम के तीर्थ भी वहीं अंकित होंगे। बड़े-बड़े ऋषियों के, मस्त औलियों के और प्रेम-पीर का मर्म बतानेवाले सन्तों और सूफियों के आकर्षक चित्र देखकर आप आनन्द के आकाश में उड़ने लगेंगे।

वहाँ अनेक धर्मग्रन्थों के समन्वय-सूचक 'महावाक्य' भी दीवारों पर खुदे होंगे। वेद के मंत्र, कुरान की आयतें, अवस्ता की गाथाएँ, बौद्धों के सुत्त, इंजील के सरमन, कन्फ्यूसियस के सुवचन, कबीर के सबद और सूर के भजन आप उस मंदिर की पवित्र दीवारों पर पढ़ेंगे। किसी भी धर्मवाक्य में भेद न दिखाई देगा। सबका एक ही लक्ष्य, एक ही मतलब होगा। सब एक ही प्यारे प्रभु की तरफ इशारा कर रहे होंगे। उस विश्व-मंदिर की दीवारों पर खुदे हुए वे प्रेम-मंत्र

संशय और भ्रम का काला पर्दा उठा देंगे, अनेकता में एकता की झलक दिखा देंगे।

वहाँ की उपासना में पूर्व-पश्चिम का झगड़ा न रहेगा। सिरजनहार किस तरफ नहीं है? यह सारी दिशाएँ उसी की तो हैं। सारी भूमि गोपाल की ही तो है। वहाँ के एक-एक पत्थर में और एक-एक ईंट में प्यार ही प्यार भरा होगा। उन पत्थरों को चूमने में बेहद मजा आएगा, और उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने में भी अपार आनन्द मिलेगा। वहाँ एक साथ प्रेम का प्रसाद बांटा जाएगा और वहीं खुद की कुर्बानी भी की जाएगी।

सभी बेरोक-टोक उस विश्व-मंदिर के अन्दर जा सकेंगे। वहाँ 'प्रवेश-निषेध' की तख्ती न होगी। विद्वान् भी वहाँ जाएँगे और मूर्ख भी जाएँगे, पुण्यात्मा जिस द्वार से जाएँगे, उसी द्वार से पापात्मा भी जाकर प्रार्थना में शामिल होंगे। पतित से भी पतित मानव को वहाँ प्यार की पाक जगह मिलेगी। दलित और दण्डित, दीन और दुखी, पतित और पापी सभी वहीं परमपिता का दर्शन ले सकेंगे, सभी गोविन्द का गुणगान कर सकेंगे। पश्चात्ताप के आँसुओं से सुबह-शाम मंदिर का आँगन पखारा जाएगा और प्रायश्चित्त की धूप से उसका कोना-कोना सुवासित किया जाएगा।

उस महान् समन्वय-मन्दिर में ही साधक जन लोकसेवा और विश्वप्रेम का आदेश प्राप्त कर सकेंगे। धार्मिक झगड़ों से ऊबे हुए और मजहबी खूंरेजी से घबराए हुए शान्तिप्रिय साधक वहाँ बैठकर दिव्य प्रेम की साधना किया करेंगे। अपनी-अपनी दिली राह से हर कोई वहाँ अपने राम को रिझाएगा। उस मंदिर में 'मैं-तू' न होगा, 'वही-वही' होगा।

क्या ऐसा सुन्दर विश्व-मंदिर किसी दिन खड़ा किया जा सकेगा? क्यों नहीं? पागल क्या नहीं कर सकते? उनके दिल में बात उतर भर जाए; फिर ऐसा कौन-सा काम है, जिसे वे पूरा कर न सकें? वह शुभ दिन जल्द आ जाए, जब इस कल्पना का विश्व-मंदिर हमारे वृद्ध भारत की तपोभूमि पर निर्मित हो जाए और उस पर किसी धर्म-मजहब का नहीं, बल्कि सत्य और ईमान का ऊँचा सफेद झण्डा फहरा उठे।

धीरेन्द्र वर्मा
[सन् १८९७ —........]

मध्यदेश का सांस्कृतिक नवचेतना

उन्नीसवीं शताब्दी में देश में नवचेतना का आरंभ केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं हुआ, बल्कि वह संस्कृति के समस्त अंगों से संबंध रखता है।

पौराणिक सनातन धर्म का वर्तमान रूप पढ़े-लिखे भारतीय को संतोष देने में असमर्थ था, फलस्वरूप अनेक धार्मिक सुधार-आन्दोलन देश के शिक्षित वर्ग में प्रारंभ हुए, जैसे बंगाल में ब्रह्म-समाज, दक्षिण-भारत में थियासोफ़ी तथा महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज। इन सबकी प्रेरणा के मूल स्रोत वेदांत, उपनिषद्, गीता, अंग्रेजी शिक्षा तथा ईसाई धर्म के भ्रातृभाव के सिद्धान्त कहे जा सकते हैं। मध्यदेश पर विशेष प्रभाव डालनेवाले आंदोलनों में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज मुख्य था। स्वामी दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी पढ़े विद्वान् नहीं थे। वे संस्कृत के पंडित थे। उन्होंने मध्ययुगीन पौराणिक परम्पराओं को हटाकर प्राचीन मध्यदेश के वैदिक आर्य आदर्शों की ओर समाज को मोड़ना चाहा। फलस्वरूप इन आदर्शों की प्रचारक संस्था का नाम इन्होंने आर्यसमाज रक्खा। वैदिक भाषा और साहित्य के अध्ययन, गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली, कर्मप्रधान वर्णधर्म की व्यवस्था तथा आश्रम धर्म आदि का संदेश उन्होंने दिया। वे केवल प्रतिक्रियावादी नहीं थे, बल्कि स्वराज्य, स्वदेश तथा स्वभाषा आदि के महत्व पर भी बराबर बल देते थे। वे विदेशी शासन के ही विरोधी नहीं थे, बल्कि विदेशी धर्म, विदेशी भाषा और विदेशी संस्कृति का भी मूलोच्छेदन करना चाहते थे। किंतु साथ ही उन्होंने पौराणिक-कालीन धार्मिक भावनाओं, साहित्य तथा संस्कृति का भी विरोध किया है। स्वामीजी की सुधार-योजना केवल धर्म तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसके अंतर्गत समाज-सुधार, शिक्षा-सुधार तथा राजनीतिक-सुधार भी सम्मिलित था। आर्य-समाज का सीधा प्रभाव पंजाब तथा मध्यदेश की नागरिक जनता पर विशेष पड़ा, साथ ही उसने सर्वसाधारण के पौराणिक विचारों को भी परिवर्तित तथा प्रेरित

करने में सहायता पहुँचाई। विदेशी ईसाई और इस्लाम धर्मों के प्रचार को रोकने में भी आर्य-समाज का आंदोलन बहुत सहायक सिद्ध हुआ। भारत में विदेशी धर्मों की समस्या को आर्य-समाज शुद्धि के द्वारा स्थायी रूप में सुलझाने के पक्ष में रहा।

मध्यदेश से संबंध रखनेवाला दूसरा धार्मिक सुधार आंदोलन राधास्वामी संप्रदाय का कहा जा सकता है। इसकी विचाधारा का संबंध संत-परम्पराओं से है, जिनमें हमें साधना और भक्ति का मिश्रण मिलता है। राधास्वामी संप्रदाय ने नवीन औद्योगिक आवश्यकताओं पर भी बल दिया, जिसके फलस्वरूप आगरा के निकट इस संप्रदाय का प्रधान केंद्र दयालबाग में बना। राधास्वामी संप्रदाय का मध्य देश पर वैसा व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा है, जैसा आर्य-समाज पर पड़ा है।

जनसाधारण का धर्म अभी भी पौराणिक सनातन धर्म है, जिसके अंतर्गत अनेक वैष्णव, शैव, शाक्त संप्रदाय चल रहे हैं। गंगाजी का माहात्म्य, तीर्थ स्थानों का महत्व, गोरक्षा की भावना, श्राद्ध तथा धार्मिक व्रत-उत्सवों आदि का मानना इसके मुख्य बाहरी लक्षण हैं। आस्तिकता की भावना, पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास और जन्मगत बिरादरी-व्यवस्था इसके मौलिक सिद्धांत कहे जा सकते हैं। धर्मग्रन्थों के रूप में गीता, उपनिषद्, भागवत तथा तुलसीकृत रामायण का पाठ पढ़े-लिखे लोगों में होता है। वेदों में आस्था केवल मौखिक है। सर्वसाधारण में इन सबका स्थान सत्यनारायण की कथा और कीर्तन ने ले लिया है। सनातन धर्म को नवीन रूप देने और उसमें नवचेतना उपस्थित करने का प्रयास हो रहा है। अभी कोई ऐसा बड़ा व्यक्तित्व नहीं पैदा हुआ है, जो प्राचीन नींव पर जनता के धर्म के मंदिर का नवयुग के अनुरूप उचित निर्माण कर सके।

समाज के सीमित वर्गों में जैन धर्म चल रहा है। विदेशी धर्मों में इस्लाम तथा ईसाई धर्म मिलते हैं, किंतु विदेशी राज्यों की समाप्ति के बाद इनकी प्रेरणा शक्ति समाप्त हो गई है।

समाज सुधार की ओर भी सुधारकों का ध्यान गया। जहाँ तक सनातन-धर्मी तथा मुसलमान और ईसाई वर्गों के आपस के संबंध की समस्या का प्रश्न है, उसे अभी तक सुलझाया नहीं जा सका है। मुसलमान और ईसाई केवल धर्म नहीं हैं, बल्कि सर्वांगीण विदेशी संस्कृतियाँ हैं, अतः इनके साथ समझौता करने में स्वदेशी समाज असमर्थ है। आर्य-समाज की शुद्धि-योजना को राजनीतिक स्वतंत्रता आंदोलन के कारण स्थगित कर देना पड़ा था। हिंदू-मुस्लिम समस्या

को सुलझाने का महात्मा गांधी का हृदय-परिवर्तन सम्बन्धी उपचार सफल सिद्ध नहीं हुआ। पाकिस्तान बन जाने पर भी यह समस्या अभी भी क़ायम है। यदि विदेशी धर्मावलंबी संस्कृति के अन्य अंगों की दृष्टि से भारतीय बनाये जा सकें, तो यह समस्या बहुत कुछ सुलझ सकती है।

हिंदू समाज में अछूतों की समस्या पर स्वामी दयानंद सरस्वती तथा महात्मा गांधी दोनों ने अपने-अपने ढंग से बल दिया था और फलस्वरूप यह बहुत कुछ सुलझने के निकट दिखाई पड़ रही है। समाज में बिरादरी-व्यवस्था भोजन में तो अब उतने संकीर्ण रूप में नहीं दिखलाई पड़ती है, किन्तु विवाह संबंध के क्षेत्र में उसमें अभी भी विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आर्यसमाज का कर्मगत वर्णव्यवस्था का सिद्धांत व्यवहार में उसी प्रकार सफल नहीं हो सका, जिस प्रकार इस संबंध में बौद्ध और जैन सुधार तथा संत-संप्रदाय सफल नहीं हो सके थे। जिस ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर इस मौलिक समस्या को सुलझाने की आवश्यकता है, वैसा प्रयास इस संबंध में अभी तक नहीं हुआ है।

प्रथम विदेशी संघर्ष के फलस्वरूप स्त्रियों का स्थान समाज में अत्यंत निम्न हो गया था। योरोपीय सामाजिक आदर्शों तथा आर्यसमाज द्वारा प्रचारित वैदिक आदर्शों का प्रभाव स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर विशेष पड़ा। स्त्री-शिक्षा, पर्दे के रिवाज का उठ जाना, सामाजिक क्षेत्रों में स्त्रियों का सहयोग, बाल-विवाह का कम हो जाना आदि स्त्री-सुधार-आन्दोलन के स्पष्ट फल हैं। किन्तु भारतीय समाज में और परिवार में स्त्रियों का स्थान क्या हो तथा पति-पत्नी के संबंध का रूप क्या होना चाहिए, इस विषय में अभी भी विचारों में स्थिरता नहीं आ सकी है।

शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ी शासकों ने इस देश में अंग्रेजी-शिक्षा-प्रणाली प्रारंभ की और इसके फलस्वरूप यूरोपीय दृष्टिकोण से ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का प्रारंभ अंग्रेजी माध्यम के द्वारा हुआ। बहुत बड़ी संख्या में अंग्रेज़ी स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटियाँ स्थापित हुईं। यदि देश में अंग्रेज़ी-शासन नहीं भी होता तो भी उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव देश पर पड़ता, जैसे जापान, तुर्की, ईरान, चीन आदि अन्य स्वतंत्र देशों की शिक्षा-प्रणाली पर पड़ा। अंतर केवल इतना होता कि उस अवस्था में ज्ञान-विज्ञान की नींव भारतीय होती और शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ होतीं। फलस्वरूप गत सौ-सवा सौ वर्ष में प्रचुर उपयोगी साहित्य बन गया होता, शिक्षित वर्ग और जनसाधरण के बीच उतना भेद नहीं दिखलाई पड़ता, तथा शिक्षित जनता का प्रतिशत आज से बहुत अधिक होता।

शासन के संरक्षण के अभाव में आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुल तथा कांग्रेस-आंदोलन की प्रेरणा द्वारा स्थापित विद्यापीठ अधिक सफल नहीं हो सका। महामना मालवीयजी द्वारा स्थापित हिंदू विश्वविद्यालय भी एक ऐंग्लो-इंडियन संस्था ही बनकर रह गई। अलीगढ़ की मुस्लिम यूनिवर्सिटी ऐंग्लो शिक्षित वर्ग बनाने के लिए अंग्रेजी शासकों ने स्थापित की थी। इसमें वे सफल हुए। महात्मा गांधी की प्रेरणा से बेसिक शिक्षा संबंधी प्रयोग हुए। जो हो, आधुनिक-शिक्षा-प्रणाली तथा ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी मध्यदेश के इतिहास में असाधारण महत्व रखती है। यदि गत डेढ़-सौ वर्ष में विदेशी शासन न होता, तो देश ने इस क्षेत्र में इतनी उन्नति कर ली होती, जितनी यूरोप के स्वतंत्र देश गत ३००-४०० वर्षों में कर सके। स्वदेशी-शिक्षा-प्रणाली की भावी रूपरेखा स्थायी रूप से स्थिर करने के प्रयास प्रारंभ हो गए हैं, जिनमें निकट भविष्य में सफलता की संभावना है। इस संबंध में एक मौलिक सिद्धांत यह होना चाहिए कि शिक्षा का संचालन शिक्षाविज्ञों के हाथ में पूर्णतया दे दिया जावे, शासन को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। न्याय तथा उच्च शिक्षा को शासन के नियंत्रण से मुक्त रखना देश के लिए नितांत आवश्यक है।

कलाओं, जैसे संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, शिल्पकला आदि के क्षेत्रों में नव-चेतना का प्रारंभ बंगाल तथा महाराष्ट्र के केंद्रों से प्रारंभ हुआ था और अब धीरे-धीरे यह मध्यदेश में फैल रही है। प्रथम विदेशी संघर्ष के काल में यहां की कला की परंपराएँ, बहुत कुछ नष्ट तथा विकृत हो गई थीं, किन्तु इनका जीर्णोद्धार असंभव नहीं है। कत्थक नृत्य शैली, हिंदुस्तानी संगीत, राजपूत तथा पहाड़ी चित्रकला आदि के रूप में अभी भी मध्यदेशीय परंपराएँ सुरक्षित हैं, जिन्हें परिष्कृत करके आसानी से विकसित किया जा सकता है। इसी प्रकार गृहनिर्माण, पहिनावे, भोजन आदि में भी प्राचीन परंपराओं के आधार पर सुधार संभव है।

आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी शासनकाल भारत तथा मध्यदेश के इतिहास में अत्यन्त दुरवस्था का काल कहा जा सकता है। कृषि के क्षेत्र में नवीन उन्नत उपायों का उपयोग न करने, प्राचीन उद्योग-धंधों के नष्ट कर देने, नवीन उद्योग-धंधों को आरंभ न करने तथा विदेशी, विशेषतया अंग्रेजी माल की खपत के कारण देश जितना इस काल में निर्धन हुआ, वैसा कभी नहीं हुआ था। मुस्लिम विदेशी शासकों ने मध्यदेश में अपना घर बना लिया था, अतः देश का अधिकांश धन यहां ही व्यय होता था। अंग्रेजी शासक इंगलैंड में ही शासन करते थे, अतः देश की संपत्ति निरंतर बाहर खिंचती रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद

अपना शासन आर्थिक सुधार के संबंध में विशेष जागरूक है। देश की अधिकांश योजनाओं का उद्देश्य आर्थिक स्थिति में सुधार करना है।

दीर्घकालीन विदेशी शासन के कारण देश को जो सबसे अधिक क्षति पहुँची, वह जनता के नैतिक स्तर से संबंध रखती है। स्वतंत्र देशों की तुलना में देशवासियों का नैतिक स्तर साधारणतया चरम पतन को पहुँच गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक सुधार आंदोलनों तथा महात्मा गांधी के राजनीतिक आंदोलनों ने नैतिक स्तर को ठीक करने की ओर बराबर ध्यान दिया, किंतु इसमें अभी भी पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। नैतिक स्तर को ठीक करने में धार्मिक शिक्षा एक बहुत बड़ा साधन है, जिसका अभी उचित प्रयोग नहीं हो सका है।

संक्षेप में मध्यदेशीय जीवन के प्रत्येक अंग में नवचेतना और पुनरुत्थान के लक्षण उन्नीसवीं शताब्दी में ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे थे। बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ये अधिक अग्रसर हुए। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इसके पूर्ण विकास में अब कोई बाधा ही नहीं रह गई है, बल्कि देश की संपूर्ण शक्ति इसमें सहायक हो सकेगी। अतः यह निश्चय है कि देश के दीर्घकालीन इतिहास में एक नवीन युग—नवचेतना और पुनरुत्थान का युग—प्रारंभ हो चुका है। यह युग मध्यदेश के प्राचीन जनपद-युग का आधुनिक रूप होगा, ऐसी संभावना दिखलाई पड़ती है।

●

पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र'
[सन् १९०१—६७]

बुढ़ापा

१

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूलकर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूटकर रो रही है। उस "खोने" में दुःख नहीं, सुख था, सुख ही नहीं, स्वर्ग भी था। इस "पाने" में सुख नहीं, दुःख है; दुःख ही नहीं, नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!

लड़कपन स्वर्गदुर्लभ सरलता से कहता था—"मैया, मैं तो चन्द्र खिलौना लैहों।" जवानी देवदुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—"दौर में साग़र रहे गर्दिश में पैमाना रहे।" और, "अंगं गलितं पलितं मुण्डम्" वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्यग्र होकर कहता है—"अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल!"

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, हा हा हा हा! है? यह सब सुफ़ेद झूठ है, कोरी कल्पना है, प्रवंचना है। मुझसे पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातोंवाले एक, दो, दस, बीस नहीं—साठ वर्षों से पूछो। मेरे कटु अनुभव से पूछो। मेरी लाग़री से पूछो, दुर्बलता से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों और जवानों को बतलाएँगे कि जीवन का अर्थ "वाह" नहीं, "आह" है; हँसी नहीं, रोदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है!

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर क्या पाया?—जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन। जवानी ने बीस वर्षों तक; कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे, और कभी मान के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया?—वार्धक्य के लिफाफे में सर्वनाश, पतन। और—और अब यह बुढ़ापा घंटों नाक दबाकर ईश्वर-भजन कर, सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त होकर खननन्न का खजाना इकट्ठा कर, बेटों की "बटालियन" और बेटियों की "बैटरी" तैयार कर कौन-सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा?—

वही सर्वनाश, वही पतन ! मुझसे पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोककर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है, "प....त....न !'

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिन-मणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी-उषा से होली खेल-खेलकर गंगा की वेला को, तरंगों को, मन्द मलयानिल को, नीलाम्बर को, दशों दिशाओं को और भगवती प्राची के अंचल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रंग से भर देता है। अपने आगे दुनिया का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रंग में रँगकर वही नाच नाचने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर....मगर....?

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्च्छित दिन-मणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ—कम्पित करोंवाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है? सर्वनाश, पतन ! उस पार—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य की रक्त चिता जलती है। माथे पर सायंकाल-रूपी काला चांडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी बहन पश्चिमा "आग" देती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओतप्रोत रहता है।

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञात होता है कि जीवन का असली अर्थ, और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

२

कोरी बातों में दार्शनिक विचार रखनेवालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की। बातों के दायरे से आगे बढ़नेवालों की।

जीवन का अर्थ पतन या सर्वनाश है, यह कह देना सहज है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी कोई बड़ी बात नहीं। पर, पतन और सर्वनाश को आंखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना केवल दुरूह ही नहीं, असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नजर मुझ पर पड़ी। उनमें से एक ने कहा—"हट जाओ, हट जाओ ! हनुमानगढ़ी से भागकर

यह जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पाई है। पूरा किष्किन्धा-वासी मालूम पड़ता है।"

बस, ताव लग गई। बूढ़ा हो जाने से ही इंसान बंदर हो जाता है? इतना अपमान? बूढ़ों की ऐसी अप्रतिष्ठा? झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधी कर मैंने उन लड़कों से कहा—"नालायको! आज कमर झुक गई है। आज आँखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गए हैं। आज दुनिया की तसवीरें भूले हुए स्वप्न की तरह झिलमिल दिखाई दे रही हैं। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ रही है। मगर हमेशा यही हालत नहीं थी।"

"अभी छोकरे हो, लौंडे हो, बच्चे हो, नादान हो, उल्लू हो। तुम क्या जानो कि संसार परिवर्तनशील है। तुम क्या जानो कि प्रत्येक बालक अगर जीता रहा, तो जवान होता है। और प्रत्येक जवान, अगर जल्द खतम न हो गया, तो एक-न-एक दिन 'हनुमानगढ़ी का जानवर' होता है। लड़कपन और जवानी के हाथों बुढ़ापे पर जैसे अत्याचार होते हैं, यदि वैसे ही अत्याचार बुढ़ापा भी उन पर करने लगे, तो ईश्वर की सृष्टि की इति हो जाय। बच्चे जन्मते ही मार डाले जायँ। लड़के होश सँभालते ही अपना पेट पालने के लिए, घर से बाहर निकाल दिए जायँ। संसार से, दादा के माल पर फ़ातेहा पढ़ने की प्रथा ही उठ जाय।

अब भी सौ में निन्यानवे धनी अपने बूढ़े बापों की कृपा से गद्दीदार बने हुए हैं। अब भी हज़ार में नौ सौ साढ़े निन्यानवे शौक़ीन जवानों के भड़कीले कपड़ों के दाम, कंघी, शीशा, ओटो, लवेंडर, सोप, पाउडर, पालिश और शराब की बोतलों के पैसे बूढ़ों की गाढ़ी कमाई की थैली से निकलते हैं। अब भी संसार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देनेवाला, कमज़ोर हृदयवाला बुढ़ापा ही है, बेवकूफ़ लड़कपन नहीं, मतवाली जवानी नहीं....

फिर बूढ़ों का इतना अपमान क्यों? बुढ़ापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों?"

मगर उन लड़कों के कान तक मेरी दोहाई की पहुँच न हो सकी। सबने एक स्वर से ताली बजा-बजाकर, मेरी बातों की चिड़ियों को हवा में उड़ा दिया।

लड़के हू-हू हो-हो करते भाग खड़े हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हड़पन और अज्ञान की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुन्दर स्वप्न की याद आई, जो मैंने आज से युगों पूर्व लड़कपन और यौवन के सम्मेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न!

३

एक वार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनिया मेरी हालत पर हँसे या जो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो तो सामने आये। मैं खेलूंगा।

एक वार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सुफेद वाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हज़ार-हज़ार रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पाँसे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूँ। कोई हकीम हो तो सामने आये, उसे निहाल कर दूंगा, मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँहमाँगा दूंगा। कह चुका हूँ, निहाल कर दूंगा; मालामाल कर दूंगा।

हर साल वसन्त आता है। बूढ़े-से-बूढ़ा रसाल माथे पर मौर धारणकर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्द-गति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर "कुहू-कुहू" करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाव—नवयुवक—उन्माद की सरिता में, सब कुछ भूलकर विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं; सिपटते हैं, लिपटते हैं—दुनिया के पतन को, उत्थान को और सर्वनाश को मङ्गल का जामा पहनाते हैं। और मैं—टका सा मुँह लिये, कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकर-टुकर देखा करता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है ?

हर साल मतवाली वर्षा ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोटपोट हो जाता है—"काले मेघा पानी दे !" जवानी पगली होकर गाने लगती है—"आई कारी वदरिया ना।" और मेरा बुढ़ापा ? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख-भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता है। सामने की परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते। तड़फ-तड़फकर रह जाते हैं; उफ़ !

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है !

इस नरक से कोई मुझे बाहर कर दे, युवक बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूँ। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हां-हां, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझसे पूछो, मैं जानता हूँ, मैं भुक्तभोगी हूँ, मुझ पर बीत रही है।

कोई यदु हो तो इस बूढ़े ययाति की सहायता करे, मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आँखों को चाहता हूँ, जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, चार होने और फंसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है, एक बार किसी के प्रेम में फँसकर गाऊँ—

ठाढ़े रहे घनश्याम उतै, इत
मैं पुनि आनि अटा चढ़ि झाँकी
जानति हौ तुम हू ब्रजरीति
न प्रीति रहै कबहूँ पल ढांकी
"ठाकुर" कैसेहू भूतल नाहि नै
ऐसी अरी वा बिलोकनि बाँकी
भावत ना छिन भौनको बैठिबो,
घूँघट कौन को ? लाज कहां की ?

इच्छा है, एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर, बैठे बिठाए, दुनिया की दृष्टि में व्यर्थ, परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ाकर प्रार्थना करूँ—

रोज न आइये जौ मनमोहन,
तौ यह नेक मतौ सुन लीजिये
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन
तुम्हें बिन देखे सु कैसे कै जीजिये
"ठाकुर" लालन प्यारे सुनौ
बिनती इतनी पै अहो चित दीजिये
दूसरे, तीसरे, पाँचवें, सातवें,
आठवें तो भला आइबो कीजिये

४

मगर वार्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके। यह मर्ज ही ला-इलाज है। यह दर्द-सर ऐसा है कि सर जाए तो जाए, पर दर्द न जाए।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध-भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूँ।

३

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनिया मेरी हालत पर हँसे या जो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो तो सामने आये। मैं खेलूंगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सुफेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हज़ार-हज़ार रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पाँसे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूँ। कोई हकीम हो तो सामने आये, उसे निहाल कर दूंगा, मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँहमाँगा दूंगा। कह चुका हूँ, निहाल कर दूंगा; मालामाल कर दूंगा।

हर साल बसन्त आता है। बूढ़े-से-बूढ़ा रसाल माथे पर मौर धारणकर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्द-गति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर "कुहू-कुहू" करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब—नवयुवक—उन्माद की सरिता में, सब कुछ भूलकर विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं; सिपटते हैं, लिपटते हैं—दुनिया के पतन को, उत्थान को और सर्वनाश को मङ्गल का जामा पहनाते हैं। और मैं—टका सा मुँह लिये, कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकर-टुकर देखा करता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है?

हर साल मतवाली वर्षा ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोटपोट हो जाता है—"काले मेघा पानी दे!" जवानी पगली होकर गाने लगती है—"आई कारी बदरिया ना।" और मेरा बुढ़ापा? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख-भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता है। सामने की परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते। तड़फ-तड़फकर रह जाते हैं; उफ़!

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है!

इस नरक से कोई मुझे बाहर कर दे, युवक बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूं। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हां-हां, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझसे पूछो, मैं जानता हूं, मैं भुक्तभोगी हूं, मुझ पर बीत रही है।

कोई यदु हो तो इस बूढ़े ययाति की सहायता करे, मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आंखों को चाहता हूं, जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, चार होने और फंसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है, एक बार किसी के प्रेम में फंसकर गाऊं—

ठाढ़े रहे घनश्याम उतै, इत
मैं पुनि आनि अटा चढ़ि झांकी
जानति हौ तुम हू ब्रजरीति
न प्रीति रहै कबहूं पल ढांकी
"ठाकुर" कैसेहू भूतल नाहि नै
ऐसी अरी वा बिलोकनि बांकी
भावत ना छिन भौनको बैठिबो,
घूंघट कौन को? लाज कहां की?

इच्छा है, एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर, बैठे बिठाए, दुनिया की दृष्टि में व्यर्थ, परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ाकर प्रार्थना करूं—

रोज न आइये जो मनमोहन,
तौ यह नेक मतौ सुन लीजिये
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन
तुम्हें बिन देखे सु कैसे कै जीजिये
"ठाकुर" लालन प्यारे सुनौ
बिनती इतनी पै अहो चित दीजिये
दूसरे, तीसरे, पांचवें, सातवें,
आठवें तो भला आइबो कीजिये

४

मगर वार्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके। यह मर्ज ही ला-इलाज है। यह दर्द-सर ऐसा है कि सर जाए तो जाए, पर दर्द न जाए।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध-भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूं।

भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या, ईश्वर भी छुटकारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है, जिसका उत्थान केवल एक बार होता है—और वह होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है, तो एक 'जाह्नवीतोयं'—यदि वैद्य है तो एक—'नारायणो हरिः।'

फिर अब देर काहे की, प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भवसागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूं। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है, गुणरहित है, प्रकाशहीन है। इसका शीघ्र नाश करो। पंचतत्व में लय करो।

फिर से, नए सिरे से निर्माण हो; फिर से, नए सिरे से सृष्टि हो; फिर से, नए सिरे से जन्म हो; फिर से, नए सिरे से शैशव हो; फिर से, नए सिरे से यौवन हो; फिर से भोग हो; विलास हो; पागलपन हो; मान में अपमान और अपमान में मान हो। फिर से, नए सिरे से यौवन की मतवाली अंगूरी-सुरा ऐसी छने—ऐसी छने कि लोक भूल जाए, परलोक भूल जाए, भय भूल जाए, शोक भूल जाए, वह भूल जाए, हम भूल जाएं, और तुम ईश्वर भूल जाओ। तब जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर अब देर काहे की प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो।

सुमित्रानंदन पंत
[सन् १९००—........]

आज की कविता और मैं

आज की कविता में अनेक स्वर और अनेक छायाएँ हैं। वह एक देशीय भी है, विश्वजनीन भी : वैयक्तिक भी है, सामाजिक भी : और इन सबके परे वह एक नवीन सत्य, नवीन प्रकाश एवं नवीन मनुष्यत्व की संदेशवाहक भी है, एक ऐसा मनुष्यत्व, जिसमें आज के देश और विश्व, व्यक्ति और समाज के बाहरी भीतरी विरोध, नवीन सामंजस्य ग्रहण कर रहे हैं।

जब मैं विश्व साहित्य एवं काव्य पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे लगता है कि उसमें मनुष्य जाति के जीवन का संघर्ष, उसके मन का चिन्तन तथा हृदय का मन्थन, ज्ञात और अज्ञात रूप से सदैव प्रतिफलित होता रहा है। प्रत्येक युग का साहित्यिक अथवा कवि अपने युग की समस्याओं को महत्त्व देता रहा है और उनसे किसी न किसी रूप में प्रभावित होता रहा है। आज का युग भी इसका अपवाद नहीं है। आज का युग अनेक दृष्टियों से कई युगों का युग है। आज मनुष्य जीवन में बहिरंतर क्रान्ति के चिह्न प्रकट हो रहे हैं। आज वह अपने पिछले संचय को नवीन रूप से सँजोने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर वह समाज के जीर्ण-शीर्ण ढांचे को बदल रहा है और दूसरी ओर जीवन की नवीन मान्यताओं को जन्म दे रहा है। आज उसे भीतर ही भीतर अनुभव हो रहा है कि वह सभ्यता के विकास की एक नवीन भूमिका पर पदार्पण करने जा रहा है। ऐसे संक्रांति के युग में ध्वंस और निर्माण साथ-साथ चलते हैं। शिव और ब्रह्मा, विष्णु के नवीन रूप को प्रकट करने में सहायक होते हैं। पौराणिक शब्दों में आज का युग कलियुग और सतयुग का संधिस्थल है। ऐसे युग में साहित्यिक या कवि का उत्तरदायित्व कितना अधिक बढ़ जाता है, और कौन साहित्यिक उसे निभाने में कहाँ तक सफल हो पाता है, इस पर निर्णय केवल इतिहास का आनेवाला चरण ही दे सकता है, जब कि वर्तमान की समस्याएँ अपना समाधान प्राप्त कर नवीन व्यक्तित्व धारण कर चुकेंगी। अतएव प्रस्तुत

वार्ता में आज की कविताओं के संबंध में ही अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करूँगा और अपने संबंध में निर्णय देने का अधिकार आनेवाले आलोचकों पर छोड़कर संतोष करूँगा।

सन् १६०० में मेरे जन्म के साथ ही 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का भी जन्म हुआ, जो हिन्दी अथवा खड़ी बोली की पहिली प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका थी। देश के उदयाचल पर जागरण के चिह्न प्रकट हो चुके थे और खड़ी बोली उसी जागरण की सशक्त वाणी बनने का प्रयत्न कर रही थी। मेरे काव्य जीवन के प्रारंभ होने से २-३ वर्ष पहिले ही श्री गुप्तजी की 'भारत भारती' प्रकाशित हो चुकी थी। यद्यपि उसमें स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा अनुभूत तथा स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रचारित सर्वधर्म समन्वय की भावना तथा अध्यात्म का व्यापक प्रकाश नहीं था, जिसने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के काव्य को प्रेरणा दी, किन्तु उसमें उस समय के लोकचिन्तन के स्वर स्पष्ट रूप से गूंज रहे थे, जो इस प्रकार थे :

'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।'

साथ ही उसके भविष्यत् खंड में हमारी कुंभकर्णी नींद में सोई हुई भूमि के लिए उद्बोधन और जागरण की आशा भी थी....

'हतभाग्य हिन्दू जाति तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ?
वर शील, शुद्धाचार, वैभव, देख, अब क्या है यहाँ॥
अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के।
सब जग जगाता है तुझे जगकर स्वयं जय बोल के॥'

किन्तु द्विवेदी युग के कवियों के काव्य सौष्ठव से हमारे युग को, जिसका श्रीगणेश प्रसादजी से होता है, न काव्य के रूप निर्माण के सम्बन्ध में विशेष प्रेरणा मिली, न भावना और दर्शन के सम्बन्ध में। छायावादी कवियों का लक्ष्य हिन्दू जाति के जागरण तक सीमित नहीं रहा, उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण पौराणिक आचार विचारों को अतिक्रम कर नए प्रकाश की खोज करने लगा। उनके रूप विन्यास में कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अँगरेजी के कवियों का प्रभाव पड़ा, भावना में युग संघर्ष की आशा निराशा का, तथा विचार दर्शन में विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर भूवाद, नव मानववाद तथा जनवाद में परिणत हो गए। द्विवेदी युग के कवियों में आगे चलकर श्री गुप्तजी ने छायावाद की चेतना को पौराणिक परिपाटी के भीतर से अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया।

विश्ववाद, सर्वात्मवाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियों ने अधिकतर कवीन्द्र रवीन्द्र से और अंशतः शैली आदि अँगरेज़ी कवियों से ग्रहण किया। कवीन्द्र रवीन्द्र का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद का युग था। कवीन्द्र विश्व भावना तथा लोकमंगल भावना को अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने काव्य में दे सके। जन सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार सरणि का अंग नहीं बन सकी थी। यंत्र युग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका साहित्य ओतप्रोत है, किन्तु यंत्रयुग की जनवादी सौन्दर्य भावना का उदय तब नहीं हो सका था, न पूँजीवाद ही उनके आत्म निर्माण-काल में ऐसा बीभत्स रूप धारण कर चुका था। जनवादी भावना के विपरीत उनके साहित्य में यंत्रों के प्रति विरोध की भावना मिलती है, जो मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया मात्र है। श्रीकृष्ण-चैतन्य अथवा वैश्ववाद उनकी रचनाओं में आधुनिक रूप धारणकर सर्वात्मवाद बनकर निखरा है। सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय नृतत्त्व शास्त्र की दिशा में किया है।

इन्हीं आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य सम्बन्धी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गई, उनके काव्य का पदार्थ भी उसी अनुपात में बदलता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, रूप से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से मानववाद, भूवाद, जनवाद की ओर बढ़ते गये। सत्य के खोज की उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युगपरिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।

प्रसादजी की 'कामायनी' छायावाद के प्रथम चरण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है। उनका 'आँसू' छायावादी युग की एक निर्मल सृष्टि। कामायनी में पूर्वी पश्चिमी विचार दर्शन का उनके युग का समन्वय है। उसमें इड़ा (तर्कबुद्धि) पश्चिम के रीज़न या रैशनलिज्म की प्रतीक है। श्रद्धा भारतीय अभीप्साजनित भावना की। मनु मानव मन का प्रतीक है। चिन्ता, आशा, काम निर्वेद आदि प्रवृत्तियों का विकास जैवी विकासवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक विकासवाद के काव्यात्मक प्रयोग का निदर्शन है। इड़ा श्रद्धा का संघर्ष : श्रद्धा की विजय : भक्ति कर्म ज्ञान का समन्वय : अन्त में समरस आनन्द की व्यापक स्थिति, सब अत्यन्त सत्य, सफल और सुन्दर है। प्राचीन पौराणिक कथानक में विकासवाद की सक्रिय चेतना तथा शैवदर्शन की आत्मा प्रतिष्ठित कर उन्होंने युग के अनुरूप

अद्भुत काव्य सृष्टि की है। अतर्चेतना की सूक्ष्म देवशक्तियों का प्रवृत्तियों के रूप में मानसीकरण कर उन्हें भेद बुद्धि द्वारा स्थूल जीवन संघर्ष में डालकर, श्रद्धा की सहायता से पुनः निखारकर तथा उसी के द्वारा कर्म भक्ति ज्ञान के रूप में जीवन, भावना तथा बुद्धि में सामंजस्य स्थापित कर अभेद आनन्दमय सत्य की अवतारणा की है।

'नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व ही की प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन'

की भूमिका पर उठाकर प्रसादजी ने 'कामायनी' के श्रद्धा प्रसाद को

'समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था'

की आत्मानुभूति के स्वर्ग में प्रतिष्ठित कर दिया। व्यक्ति का जीवन 'कामायनी' के दर्शन के बिना असफल है। 'कामायनी' के काव्य पदार्थ में प्राचीन ऋषियों का हृदय स्पंदन तथा उनके विचार दर्शन की प्रतिध्वनियां मिलती हैं। और अंतिम सर्गों में विचार दर्शन से ऊपर आध्यात्मिकता का भी समरस प्रकाश मिलता है। प्राचीन तत्त्वद्रष्टाओं की तरह प्रसादजी ने भी व्यक्ति चेतना अथवा वैयक्तिक संचरण को प्राधान्य देकर सामूहिक एवं लोक कल्याण की समस्या का निदान किया है। किन्तु समूह एवं सामाजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार उन्मुक्त तथा प्रशस्त किया जाय, यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सन्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमें अनगढ़, विद्रोह भरे प्रगतिवाद के कवियों में मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन दर्शन भावप्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर धीरे-धीरे वस्तुप्रधान तथा सामाजिक हो गया। किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिवर्तन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास की भावना को ठीक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना गलत होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूंजीवादी तथा मध्यवर्गीय सौन्दर्य भावना की प्रतिक्रिया से पीड़ित रहा, उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन सौन्दर्य को वाणी देने के बदले धनपतियों तथा मध्य वृत्तिवालों के प्रति विद्वेष तथा विक्षोभ प्रकट करता रहा। नवीन लोकमानवता की गंभीर सशक्त चेतना के जागरण गान के स्थान पर उसमें नंग-

भूखे श्रमिक कृषकों के अस्थिपंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुंठित बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार भरा क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा। विचार दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण केवल कुछ तत्कालीन परिस्थितियों के कोरे राजनीतिक नारों को बार-बार दुहराकर उनका पिष्टपेषण करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से, अधिकांश प्रगतिवाद आलोचक साहित्य चेतना के सरोवर तट पर राजनीतिक प्रचार का झंडा गाड़े, ऊपर ही ऊपर हाथ-पांव मारकर झागों में तैरने का सुख लूटते रहे हैं और छिछले स्थलों से कीचड़ उछालते हुए काव्य की आत्मा को तोड़-मरोड़कर नव दीक्षितों को दिग्भ्रान्त करते रहे हैं।

छायावाद का प्रारंभिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद में अस्पष्ट भौतिकवाद अथवा वस्तुवाद बनने की हठ करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों में भागवत् या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जनजीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथ निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् साधना; अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट अथवा लक्ष्य की रूपरेखा या धारणा निश्चित नहीं बन पाई। एक भीतरी कुहासे में लिपटे रहे, दूसरे बाहरी कोहरे से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों को रेशमी रंगीनी का एवं उपमाओं की अभिनव सुन्दरता का सजीव का प्रयोग कर सके। छंदों की दृष्टि से संभवतः उन्होंने अपनी अंतर्लय हीन भावनाओं तथा उच्छृंखल उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छंद के रूप में पंक्तिवद्ध गद्य को अपनाया, जिसका प्रवाह उनके बहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असंबद्ध, छितरा-बिखरा तथा ऊबड़-खाबड़ रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि संस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया। छायावादी भावना की अति उदारता उतनी ही अधिक सिमटकर अत्यन्त संकीर्ण अंधानुयायिता में बदल गई। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार अपने गिरते पड़ते पैर मिट्टी के गर्द-गुबार से भरी एक व्यापक वास्तविकता की ओर उठाए। जागरणवादी कुछेक कवियों ने छायावादी चेतना ही को मिट्टी की ओर ले जाकर उसे हुंकार के साथ अभिव्यक्ति दी, जिनमें दिनकर प्रमुख हैं।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य भावना ने एक ओर आत्माभिव्यक्ति की पगडंडी पकड़ी, जो हमारी सड़कों के नए नामों की तरह पीछे

स्वतंत्र रूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलाई। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तर्क-वितर्कों में फँसकर एक किमाकार कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वर संगतिहीन भावनाओं को लहरियों में मुखरित उपचेतन अवचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई तथा दमित कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोकचेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गई, छायावादी शब्दों का वैचित्र्य उक्ति का वैचित्र्य और उसके शाश्वत का स्थायित्व इसमें क्षणभंगुर रँग-रलियों का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा संदेहवादिता के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य भावना केंचुओं, घोंघों, मेढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगी।

छायावादी छंदों में आत्मान्वेषण की शान्त स्निग्ध अतः स्वर संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में कोरा प्रेरणाशून्य कोमल लालित्य बनकर रह जाती है। प्रयोगवादी छंदों में सामूहिक आन्दोलन का कोलाहल तथा स्पंदन कंपन है, जो अधिकतर खोखली हुंकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छंदों में एक करुणा मिश्रित नींद भरी स्वप्न मर्मर है, जो प्रायः आत्मदया में द्रवित होकर प्रणय के आँसुओं तथा उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रीति काव्य सौन्दर्य भावना प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय गीत राग और वासनामूलक।

अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहंता को। काव्य की ये तीनों धाराएँ आज की युगचेतना के ऊर्ध्व, व्यापक तथा गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं। और तीनों ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से संपृक्त हैं।

इन तीन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त आज की कविता में राष्ट्र भावना से भरी देश प्रेम की झंकारें भी मिलती हैं, जो मुख्यतः गांधीवाद से अनुप्राणित एवं प्रभावित हैं। राष्ट्रवादी कवियों में मुख्यतः सियारामशरणजी, माखनलालजी तथा सोहनलाल द्विवेदीजी हैं। प्रथम दो के स्वरों में तप और संयम है; संस्कृत रुचि, उद्बोधन तथा आह्वान है। इनकी राजनीतिक भावना में सांस्कृतिक

चेतना की उपेक्षा नहीं है। इनमें अतीत की स्वस्थ परम्पराओं के जागरण के साथ आधुनिक विश्व बंधुत्व तथा नवीन मानवता की भावना का भी समावेश है। साध्य साधन का सामंजस्य, हृदय परिवर्तन का आग्रह, लोकहित तथा अहिंसात्मक क्रान्ति का निर्देश है; साथ ही आज की समतल विचारधारा की अराजकता में ऊर्ध्व उदात्त संतुलन स्थापित करने की चेष्टा भी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद साहित्यिकों को विशेष सृजन प्रेरणा न मिल सकने के कारण इस प्रकार की कविता में आज एक प्रकार का गतिरोध सा दृष्टिगोचर होता है।

देश प्रेम के अतिरिक्त इस युग में मानवीय प्रेम की भावनाओं पर आश्रित स्त्री पुरुष संबंधी रागात्मक कविताएँ भी लिखी गई हैं, जिसके प्रतिनिधि बच्चन हैं। बच्चन ने अपने हालावाद में, प्रेम के प्रतीक को, सूफियों की तरह, यौवन के भावोन्माद के लिबास में लपेटकर प्रस्तुत किया है। उसकी यौवन की प्रेम भावना निशा निमंत्रण, आकुल अंतर तथा एकान्त संगीत में प्रच्छन्न विरह के रूप में उमड़ी है, सतरंगिणी तथा मिलन यामिनी में उन्मुक्त मिलन उल्लास के रूप में। छायावादी अशरीरी प्रेम भावना बच्चन में मानवीय वास्तविकता ग्रहण कर सकी है, पर उसमें युगीन परिष्कार का अभाव है, उसके भीतर परम्परागत मध्यवर्गीय प्रेम के हृदय का उच्छ्वसित स्पंदन है, किसी प्रकार का नवीन सौन्दर्य भावना से मंडित, संस्कृत, मानवीय निखार नहीं। उसमें नवीन सामाजिकता के भीतर स्त्री पुरुष की रागात्मक वृत्ति का नवीन सौन्दर्य में मूर्त, सुघर संतुलित रागोच्छ्वास देखने को नहीं मिलता। बच्चन का प्रणय निवेदन 'वह पगध्वनि मेरी पहचानी' से लेकर 'इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो' तक रीतिकालीन प्रणय काव्य से पृथक् होने पर भी उर्दू प्रेम काव्य की परम्परा से अनुरंजित एवं प्रभावित है। वह हृदय को स्पर्श न कर इंद्रिय संवेदनों को उकसाता है तथा बहिर्मुखी तृषा पिपासा को तृप्त करता है। स्त्री-पुरुष की संज्ञा चेतना को शुभ्र ऊँचाइयों में उठाने अथवा गहन अंतर्लीन करने में सहायक नहीं होता। बच्चन की कविता की भाषा हिन्दी काव्य भाषा की परम्परा से छन कर आई है, वह छायावादी सौन्दर्योन्मेष और कल्पना पंखों की स्वर्णिम उड़ान लेकर नहीं आई। उसमें सूक्ष्म विश्लेषण संश्लेषण की रंगच्छायाएँ नहीं मिलतीं, वह अपने उच्चस्तर पर मुहावरों में बँधी और उक्तियों से भरी होती है। उसकी इधर की प्रणय पत्रिका की रचनाएँ भी....जो विनय पत्रिका का आधुनिक संस्करण समझी जानी चाहिए....काव्य की दृष्टि से उसी परम्परागत आत्मनिवेदन की कोटि में आती हैं। उदाहरण स्वरूप....'तन के सौ सुख सौ सुविधा में मेरा

मन वनवास दिया सा' अथवा 'आज मलार कहीं तुम छेड़े, मेरे नयन भरे आते हैं।' इत्यादि।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओं के रूप में इसलिए लिया है कि मूलतः ये तीनों धाराएँ एक ही युग चेतना अथवा युग सत्य से अनुप्राणित हुई हैं। उनके रूप विन्यास, भावना सौष्ठव में कोई विशेष अंतर नहीं और उनका विचार दर्शन भी धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आ रहा है। ये तीनों धाराएं एक दूसरे की पूरक हैं। आज के युद्ध जर्जर युग में हम एक नवीन संतुलन चाहते हैं। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओं में नवीन समन्वय चाहते हैं, अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते हैं। अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोकजीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) में नया सामंजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूलगत आकांक्षाएँ आज हमारे साहित्य मे विभिन्न अनुरंजनाओं तथा अतिरंजनाओं के साथ अभिव्यक्ति पा रही हैं।

अपने युग की महत् चेतना से, एक छोटे से साहित्यजीवी के रूप में, मैं भी अपने ढंग से अनुप्राणित एवं प्रभावित हुआ हूँ। इसके चढ़ाव उतार में मेरी भी छोटी सी तुच्छ देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी महान् कवियों के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का भी मैं प्रशंसक तथा समर्थक रहा हूँ। अपनी काव्य साधना में मैंने संत कवियों तथा डा० टैगोर से अनुप्राणित छायावाद की आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता की अंतश्चेतना को नवीन लोकचेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है। मैं अपने युग की चेतना में छाए हुए अंधविश्वासों तथा निरर्थक रूढ़ि रीतियों के प्रेतों से लड़ा हूँ। मैंने विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा जातियों वर्गों में बंटे हुए लोगों को अपनी काव्य चेतना के प्रांगण में आमंत्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। मैंने आध्यात्मिक तथा भौतिक अतिरंजनाओं का विरोध किया है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोक कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक दूसरे के पूरक की तरह, संयोजित करना चाहा है। युगवाणी से लेकर स्वर्ण किरण तक मैंने जीवन की बहिरंतर मान्यताओं को सामंजस्य के ताने बानों में गूंथकर नवीन मानवता के सांस्कृतिक पट को शब्द ग्रथित करने का

विनम्र प्रयत्न किया है। अपने प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है। उसे नवीन रागात्मक संवेदनाओं, नवीन आदर्शों के स्पंदन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कलापक्ष में मैंने अपनी युगचेतना को नवीन सौन्दर्य का लिबास पहनाने का प्रयत्न किया है, जिस सबमें मुझे अवश्य ही सफलता नहीं मिल सकी है और जिसकी चर्चा करना मुझे केवल आत्मश्लाघा प्रतीत हो रही है। भविष्य में यदि मैं कभी अपने मन की पुण्य इच्छाओं तथा स्वप्न संभावनाओं को सापेक्षतः परिपूर्ण काव्यकृति का रूप दे सका, तो मैं अपनी साहित्यिक साधना को सफल समझूँगा।

रामवृक्ष वेनीपुरी
[सन् १९०२—६८]

गेहू बनाम गुलाब

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाव सूंघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होवा है।

गेहूँ वड़ा या गुलाव ? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस ? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस ?

जव मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये, क्या पीये ? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाए उससे !

गेहूँ—उसकी भूख का काफिला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है ! गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ !

मैदान जोते जा रहे हैं, वाग उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए ! वेचारा गुलाव—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है ! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक प्रवृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दवा रखा है।

*　　　*　　　*　　　*

किन्तु; चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर ? मानव को मानव वनाया गुलाव ने ! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी !

यही नहीं; जव उसके पेट में भूख खावँ-खावँ कर रही थी, तव भी उसकी आँखें गुलाव पर टँगी थीं, टँकी थीं।

उसका प्रथम संगीत निकला, जव उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ। उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की वनायी तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा

जा रहा था, तब उसके छप-छप में उसने ताल पाया, तराने छोड़े ! बाँस से उसने लाठी ही नहीं बनाई, वंशी भी बजाई !

रात का काला घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्‌वसित हुआ सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी; बल्कि वह आनन्दविभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः-शनैः प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस कणों से ! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौन्दर्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया; इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रङ्गों में रँग दिया !

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है, हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर ! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं हैं ! जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की।

गेहूँ की आवश्यकता उसे है; किन्तु उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की ! उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं !

* * * *

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का सम-तुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा !

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गाय चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरें गड़ी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं !

किन्तु धीरे-धीरे यह सम-तुलन टूटा !

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़नेवाले, थकानेवाले, उबानेवाले, नारकीय यन्त्रणाएं देनेवाले श्रम का—वह श्रम, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज का ! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी।

अब उसके सांवले ने हाथ में शंख और चक्र लिये। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश !

वह परम्परा चली आ रही है ! आज चारों ओर महाभारत है, गृहयुद्ध है—सर्वनाश है, महानाश है !

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में; गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालनकर्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर !

* * * *

चलो, पीछे मुड़ें। गेहूँ और गुलाब में हम फिर एक बार सम-तुलन स्थापित करें !

किन्तु मानव क्या पीछे मुड़ा है; मुड़ सकता है ?

वह महायात्री चलता रहा है, चलता रहेगा !

और क्या नवीन सम-तुलन चिरस्थायी हो सकेगा ? क्या इतिहास फिर दुहराकर नहीं रहेगा ?

नहीं, मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गेहूँ और गुलाब में फिर सम-तुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं !

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे !

गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर विजय ! अब नए मानव की यह नई आकांक्षा हो !

क्या यह सम्भव है ?

बिलकुल, सोलह आने सम्भव है !

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है। और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहूँत्व क्या है, हम जान गए हैं। यह गेहूँत्व उसमें आता कहाँ से है, यह भी छिपा नहीं है।

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रक्रिया से पौदों की बालियों में संगृहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं ! उन्हीं तत्वों की कमी, हमारे शरीर में, भूख नाम पाती है।

क्यों पृथ्वी की जुताई, कुड़ाई, गुड़ाई ! हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्वों को सीधे क्यों नहीं ग्रहण करें ?

यह तो अनहोनी की बात—युटोपिया, युटोपिया !

हाँ, यह अनहोनी बात, युटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक विज्ञान

संहारकाण्ड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्योंही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी !

और, विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है।

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ा भी रहा है !

कम-से-कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुएँ—हवा, पानी की तरह—इफरात हो जायँ ! बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म आदि तो निकलते ही जा रहे हैं, जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें !

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले साधनों की प्रचुरता की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है !

* * * *

प्रचुरता ? एक प्रश्नचिह्न !

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शांति दे सकती है ?

'हमारा सोने का हिन्दोस्तान'—यह गीत गाइए; किन्तु यह न भूलिए कि सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी !

राक्षसता, जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी; जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे; जो छः महीने सोती थी, जिसे दूसरों की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी।

गेहूँ बड़ा प्रबल है—बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शांत कीजिए, तो वह वासनाओं की क्षुधा जागृत कर आपको बहुत दिनों तक तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसत्व न आवे, इसके लिए क्या उपाय ?

अपनी वृत्तियों को वश में करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियों के संयमन की ओर वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करने की !

संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आये हैं। किन्तु इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं—बड़े-बड़े तपस्वियों की लम्बी-लम्बी तपस्याएँ एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गईं !

आज भी देखिए। गांधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलनेवाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं !

इसलिए उपाय एकमात्र है—वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करना !

वासनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिए !

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूं पर गुलाब की !

गेहूं के बाद गुलाब—बीच में दूसरा कोई टिकाव नहीं, ठहराव नहीं।

* * * *

गेहूं की दुनिया खत्म होने जा रही है—वह स्थूल दुनिया, जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छाई हुई है !

जो आर्थिक रूप में रक्त पीती रही; राजनीतिक रूप में रक्त की धारा बहाती रही !

अब वह दुनिया आनेवाली है, जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगे !

गुलाब की दुनिया—मानस का संसार—सांस्कृतिक जगत !

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा, जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत का नया लोक बसाएंगे !

जब गेहूं से हमारा पिण्ड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे।

गुलाब की दुनिया—रंगों की दुनिया, सुगन्धों की दुनिया ! भौंरे नाच रहे, गूंज रहे; फूलसुंघनी फुदक रही, चहक रही !

नृत्य, गीत—आनन्द, उछाह !

कहीं गन्दगी नहीं, कुरूपता नहीं। आंगन में गुलाब; खेतों में गुलाब ! गालों पर गुलाब खिल रहे; आंखों में गुलाब झांक रहा !

जब सारा मानव-जीवन रंगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा !

वह दिन कब आयगा ?

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे ? कैसी आंखें हैं आपकी ! शायद उन पर गेहूं का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वह अलौकिक, स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही !

शौक दीदार अगर है, तो नजर पैदा कर !

●

देवराज
[सन् १९०२—........]

कल्पना और वास्तविकता

पटना से प्रकाशित 'हिमालय' की चौथी पुस्तक में 'पंडितराज जगन्नाथ' शीर्षक लेख में उनका निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है :

तीरे तरुण्या वदनं सहासं
नीरे सरोजं च मिलिद्विकासम्
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा
मरन्द लुब्धालि किशोर माला ।

अर्थात् 'तीर पर तरुणी का हास-गर्भित मुख है, और जल में खिलता हुआ कमल; मकरन्द-लोभी अलि-किशोरों की कतारें उन्हें देखती हुई बावली-सी होकर कभी इधर दौड़ती है, कभी उधर ।

ऊपर का पद्य सुन्दर है, इसे संभवतः सब रसज्ञ पाठक स्वीकार करेंगे, किन्तु यह अथवा इस कोटि के पद्य प्रथम श्रेणी का काव्य कहे जा सकते हैं, इसमें सन्देह किया जा सकता है; और यह प्रश्न वैयक्तिक रुचि मात्र का नहीं है, अपितु मूल्यांकन के मानों से सम्बन्ध रखता है ।

उक्त पद्य के सौन्दर्य का उपादान क्या है ? और अन्ततः वह किस कोटि का काव्य है ? ये दोनों सम्बद्ध प्रश्न हैं । श्री जानकीवल्लभ शास्त्री (उक्त लेख के लेखक) ने पहले प्रश्न के समाधान में दो-तीन बातें कही हैं । प्रथमतः उक्त पद्य में 'सन्देह' अलंकार है, 'कमल और मुखड़े में कौन-सा सही कमल है, इसे भौंरा झटपट भाँप नहीं पा रहा है ।' दूसरे, पद्य में कमल और मुख की समानता व्यंग्य है, अतः श्रेष्ठ काव्य की ध्वनिवादी परिभाषा के अनुसार भी उक्त पद्य सुन्दर है ।

यहाँ प्रश्न उठता है, क्या यह सत्य है कि 'अलि किशोर माला' को तरुणी के मुख और कमल में भ्रान्ति या सन्देह होता है ? इससे भी समुचित प्रश्न यह है—क्या पाठकों को भौंरों की इस भ्रान्ति का विश्वास हो जाता है ? यदि

वस्तुतः पाठकों को ऐसा विश्वास नहीं होता, तो उनकी रसानुभूति के हेतु 'सन्देह' के अभाव में मुख और कमल के सादृश्य की व्यंजना भी निरर्थक या प्रभावशून्य हो जायगी।

उक्त पद्य के सौन्दर्य के उपादानों का परम्परागत विवेचन पढ़ते समय एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है—क्या काव्य-साहित्य में मिथ्या तत्व किसी प्रकार ग्राह्य हो जाता है ? कहा जाता है कि साहित्यकार में भावनात्मक सचाई (Sincerity) होनी चाहिए। हमारा विचार है कि पंडितराज को स्वयं भी विश्वास नहीं था—उन्होंने कभी नहीं देखा था कि भौंरों को इस प्रकार की भ्रान्ति होती है; अतः मानना चाहिए कि ऊपर के पद्य में वे जानबूझकर झूठ बोल रहे हैं। और इस झूठ द्वारा न केवल वे अपनी कोई हानि नहीं करते, बल्कि अलंकार शास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ काव्य का सृजन करते हुए प्रशंसापत्र बन जाते हैं। इससे साफ निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में भावनात्मक सचाई अपेक्षित नहीं है, और वहां मिथ्या-तत्व भी कथंचित् ग्राह्य बन जाता है।

शायद आपको यह निष्कर्ष प्रिय नहीं लगता; हमें भी वह प्रिय नहीं है। हम उसे अग्राह्य या भ्रान्त भी समझते हैं। यहां हम स्पष्ट कर दें कि हमारा विवाद पंडितराज के पद्य-विशेष तक सीमित नहीं है, उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसके निपटारे के साथ संसार के आधे से अधिक अच्छे समझे जानेवाले साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न जुड़ा है। हमारे इस कथन की आंशिक परीक्षा के लिए आप संस्कृत अलंकार-शास्त्र के दर्जनों ग्रन्थों को उलट जाइए; आप पाएँगे कि उनमें शतशः पद्यों की इसी प्रकार मिथ्या-मूलक प्रशंसा की गई है। स्वयं पंडितराज को मिथ्या कल्पनाओं से विशेष प्रेम है। एक जगह गङ्गाजी के जल-स्पर्श का महिमागान करते हुए वे कहते हैं—'प्रभात में नहाती हुई नृपांगनाओं के कुच-प्रदेश में लगी हुई कस्तूरी (मृगमद) जब तक तेरे जल से छूती है, तब तक शतशः वैमानिकों से घिरे हुए (वे) मृग (जिनकी कस्तूरी लगायी गई थी) विमल-वपु होकर स्वच्छन्द स्वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं !" (मृग गण यदि गङ्गाजल का साक्षात् स्पर्श करते, तो शायद इन्द्र से भी ऊँचे उठ जाते !)

तो क्या पंडितराज की कृतियाँ नितान्त मूल्यहीन हैं ? और क्या उनका उद्धृत पद्य सुन्दर नहीं है ? हमारा उत्तर कुछ इस प्रकार होगा—पंडितराज के पद्य में सौन्दर्य अवश्य है, पर उसका उपादान मिथ्या-तत्व नहीं है। यह मिथ्यांश (अलंकार) हलके चमत्कार का, जो प्रकृत रसानुभूति से भिन्न है, कारण अवश्य है। मिथ्यांश के समावेश के कारण उक्त पद्य की गणना प्रथम श्रेणी के काव्य में नहीं हो सकती। हमारी यह दूसरी मान्यता अधिक स्पष्ट हो जायगी यदि

हम कह दें कि सामान्यतः पंडितराज की कृतियाँ—'भामिनीविलास' और 'गङ्गालहरी'—उतनी महनीय नहीं हैं, जितना कि कालिदास का 'मेघदूत'। जहाँ 'मेघदूत' उच्चतम अथवा प्रथम श्रेणी का काव्य है, वहाँ पंडितराज की कृतियाँ द्वितीय कोटि के काव्य में भी कठिनता से परिगणित हो सकती हैं।

हमारी धारणा है कि काव्य-साहित्य की शक्ति और श्रेष्ठता का एकमात्र उपादान जीवन एवं जगत की मार्मिक छवियाँ हैं। उद्धृत पद्य सुन्दर क्यों हैं? क्योंकि उसमें तीन ऐसे चित्र अथवा छवियाँ शब्दों द्वारा अंकित की गई हैं, जो मानव-हृदय में न्यूनाधिक रागात्मक स्फुरण उत्थित करती हैं; ये तीन चित्र 'तरुणी का हास-गर्भित मुख', 'खिलता हुआ कमल' और 'मकरन्द लोलुप प्रधावित अलिकिशोर माला' हैं। तीनों ही चित्र आकर्षक हैं, उनमें पहला संभवतः सबसे अधिक आकर्षक है। पद्य की कलात्मक सफलता इसमें है कि वह हमारी चित्तवृत्ति को इन तीन चित्रों में रमाए रखता है।

'चित्र' शब्द के प्रयोग से पाठक यह न समझ कि मार्मिक छवि कोई दृश्य वस्तु ही हो सकती है, मार्मिक मनोभाव का अंकन भी उतना ही प्रभावशाली होता है, जैसे तुलसी की इन पंक्तियां में—

ते पितु मातु कहो सखि कैसे।
जिन पठए बन बालक ऐसे॥

अब पंडितराज के अनूदित पद्य को लीजिए। वहाँ नृपति-रमणियों की कुच-तटी का संकेत आकस्मिक नहीं है, पंडितराज महसूस करते थे कि इस आकर्षक चित्र के बिना गङ्गाजल का स्तवन धुरी-हीन हो जायगा।

हमने ऊपर कहा कि काव्य-साहित्य में जीवन और जगत की मार्मिक छवियों का प्रकाशन होता है। हमें यह जोड़ना है कि इन छवियों को परस्पर सम्बद्ध कर देना भी आवश्यक होता है। किसी भी दशा में चित्रों का जमघट खड़ा कर देना पर्याप्त नहीं हो सकता। मनुष्य क्यों विश्व की छवियों को सम्बन्धित करके देखना चाहता है, मालूम नहीं; शायद यह उसका स्वभाव है। इस स्वभाव की सबसे प्रबल अभिव्यक्ति संसार की विभिन्न दार्शनिक व्याख्याओं में मिलती है। काव्य-साहित्य में भी रसज्ञ पाठक जीवन के मर्मचित्रों को सम्बन्ध-सूत्र में पिरोए हुए देखना चाहता है। संसार के श्रेष्ठतम कलाकार इन चित्रों या छवियों का जो सम्बद्ध रूप प्रस्तुत करते हैं, वह पाठकों को यथार्थ ही मालूम पड़ता है। महाकवियों को पढ़ते समय हमें लगता है, मानो वे जगत का यथार्थ चित्र उतार रहे हैं; जैसे वे अपनी तरफ से कुछ न कहकर, सहृदयों की अनुभूति को ही शब्दों द्वारा मूर्त बनाकर रख देते हैं। यह नहीं कि श्रेष्ठ कवि या कलाकर नव-

निर्माण नहीं करते, किन्तु वह निर्माण यथार्थ के नियमों से नियन्त्रित होता है और यथार्थ जीवन का चित्र-सा मालूम पड़ता है। रघुवंश के अज का विलाप, रामयण के भरत; लक्ष्मण, राम आदि के व्यापार हमें ऐसी ही यथार्थ घटनाएँ मालूम पड़ती हैं। इन काव्यों में पौराणिक गाथाएँ भले ही रहें, किन्तु कवि-कल्पित मिथ्या का अंश बहुत कम दिखाई पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रेष्ठ काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का विधान नहीं होता; पर वहाँ यह विधान मिथ्या तत्व को बलपूर्वक सत्य घोषित करने की धृष्टता नहीं करता। जब तुलसीदास कहते हैं—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी।
मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥

तब वे हमसे यह झूठी बात मानने को नहीं कहते कि रोष-भरी कैकेयी तरंगित नदी है, वे 'मानहु' शब्द से उसके साम्य का संकेत मात्र करते हैं। दूसरी देखने की बात यह है कि तुलसी की यह उपमा (या उत्प्रेक्षा) यत्नपूर्वक उपजाई हुई अथवा कृत्रिम, अविश्वसनीय सम्बन्ध की स्थापना करती हुई नहीं मालूम पड़ती। इसके विपरीत पंडितराज के पद्यों में जबरदस्ती कतिपय घटनाओं पर सम्बन्धारोपण करने की चेष्टा की गई है।

यह कृत्रिम सम्बन्ध-स्थापन भी हमें बुरा नहीं लगता, बल्कि कुछ अच्छा ही लगता है, इसका कारण हमारी वह चिरन्तन कमजोरी है, जो हमें सम्बन्धों की खोज में प्रवृत्त करती है। यथार्थ सम्बन्ध-सूत्र के अभाव में पाठकगण, जो स्वयं निष्क्रिय अथवा अकर्मण्य ग्रहीता की स्थिति में होते हैं, कृत्रिम लगाव की स्थापना से ही सन्तुष्ट होने की चेष्टा करते हैं। अवश्य ही कृत्रिमता और यथार्थ के दर्जे हैं; 'चन्द्रकान्ता' की अपेक्षा 'रंगभूमि' और उसकी अपेक्षा 'गोदान' अधिक यथार्थ हैं। किन्तु कुछ काल के लिए 'चन्द्रकान्ता' भी हमारा मनोविनोद करती ही है। अवश्य ही यह मनोविनोद नीची कोटि का होता है।

लोक में उस व्यक्ति को, जो सभा-समाज में बैठकर तुरन्त किसी बात का उत्तर सोच लेता है, हाजिर-जवाब अथवा विदग्ध (Witty) कहते हैं। यह विदग्धता प्रायः कृत्रिम सम्बन्धों के दर्शन या स्थापन द्वारा सम्पन्न होती है। जीवन की भाँति काव्य में भी विदग्धता पसन्द की जाती है; पर न जीवन में, न साहित्य में विदग्ध व्यक्ति की गणना मानवता के श्रेष्ठतम नेताओं में की जा सकती है। बीरबल कभी अकबर का समकक्ष नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि श्रेष्ठतम काव्य की सृष्टि के लिए विदग्ध अथवा निपुण कल्पना पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

हमने कहा कि ऊपर के श्लोक में अनुभव-जगत की वस्तुत: मार्मिक छवियों को कल्पित सम्बन्ध द्वारा जोड़ने की चेष्टा की गई है। यदि सम्बद्ध छवियाँ स्वत: मार्मिक (अर्थात् हृदय में रागात्मक स्पन्दन जगानेवाली) न होतीं, तो यह पद्य इतना सुन्दर भी न होता। पद्य में रसोद्रेक की जितनी भी क्षमता है, वह वस्तुत: मार्मिक चित्रों के समावेश से आयी है; उसमें पाया जानेवाला कृत्रिम सम्बन्ध-सूत्र मात्र बुद्धि को चमत्कृत कर सकता है।

अवश्य ही कालिदास, सूर, तुलसी आदि में उस शक्ति की कमी है, जिसे हम विदग्ध कल्पना कह आये हैं; अथवा यों कहिए कि वे इस प्रकार की कल्पना का उपयोग नहीं करते या बहुत कम करते हैं। इसका तीव्र अनुभव आप 'रघुवंश' और 'शिशुपाल वध' के प्रथम सर्गों तथा रामायण के 'अयोध्याकाण्ड' को पढ़कर कर सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उक्त कवियों में वांछनीय कल्पना-शक्ति का अभाव है। तथ्य यह है कि उनकी कल्पना कृत्रिम संबंधों और आरोपों की सृष्टि में न लगकर अनुभव-जगत से उठायी हुई वस्तुत: मार्मिक छवियों के मार्मिक संगठन में प्रवृत्त होती है। मर्म छवियों का ऐसा संगठन 'सिर उछाल उछालकर' अपना अस्तित्व घोषित नहीं करता; वह पाठकों को यथार्थ जगत का अंग या चित्र ही मालूम पड़ता है। अज-विलाप के सबसे प्रसिद्ध पद्यों में कालिदास ने प्रेमी पति के दृष्टि-बिन्दु पर खड़े होकर उन अनेक गहरे अभावों को एकत्र चित्रित कर दिया है, जो प्रियतमा के मरने से जीवन को घेर लेते हैं, वहाँ उनकी वाणी में किसी प्रकार की वक्रता नहीं है—

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सव:
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे !
गृहिणी सचिव: सखी मिथ: प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्नमे हृतम् ।

'मेरा धैर्य या प्रतीति जाती रही, मेरी क्रीड़ा समाप्त हो गई, गायन-वादन बन्द हो गया, ऋतुएँ उत्सवहीन हो गईं; अब मेरे लिए सुन्दर वस्त्राभूषणों का कोई प्रयोजन नहीं रहा; मेरी शय्या सूनी हो गई। मेरी गृहिणी, मेरी सचिव, मित्र, ललित कलाओं की प्रिय शिष्या—निष्करुण मृत्यु ने तुझे छीनकर मेरा क्या नहीं छीन लिया !'

परिशून्यं शयनीयमद्य मे—अब मेरी शय्या सूनी हो गई—गहन करुणा जगानेवाली इस पंक्ति पर विदग्ध प्रतिभा की हजार उक्तियाँ न्योछावर हैं ! ऐसी ही मीरा की तड़पनेवाली पंक्ति है—

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय !

मर्म छवियों का मार्मिक संगठन उच्चतम काव्य को जन्म देता है। उनके निपुण अथच कृत्रिम संगठन से द्वितीय श्रेणी की कला-सृष्टि होती है; तृतीय श्रेणी का काव्य वह है, जिसमें विदग्ध कल्पना अमार्मिक चित्रों का निपुण संगठन प्रस्तुत करती है। जब रवीन्द्रनाथ प्रश्न करते हैं—The sleep that flits on baby's eyes—does any body know from where it comes? (अर्थात् 'शिशु की आँखों पर मँडराती हुई नींद—कोई जानता है, वह कहाँ से आती है?) तब वे एक प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं, क्योंकि वे हमारा ध्यान एक सर्वानुभूत सौन्दर्य की ओर आकृष्ट कर रहे हैं—सोते बालक की मुखच्छवि प्रत्येक सहृदय को प्यारी लगती है; पर जब वे इस नींद के एक कृत्रिम, निराले उद्गम का निर्देश करने लगते हैं, तो उनकी कला दूसरे धरातल पर उतर आती है—

Yes, there is a rumour that it has its dwelling where, in the fairy village among shadows of the forest dimly lit with glow-worms, there hang too timid buds of enchantment. From these it comes to kiss the baby's eyes.

विदग्ध कल्पना का यह उत्कृष्ट उदाहरण है, पर यह उच्चतम काव्य से उतना ही, और उसी लिए निकृष्ट है जितना कि, और जिस लिए, स्वप्न से जागरण, कल्पना से उपभोग। आगे शिशु की मुसकान के सम्बन्ध में वैसा ही प्रश्न करके रवि बाबू कहते हैं—

Yes there is a rumour that a young pale beam of a crescent moon touched the edge of a vanishing autumn cloud, and there the smile was first born in the dream of a dew-washed morning—the smile that flickers on baby's lips when he sleeps.

इस काव्य खण्ड की अन्तिम पंक्ति की—मुसकराहट जो सोते हुए शिशु के अधरों पर खेलती है—हमें सबसे सुन्दर लगती है। संभवतः संसार के सब माता-पिताओं ने इसका मूक-मधुर अनुभव किया होगा। किन्तु कवि ने जो इस मुसकराहट का शरदभ्र-कोर को छूनेवाली चन्द्र-किरण तथा हिम-क्लिन्न प्रभात के स्वप्न से सम्बन्ध जोड़ा है, वह सामान्य अनुभव से बाहर की वस्तु है।[1] प्रश्न यह है कि कल्पना से इतना आयास कराने पर भी क्या रवि बाबू उससे अधिक

---

१ रवीन्द्र के गीत में पहले पद्य या पैराग्राफ से दूसरा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें निबद्ध शिशुच्छवि अधिक आकर्षक है। शिशु की स्मिति-संबंधिनी प्रतीति सचमुच नितान्त सुकुमार और नवीन है।

सुन्दर चित्र उपस्थित कर पाए हैं, जो कि सूर की इन सीधी-सादी पंक्तियों से सामने आ जाता है :

> सोभित सुकपोल अधर अल्प-अल्प दसना
> किलकि-किलकि बैन कहत मोहन मृदु रसना

सूर की पंक्तियों में सौन्दर्य पुंजीभूत और सुलभ है; रवीन्द्र की कविता में वह बिखरा हुआ है और उसे देखने के लिए कल्पना का व्यायाम अपेक्षित है। सूर की पंक्तियाँ हमारा ध्यान सीधे सौन्दर्य के मुख्य केन्द्र तक ले जाती हैं, इसके विपरीत रवीन्द्र की कविता हमें इधर-उधर घुमाने के बाद फिर केन्द्र पर वापस लाती है। इस यात्रा द्वारा हम कुछ अन्य सुन्दर चीजों को भी देख लेते हैं; पर वे मूल चित्र का सौंदर्य बढ़ाने में—उस सौंदर्य को अधिक आकर्षक बनाने में—सहायक होती हैं, इसमें सन्देह है। सूर की पंक्तियों का हम चुपचाप रस लेते हैं—वे हमारे अन्तस् को अनिर्वाच्य रूप-माधुरी में लीन कर देती हैं—इसके विपरीत रवीन्द्र की कल्पनाएँ हमसे दाद माँगती प्रतीत होती हैं। दोनों का एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ सूर की दो पंक्तियाँ शिशु की अनेक यथार्थ छवियों से रागात्मक संबंध जोड़ने में समर्थ होती हैं, वहाँ रवीन्द्र का काव्य-खण्ड केवल एक ही छवि हमारे सामने लाता है, अर्थात् सोते शिशु के अधरों पर खेलती मुसकराहट। सूर ने सचमुच दो पंक्तियों में शिशु का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित कर दिया है—सुकपोल अधर अल्प-अल्प दसना, किलकि किलकि बैन कहत मोहन मृदु रसना। रवीन्द्र ने भी अनेक चित्र खड़े किए हैं, पर वे सब बालक से संबंध नहीं रखते। जहाँ सूर के विभिन्न चित्र स्वभावतः संबद्ध है, वहाँ रविबाबू के चन्द्रकिरण, शरदभ्र आदि चित्र प्रगल्भ कल्पना द्वारा एकत्रित एवं सम्बद्ध कर दिये गए हैं।

यहाँ पाठक यह न समझें कि हम रवीन्द्र के अलंकार-विधान अथवा मुसकराहट के कारण-निर्देश की शिकायत कर रहे हैं। शिकायत हमें इस बात से है कि उनकी कल्पना प्रकृत अनुभूति का कुछ अधिक अतिक्रम कर गई है। अवश्य ही रवीन्द्र की चमत्कारोक्ति के मूल में प्रकृत प्रेरणा या अनुभूति है; उस अनुभूति का विषय अनुभव-जगत की दो सुन्दर स्थितियों (Entities) (अवस्था-विशेष में दीखनेवाली चन्द्रकिरण और सोते शिशु की स्मिति) का सादृश्य है। इस सादृश्यानुभूति को एक सीधी, सहज उपमा द्वारा व्यक्त किया जा सकता था; यह भी कहा जा सकता है कि वह किरण ही स्मिति रूप में परिणत हो गई है। उस दशा में शायद, पाठक का चित्त रसानुभूति से हट कर आलंकारिक नूतनता में इतना नहीं फँसता। किन्तु ऐसा न करके रवि

बाबू अपनी प्रेरणात्मक (Inspired) प्रतीति को बड़े सचेतन भाव से सजाकर रखने के लोभ में पड़ गए हैं। इसी लिए उनकी उक्ति प्रयास-गठित मालूम पड़ती है और उसमें स्वतः स्फूर्त काव्य की अनिवार्यता का अभाव है। इसके विपरीत सूर की पंक्तियाँ सहज-उत्कृष्ट मालूम पड़ती हैं। ऐसा ही तुलसी का निम्न अवतरण भी है; उसकी उपमाएँ हमें भावानुभूति से अलग होकर आकर्षित नहीं करतीं—

सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू
ससि कर छुअत विकल जनु कोकू।
गयउ सहम नहि कछु कह आवा
जनु सचान बन झपटेउ लावा।
बिवरन भयउ निपट नरपालू
दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।

दशरथ का वर्णन करनेवाली ये पंक्तियाँ हमसे उर्दू-काव्य की भाँति दाद नहीं माँगतीं, वे केवल हमारे हृदय में एक मर्म-चित्र उतार देती हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसा ही काव्य उच्चतम कला कहलाने का अधिकारी है। ऐसे काव्य को गठित करनेवाली कल्पना को हम यथार्थ कल्पना कह सकते हैं। महाकवियों की वाणी अपने अंग-प्रत्यङ्ग के निर्माण के लिए मानवता के वास्तविक अनुभव-जगत से उपादान ग्रहण करती है, इसी लिए वह जीवन की भाँति सर्व-ग्राह्य और गम्भीर होती है। काव्य-साहित्य का उद्देश्य मानव-हृदय में जीवन के मूल्यों के प्रति गहरी प्रतिक्रिया जगाकर उसे अधिक गंभीर रूप में जीवन्त बनाना है, मात्र मनोरंजन करना नहीं।

विश्व-साहित्य में सदैव से वे ही लेखक महान् कलाकार कहलाते रहे हैं, जिनका जीवन के राग-विरागों एवं उनकी परिस्थितियों से विस्तृत तथा गहरा परिचय था। वाल्मीकि और होमर, तुलसी और दान्ते, कालिदास और शेक्स-पियर तथा आधुनिक काल में टॉलसटॉय और दास्तायवस्की ऐसे ही कलाकार हैं। किन्तु जीवन का विस्तृत परिचय गहरी समवेदना और व्यापक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है, और उन्हें प्राप्त करने के लिए जिस दीर्घ साधना की जरूरत है, उसे विरले ही अनुष्ठित कर सकते हैं। इसके विपरीत कल्पना की कलाबाजी को साधना की अपेक्षा नहीं; थोड़ी-सी विदग्धता उसके लिए पर्याप्त संबल है।

दुःख की बात है कि गत दो दशाब्दों में हिन्दी कविता सूर और तुलसी के दिखाए हुए जीवनानुमोदित राजमार्ग को छोड़कर कल्पना की कुटिल

पगडंडियों में बहती-उलझती रही है। यही कारण है कि उसमें उष्णता और प्राणवत्ता की इतनी कमी है। जन-जागृति के इस युग में अब यह और भी आवश्यक हो गया है कि हमारे कविगण जीवन और साहित्य के निकट सम्बन्ध को समझें और अपनी वाणी को चित्र-विचित्र कल्पनाओं की क्रीड़ास्थली न बन जाने दें। इस सम्बन्ध में वे आलोचक भी कम दोषी नहीं हैं, जो युग-युग में अतिशयोक्तियों और वक्रोक्तियों की प्रशंसा करते हुए हवाई कल्पना-सृष्टि को पनपने का अवसर देते रहे हैं। (जनवरी, १९४७)

अतिरिक्त टिप्पणियां

उक्त लेख में जो स्थापना की गई है, वह इन निबन्धों की केन्द्रगत मान्यता है। हमारे साहित्यिक विकास की इस भूमिका में वह एक क्रान्तिकारी धारणा भी मालूम पड़ सकती है। रवीन्द्र जैसे मान्य कलाकारों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत परंपरा-विरोधी मत प्रकट करने के कारण उक्त निबन्ध कुछ भ्रान्तियों को भी जन्म दे सकता है। कुछ लोग शायद यह भी समझें कि निबन्धगत निर्णय क्षणिक आवेश अथवा निराली बात कहने के उत्साह में आकर दे दिये गए हैं।

निबन्ध की कमजोरी यह है कि वह दो-चार उद्धरणों के विश्लेषण द्वारा अपना मन्तव्य स्थापित करना चाहता है। वास्तव में तद्गत मान्यता या मान्यताएँ साहित्यिक इतिहास की विस्तृत पीठिका में ही आँकी या परीक्षित की जा सकती हैं।

उदाहरण के लिए पंडितराज के उद्धृत पद्य के विश्लेषण में गलती भी संभव है और उस विश्लेषण के लिए सहानुभूति प्राप्त करना भी कठिन है, पर यह निर्णय अपेक्षाकृत अधिक सरलता से ग्राह्य होगा कि 'भामिनी विलास' अथवा 'गंगालहरी' की अपेक्षा 'मेघदूत' महत्तर काव्य है। इसी प्रकार विशिष्ट पद्यों के तुलनात्मक निर्णय की अपेक्षा यह देखना (हमारी समझ में) अधिक आसान है कि सूर का बाल-वर्णन रवीन्द्र के बाल-काव्य से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

यहाँ हम पाठकों को सूचित करें कि अंग्रेज आलोचक टाम्सन ने अपनी रवीन्द्र-विषयक वृहत् पुस्तक में उन्हें कीट्स आदि की श्रेणी का कलाकार कहा है, मिल्टन और शेक्सपियर की कोटि का नहीं। Quest of Beauty नामक पुस्तिका के बंगाली लेखक को भी यह मानना पड़ा है कि रवीन्द्र उच्चतम कोटि के कवि, अर्थात् शेक्सपियर और गेटे के समकक्ष, नहीं हैं।

रवीन्द्र की एक बड़ी कमी यह है कि वे अपनी अनुभूतियों को प्रायः पुंजीभूत रूप में व्यक्त नहीं कर सके। एक-एक चित्र को लेकर वे लम्बी उड़ानें भरने लगते हैं। उनके काव्य में चमत्कार है, चित्रों की क्रीड़ा है, पर दृढ़ संगठन

और ओज की कमी है। शब्दों के सम्बन्ध में वे मितव्ययी भी नहीं हैं। सशक्त चित्र, दृढ़ता एवं सघन भाव-योजना उनमें कहीं-कहीं ही पाई जाती है, जैसे "उर्वशी" में। उनकी गद्य-कृतियों में भी नियोजित विचारों की विरलता विवेकशील पाठकों को खलती है।

'गीताञ्जलि' की जिस कविता से ऊपर दो उद्धरण लिये गए हैं, उसमें कुल मिलाकर बीस से अधिक पंक्तियाँ हैं। इतनी पंक्तियों में सघन भावयोजना का अभ्यस्त कवि कितना विपुल सौंदर्य-चित्र खड़ा कर सकता है, इसका अनुमान निम्न अवतरणों से हो सकेगा :

(१) साँवरो मनमोहन भाई

देख सखी बन ते ब्रज आवत सुन्दर नन्दकुमार कन्हाई।
मोर-पंख सिर मुकुट बिराजत, मुख मुरली धुनि सुभग सुहाई
कुंडल लोल, कपोलनि की छवि, मधुरी बोलनि बरनि न जाई।
लोचन ललित, ललाट भृकुटि बिच तकि मृगमद की रेख बनाई
मनु मरजाद उलंघि अधिक बल उमँगि चली अति सुन्दरताई।
कुंचित केस सुदेश कमल पर मनु मधुपनि-माला पहराई
मंद-मंद मुसकानि मनौ घन दामिनि दुर-दुर देत दिखाई।
सोभित दूर निकट नासा के अनुपम अधरनि की अरुनाई
मनु सुक सुरंग बिलोकि बिंब-फल चाखन कारन चोंच चलाई।

(२) नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम
लाजहिं तन सोभा निरख कोटि कोटि सत काम।

सरद मयंक बदन छबि सींवा, चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा।
अधर अरुन रद सुन्दर नासा, बिधु कर निकर बिनिन्दक हासा।
नव अंबुज अंबक छबि ऐसी, चितवनि ललित भावती जी की।
भृकुटि मनोज-चाप छबिहारी, तिलक ललाट पटल दुतिकारी।
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा, कुटिल केस जनु मधुप समाजा।
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला, पदिक हार भूषन मनिजाला।
केहरि कंधर चारु जनेऊ, बाहु बिभूषन सुन्दर तेऊ।
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा, कटि निषंग कर सर कोदंडा।

तड़ित-विनिन्दक पीतपट उदर रेख बर तीन
नाभि मनोहर लेत जनु जमुन भँवर छवि छीन।

(रामचरित मानस—बालकाण्ड)

हमारी मान्यता के अनुसार महाकवि अथवा प्रथम श्रेणी का कलाकार

कहलाने का अधिकारी वही हो सकता है, जिसकी यथार्थ-विषयक दृष्टि अपार-अपरिमित जान पड़ती है, जिसकी वाणी में जीवनानुभूति का समुद्र लहराता प्रतीत होता है।

काव्य में चमत्कार

काव्य-साहित्य में चमत्कार की सृष्टि बुद्धि या प्रतिभा के प्रकाशन द्वारा होती है। चमत्कार का ही दूसरा नाम वाणी की विदग्धता अथवा उक्तिवैचित्र्य है। यमक, श्लेष आदि अलंकार लेखक के शब्द प्रयोग-विषयक चातुर्य का प्रमाण देते हैं। अतिशयोक्ति (अतिरंजित प्रशंसा के लिए), व्याजनिन्दा अथवा व्याजस्तुति भी वैसी ही प्रतिभा को प्रकट करते हैं। अलंकारों का दूसरा काम वस्तु-चेतना को विशद बनाना है। (देखिए, 'अलंकार और ध्वनि' पर वक्तव्य)। 'वक्रोक्ति-जीवित' का सिद्धान्त इस तथ्य या अनुभूति पर आधारित है कि साहित्य में विदग्धता-मूलक चमत्कार की उपस्थिति सहृदयों को रुचती है!

प्रतिभा-मूलक चमत्कार की भी कोटियाँ हैं, उसका समावेश प्रकृत भी हो सकता है और अप्रकृत या अस्वाभाविक भी। जीवन में प्रतिभा या बुद्धि प्रयोजन-सिद्धि का अस्त्र है; उसका काम लक्ष्य-प्राप्ति के नूतन उपायों को खोज लेना है। रीतिकाव्य के प्रेमी नायक रूठी हुई मानवती अथवा खंडिता नायिका को मनाने के लिए तरह-तरह की चाटूक्तियाँ करते हैं—विविध अतिशयोक्तियों द्वारा नायिका की प्रशंसा करके उसे अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रतिभा या बुद्धि का प्रकृत उपयोग है। श्रेष्ठ काव्य में प्रतिभा का उपयोग किसी मनोरम प्रयोजन की पूर्ति के लिए कराया जाता है। उदाहरण के लिए "शाकुन्तल" में सखियाँ बहाना करके दुष्यन्त और शकुन्तला को अकेले छोड़ जाती हैं।

विदग्धता का दूसरा प्रकृत उपयोग परिहास में होता है; जैसे, राम को तल्लीनता से देखती हुई सीता के प्रति सखी की प्रसिद्ध उक्ति—पुनि आउब एहि बिरियाँ काली—में। ऐसा ही परिहास सुनन्दा ने अज में आसक्त इन्दुमती से—आर्ये अब अन्य ओर चलें? (आर्ये व्रजामोऽन्यतः)—कह कर किया है।

प्रतिभा-मूलक विदग्धता का ऐसा उपयोग साहित्य का शृङ्गार है।

यमक, श्लेष आदि के विधान मे उक्ति-चातुर्य या विदग्धता का अप्रकृत उपयोग होता है। नायिका को मना लेना एक मनोज्ञ प्रयोजन है; व्याकरण के रूपों (भट्टि काव्य) अथवा द्व्यर्थक या अनेकार्थक शब्दों की जानकारी का प्रगल्भ परिचय देना (कादम्बरी, राघवपाण्डवीया) वैसा सरस प्रयोजन नहीं है। विदग्ध पात्र या पात्रों की सृष्टि प्रतिभा का प्रकृत उपयोग है; वस्तु-वर्णन में

पद-पद पर कलाकार का अपनी विदग्धता प्रदर्शित करते चलना अपेक्षाकृत हलकी रुचि का द्योतक है।

सूरदास ने 'भ्रमर गीत' में गोपियों की विदग्धता का प्रकाशन किया है, और बाल-वर्णन में यथास्थान कृष्ण की चतुराई का। शिशु कृष्ण का वर्णन करते समय अपनी विदग्धता का प्रदर्शन उन्होंने नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने विभिन्न परिस्थितियों में कृष्ण के सजीव मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किए हैं।

वस्तु-चेतना को विशद बनानेवाले अलंकार भी कभी-कभी चमत्कारपूर्ण लगते हैं, पर यह चमत्कार भिन्न कोटि का होता है। वह हममें 'वाह' की प्रतिक्रिया नहीं जगाता, जैसा कि विदग्धता-मूलक चमत्कार करता है। 'खूब कहा है' यह प्रतिक्रिया विदग्ध उक्ति के प्रति होती है, वस्तु से हटाकर वह हमारा ध्यान वक्ता की ओर आकृष्ट करती है। इसके विपरीत चेतना-विकासी अलंकार हमारा ध्यान वस्तु-चित्र पर संलग्न रखते हैं।

प्रायः महाकवि हमारे मन को प्रस्तुत सामग्री में रमाते हैं। अन्य कवि ही विदग्धता का विशेष प्रदर्शन करते हैं। निम्न वन्दना-श्लोकों की तुलना कीजिए :—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये,
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।

(कालिदास)

और

भ्रमरीकवरीभारभ्रमरीमुखरीकृतम्,
दूरीकरोतु दुरितं गौरीचरणपङ्कजम्।

(कुवलयानन्द)

अथवा

परस्पर तपःसंपत्फलायितपरस्परौ,
प्रपंच माता पितरौ प्राञ्चौ जायापतीस्तुमः।

(वही)

* * * *

शायद लेख में पंडितराज के उद्धृत पद्य के साथ पूरा न्याय नहीं किया गया है। उसे बार-बार पढ़ना प्रिय लगता है। बात यह है कि मकरन्दलोभी अलि किशोर माला का इधर-उधर दौड़ना वास्तव में कवि या रसज्ञ पाठक के ही तरुणीमुख-विषयक लोभ का प्रतीक है, और यह लोभ कभी तृप्त न होनेवाला लोभ है।

मिथ्या तत्त्व काव्य में ग्राह्य हो जाता है—विदग्धता का परिचायक होने पर, जैसे प्रेयसी की खुशामद में। अवश्य ही विदग्धता उच्च और निम्न श्रेणी की हो सकती है। पंडितराज के पद्य में विदग्धता का समावेश तरुणी मुख-विषयक सहृदय के लोभ को प्रच्छन्न (Indirect) रूप में प्रकट करने में हुआ है। (दे० ध्वनिवाद पर वक्तव्य)।

* * * *

यदि हम प्रथम श्रेणी के कलाकारों को $अ_१$, $अ_२$, $अ_३$, की उपश्रेणियों में रक्खें, तो वाल्मीकि, व्यास, सूर, होमर, दान्ते, शेक्सपियर का स्थान $अ_१$ श्रेणी में होगा; कालिदास, तुलसी, गेटे, वर्जिल, टामसमैन आदि का $अ_२$ श्रेणी में; कीट्स्, वर्ड्स्वर्थ, रवीन्द्र, हार्डी आदि का $अ_३$ श्रेणी में। "यथार्थ की पकड़" का पैमाना इस वर्गीकरण के समझने में सहायक होगा।

$अ_१$ श्रेणी के कलाकारों में मानव-प्रकृति एवं मानव-जीवन का अपरिमित-अप्रतिहत ज्ञान पाया जाता है, साथ ही कल्पना-शक्ति में वे किसी से कम नहीं होते। $अ_२$ श्रेणी के कलाकार प्रायः मनोज्ञ, किन्तु सघन कल्पना सृष्टि में निपुण होते हैं—यथार्थ से गृहीत चित्रों को नए ढंग से संजोकर प्रभाव उत्पन्न करना उनका लक्ष्य रहता है। $अ_३$ श्रेणी के कलाकारों का प्रायः यथार्थ के कुछ अंगों से ही घना परिचय रहता है।

कल्पना द्वारा मनोज्ञ सृष्टि खड़ी करना—ऐसी सृष्टि, जिसमें से कुरूपता को यथाशक्ति बहिष्कृत या गौण कर दिया गया हो, मनुष्य को प्रिय है। शायद यह पलायन की भावना मानव-स्वभाव का अनिवार्य तत्व है, जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है; अर्थात् यथार्थ की अपूर्णता और उससे उत्पन्न मानव असन्तोष की। संभव है, वह ऐसी संभावना की वास्तविकता का प्रमाण हो, जिसे चरितार्थ करके मनुष्य सचमुच असौंदर्य से ऊपर उठ सकेगा और पूर्ण बन जायगा।

वासुदेवशरण अग्रवाल
[सन् १९०४—६७]

संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति की प्रवृत्ति महाफल देनेवाली होती है। सांस्कृतिक कार्य के छोटे से बीज से बहुत फल देनेवाला बड़ा वृक्ष बन जाता है। सांस्कृतिक कार्य कल्पवृक्ष की तरह फलदायी होते हैं। अपने ही जीवन की उन्नति, विकास और आनन्द के लिए हमें अपनी संस्कृति की सुध लेनी चाहिए। आर्थिक कार्यक्रम जितने आवश्यक हैं, उनसे कम महत्व संस्कृति सम्बन्धी कार्यों का नहीं है। दोनों एक ही रथ के दो पहिए हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कुशल नहीं रहती। जो उन्नत देश हैं, वे दोनों कार्य एक साथ सम्हालते हैं। वस्तुतः उन्नति करने का यही एक मार्ग है। मन को भुलाकर केवल शरीर की रक्षा पर्याप्त नहीं है।

संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। जब विधाता ने सृष्टि बनाई, तो पृथ्वी और आकाश के बीच विशाल अन्तराल नाना रूपों से भरने लगा। सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ, षड्ऋतु, उषा, सन्ध्या आदि अनेक प्रकार के रूप हमारे आकाश में भर गए। ये देवशिल्प थे। देवशिल्पों से प्रकृति की संस्कृति भुवनों में व्याप्त हुई। इसी प्रकार मानवी जीवन के उषाकाल की हम कल्पना करें। उसका आकाश मानवीय शिल्प के रूपों से भरता गया। इस प्रयत्न में सहस्रों वर्ष लगे। यही संस्कृति का विकास और परिवर्तन है। जितना भी जीवन का ठाट है, उसकी सृष्टि मनुष्य के मन, प्राण और शरीर के दीर्घकालीन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई है। मनुष्य-जीवन रुकता नहीं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता है। संस्कृति के रूपों का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला उसी के अंग हैं।

संसार में देश भेद से अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। उनकी संस्कृतियाँ भी

अनेक हैं। यहाँ नानात्व अनिवार्य है, वह मानवीय जीवन का झंझट नहीं, उसकी सजावट है। किन्तु देश और काल की सीमा से बँधे हुए हमारा घनिष्ठ परिचय या सम्बन्ध किसी एक संस्कृति से ही सम्भव है। वही हमारी आत्मा और मन में रमी हुई होती है और उनका संस्कार करती है। यों तो संसार में अनेक स्त्रियाँ और पुरुष हैं, पर एक जन्म में जो हमारे माता-पिता बनते हैं, उन्हीं के गुण हममें आते हैं और उन्हें ही हम अपनाते हैं। ऐसे ही संस्कृति का सम्बन्ध है, वह सच्चे अर्थों में हमारी धात्री होती है। इस दृष्टि से संस्कृति हमारे मन का मन, प्राणों का प्राण और शरीर का शरीर होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने विचारों को किसी प्रकार संकुचित कर लेते हैं। सच तो यह है कि जितना अधिक हम एक संस्कृति के मर्म को अपनाते हैं, उतने ही ऊँचे उठकर हमारा व्यक्तित्व संसार के दूसरे मनुष्यों, धर्मों, विचारधाराओं और संस्कृतियों से मिलने और उन्हें जानने के लिए समर्थ और अभिलाषी बनता है। अपने केन्द्र की उन्नति बाह्य विकास की नींव है। कहते हैं कि घर खीर तो बाहर भी खीर; घर में एकादशी तो बाहर भी सब सूना। एक संस्कृति में जब हमारी निष्ठा पक्की होती है, तो हमारे मन की परिधि विस्तृत हो जाती है, हमारी उदारता का भंडार भर जाता है। संस्कृति जीवन के लिए परम आवश्यक है। राजनीति की साधना उसका केवल एक अंग है। संस्कृति राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों को अपने में पचाकर इन दोनों से विस्तृत मानव मन को जन्म देती है। राजनीति में स्थायी रक्तसंचार केवल संस्कृति के प्रचार, ज्ञान और साधना से सम्भव है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्धन करनेवाला रस है। राजनीति के क्षेत्र में तो उसके इने-गिने पत्ते ही देखने में आते हैं। अथवा यों कहें कि राजनीति केवल पथ की साधना है, संस्कृति उस पथ का साध्य।

भारतीय राष्ट्र अब स्वतंत्र हुआ है। इसका अर्थ यह है कि हमें अपनी इच्छा के अनुसार अपना जीवन ढालने का अवसर प्राप्त हुआ है। जीवन का जो नवीन रूप हमें प्राप्त होगा, वह अकस्मात् अपने आप आ गिरनेवाला नहीं है। उसके लिए जान बूझकर निश्चित विधि से हमें प्रयत्न करना होगा। राष्ट्र संवर्धन का सबसे प्रबल कार्य संस्कृति की साधना है। उसके लिए बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना आवश्यक है। देश के प्रत्येक भाग में इस प्रकार के प्रयत्न आवश्यक हैं। इस देश की संस्कृति की धारा अति प्राचीन काल से बहती चली आई है। हम उसका सम्मान करते हैं, किन्तु उसके प्राणवंत तत्व को अपनाकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। उसका जो जड़ भाग है, उस गुरुतर बोझ को यदि हम ढोना चाहें, तो हमारी जाति में अड़चन उत्पन्न होगी। निरन्तर गति मानव

जीवन का वरदान है। व्यक्ति हो या राष्ट्र, जो एक पड़ाव पर टिक रहता है, उसका जीवन ढलने लगता है। इसलिए 'चरैवेति चरैवेति' की धुन जब तक राष्ट्र के रथ-चक्रों में गूंजती रहती है, तभी तक प्रगति और उन्नति होती है, अन्यथा प्रकाश और प्राणवायु के कपाट बन्द हो जाते हैं और जीवन रुंध जाता है। हमें जागरूक रहना चाहिए; ऐसा नहीं कि हमारा मन परकोटा खींचकर आत्मरक्षा की साध करने लगे।

पूर्व और नूतन का जहां मेल होता है, वही उच्च संस्कृति की उपजाऊ भूमि है। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में कहा गया है कि नए और पुराने ऋषि दोनों ही ज्ञानरूपी अग्नि की उपासना करते हैं। यही अमर सत्य है। कालिदास ने गुप्तकाल की स्वर्णयुगीय भावना को प्रकट करते हुए लिखा है कि जो पुराना है, वह केवल इसी कारण अच्छा नहीं माना जा सकता, और जो नया है, उसका भी इसीलिए तिरस्कार करना उचित नहीं। बुद्धिमान् दोनों को कसौटी पर कसकर किसी एक को अपनाते हैं। जो मूढ़ हैं, उनके पास घर की बुद्धि का टोटा होने के कारण वे दूसरों के भुलावे में आ जाते हैं। गुप्त-युग के ही दूसरे महान् विद्वान् श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कुछ इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किए थे—"जो पुरातन काल था, वह मर चुका। वह दूसरों का था, आज का जन यदि उसको पकड़कर बैठेगा, तो वह भी पुरातन की तरह ही मृत हो जायगा। पुराने समय के जो विचार हैं, वे तो उनके प्रकार के हैं। कौन ऐसा है, जो भली प्रकार उनकी परीक्षा किए बिना अपने मन को उधर जाने देगा।"

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्॥

अथवा "जो स्वयं विचार करने में आलसी है, वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता। जिसके मन में सही निश्चय करने की बुद्धि है, उसी के विचार प्रसन्न और साफ-सुथरे रहते हैं। जो यह सोचता है कि पहले आचार्य और धर्मगुरु जो कह गए, सब सच्चा है, उनकी सब बात सफल है और मेरी बुद्धि या विचारशक्ति टुटपुंजिया है, ऐसा बाबावाक्यं प्रमाणम् के ढंग पर सोचनेवाला मनुष्य केवल आत्महनन का मार्ग अपनाता है"—

विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा निश्चितवान् प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति॥

"मनुष्य के चरित्र मनुष्यों के कारण स्वयं मनुष्यों द्वारा ही निश्चित किए गए हैं। यदि कोई बुद्धि का आलसी या विचारों का दरिद्री बनकर हाथ में पतवार लेता है, तो वह कभी उन चरित्रों का पार नहीं पा सकता, जो अथाह हैं

और जिनका अन्त नहीं। जिस प्रकार हम अपने मन को पक्का समझते हैं, वैसे ही दूसरे का मत भी तो हो सकता है। दोनों में से किसकी बात कही जाय? इसलिए दुराग्रह को छोड़कर परीक्षा की कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को कसकर देखना चाहिए।" गुप्त-कालीन संस्कृति के ये गूंजते हुए स्वर प्रगति, उत्साह, नवीन पथ संशोधन और भारमुक्त मन की सूचना देते हैं। राष्ट्र के अर्वाचीन जीवन में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण हमें ग्रहण करना आवश्यक है। कुषाण-युग के आरम्भ की मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए महाकवि अश्वघोष ने तो यहाँ तक कहा था कि राजा और ऋषियों के उन आदर्श चरित्रों को, जिन्हें पिता अपने जीवन में पूरा नहीं कर सके थे, उनके पुत्रों ने कर दिखाया—

राज्ञाम् ऋषीणाम् चरितानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः।

नए और पुराने के संघर्ष में इस प्रकार का सुलझा हुआ और साहसपूर्ण दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। इससे प्रगति का मार्ग खुला रहता है, अन्यथा भूतकाल कंठ में पड़े खटखटे की तरह बारबार टकराकर हमारी हड्डियों को तोड़ता रहता है। भारतवर्ष जैसे देश के लिए यह और भी आवश्यक है कि वह भूतकाल की जड़पूजा में फँसकर उसी को संस्कृति का अंग न मानने लगे। भूतकाल की रूढ़ियों से ऊपर उठकर उसके नित्य अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को प्रकाश से भर देनेवाली उसकी स्फूर्ति और प्रेरणा स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए। जब कर्म की सिद्धि पर मनुष्य का ध्यान जाता है, तब वह अनेक दोषों से बच जाता है। जब कर्म से भयभीत व्यक्ति केवल विचारों की उलझन में फँस जाता है, तब वह जीवन की नई पद्धति या संस्कृति को जन्म नहीं दे पाता। अतएव आवश्यक है कि पूर्वकालीन संस्कृति के जो निर्माणकारी तत्व हैं, उन्हें लेकर हम कर्म में लगें और नई वस्तु का निर्माण करें।

इसी प्रकार भूतकाल वर्तमान का खाद बनकर भविष्य के लिए विशेष उपयोगी बनता है। भविष्य का विरोध करके पदे-पदे उससे जूझने में और उसकी गति कुंठित करने में भूतकाल का जब उपयोग किया जाता है, तब नए और पुराने के बीच एक खाई बन जाती है और समाज में दो प्रकार की विचारधाराएँ फैलकर संघर्ष को जन्म देती हैं। हमें अपने भूतकालीन साहित्य में आत्मत्याग और मानव-सेवा का आदर्श ग्रहण करना होगा। अपनी कला में से अध्यात्म भावों की प्रतिष्ठा और सौन्दर्य-विधान के अनेक रूपों और अभिप्रायों को पुनः स्वीकार करना होगा। अपने दार्शनिक विचारों में से उस दृष्टिकोण को अपनाना होगा, जो समन्वय, मेल-जोल, समवाय और संप्रीति के

जीवन-मंत्र की शिक्षा देता है, जो विश्व के भावी सम्बन्धों का एकमात्र नियामक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अपने उच्चाशयवाले धार्मिक सिद्धान्तों को मथकर उनका सार ग्रहण करना होगा। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या मतविशेष का आग्रह नहीं है। रूढ़ियाँ रुचि-भेद से भिन्न होती रही हैं और होती रहेंगी। धर्म का मथा हुआ सार है प्रयत्नपूर्वक अपने आपको ऊँचा बनाना। जीवन को उठानेवाले जो नियम हैं, वे जब आत्मा में बसने लगते हैं, तभी धर्म का सच्चा आरम्भ मानना चाहिए। साहित्य, कला, दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान् सामग्री हमें मिल सकती है, उसे नए जीवन के लिए ग्रहण करना, यही सांस्कृतिक कर्म की उचित शिक्षा और सच्ची उपयोगिता है।

●

भदन्त आनन्द कौसल्यायन
[सन् १६०५—.......]

स्वतंत्र भारत का पहला दस्ता

भारतीय रेलों की विशेषता थी—पहले, दूसरे, तीसरे दर्जे के साथ एक ड्योढ़े दर्जे का भी होना। स्वतन्त्र भारत ने उस ड्योढ़े दर्जे से मुक्ति पा ली। अगली पीढ़ियों को अब ड्योढ़े दर्जे की केवल कहानी सुनने को मिलेगी।

किन्तु, सच्ची बात दूसरी ही है। नाम ड्योढ़े दर्जे का विलीन हुआ है, वास्तव में विलीन हुआ है पुराना दूसरा दर्जा। इटारसी से होशंगाबाद दस मील है। एक्सप्रेस-गाड़ी से तीसरे दर्जे का टिकट मना है। भीड़ की भीड़ दूसरे दर्जे का टिकट लेकर भर जाती है—इस गठड़ी में क्या है? कद्दू है। इस गठड़ी में क्या है? घास है। क्या पुराने दूसरे दर्जे में आपको कभी यह दृश्य देखना नसीब हो सकता था?

हाँ, एक बात है। लम्बी यात्रा करनेवालों के लिए 'सोने' के जो दो-चार डिब्बे लगा दिये जाते हैं, और जिनमें अपना स्थान सुरक्षित कराने के लिए यात्री को साढ़े दस रु० देने होते हैं, वे डिब्बे कुछ-कुछ पुराने दूसरे दर्जे की रीस अवश्य करते हैं। उनमें भी दो भेद हैं। पुराने दूसरे दर्जों के डिब्बे और नए डिब्बे। पुराने डिब्बे कुछ खैरियत हैं, किन्तु नए डिब्बों में छः आदमियों के सोने और सामान रखने के लिए स्थान की इतनी कमी रहती है कि दिल्ली की गर्मी में तो कलकत्ते का 'ब्लैक-हाल' (काला-भवन) बिना याद आये नहीं रहता।

पिछली बार सौभाग्य से मुझे पुराना दूसरा दर्जा मिल गया। चार-पाँच दिन पहले ही मैंने अपने एक मित्र की मार्फत दिल्ली से वर्धा आने के लिए "दूसरे दर्जे" में सोने के दो स्थान—एक अपने लिए और एक अपने साथी दिनेश के लिए—सुरक्षित करा लिये थे। स्टेशन पर पहुँचने पर देखा कि उस डिब्बे में केवल हम ही दो जने हैं। जगह चार की है। तीसरा कोई नहीं। दिल्ली की गर्मी में थोड़ी खुली जगह मिल जाने से स्वाभाविक प्रसन्नता हुई।

डिब्बे में और लोग आना चाहते थे, और उनके पास टिकट भी दूसरे दर्जे

के थे, किन्तु यह 'सोने' की गाड़ी थी और उसमें बिना साढ़े दस रु० अधिक दिये स्थान सुरक्षित नहीं हो सकता था।

गाड़ी चलने लगी तो नई दिल्ली के दो-चार मुसाफिर गाड़ी में चढ़ ही गए। दो-चार ज़ोर-ज़बरदस्ती अगले कुछ स्टेशनों तक भी चले ही आए। 'सोने' का समय होने तक उस 'सोने' की गाड़ी में बैठे चलने का शायद उनका अधिकार भी था।

किन्तु रात के दस बजे के बाद दो सिपाही—जो कांस्टेबल ही नहीं, हेड-कांस्टेबल ही नहीं, शायद दारोग़ा थे—हमारे डिब्बे में चढ़े चले आए। मेरे साथी ने कहा—"यह 'सोने' की गाड़ी है। इसमें शायद आप नहीं चल सकते। अच्छा होगा कि आप गाड़ी में बैठने से पहले किसी गार्ड अथवा टिकट-बाबू से पूछ लें।"

उन्होंने उसकी एक न सुनी और उस अल्पायु लड़के को डाँट दिया। मेरी आँख खुल गई। चुप रहना मुनासिब न समझा। मैंने कहा कि लड़का ठीक तो कह रहा है।

बोले—अजी, सब पूछ लिया है!

मैं—देखिए, यह 'सोने' की गाड़ी है। जब तक साढ़े दस रु० देकर इसमें स्थान सुरक्षित न करा लिया जाय, इसमें शायद यात्रा नहीं की जा सकती।

वे—हम रोज इसी प्रकार चलते हैं। हमें सोना तो है ही नहीं। हम सोएँगे तो ड्यूटी कैसे देंगे?

मैं—यह गाड़ी ड्यूटी देनेवालों के लिए नहीं। यह सोनेवालों के लिए है। आपको कोई अधिकार नहीं कि आप किसी की नींद में विघ्न डालें।

वे—अजी, इन बातों में क्या रखा है। आप आराम से सोइए। हम आप की जगह पर तो नहीं बैठते।

मैं—इन बातों में कुछ रखा है या नहीं, इसका निर्णय अभी हो जाता है। आप मेरे साथ गार्ड के पास तक चलिए।

साधु वेश। और हिन्दी में कुछ अँगरेज़ी शब्दों की मिलावट। वे गरमा गए। बोले—आप बताइए कि इस प्रकार गार्ड के पास जाने में आपकी नींद में विघ्न नहीं पड़ेगा? आप आराम से लेटे रहिए। हम बैठे रहेंगे। हमें एक स्टेशन ही जाना है।

मैं भी नरमा गया। बोला—आप कब उतरते हैं, इसकी चिन्ता में मुझे जागते ही रहना पड़ेगा, क्योंकि दरवाजा जो बन्द करना होगा।

हुआ वही। उनमें से एक साहब ऊपर की सीट पर चढ़कर सो गए। दूसरे

मेरे साथी के पांव की ओर बैठकर ऊँघने लगे। अब उन दोनों की बजाए जागते रहने की 'ड्यूटी' मेरी हो गई।

प्रयत्न करने पर, बहुत देर करवट लेते रहने पर भी जब फिर नींद नहीं हीं आई, तो मैं उठ बैठा। देर तक यूं ही बैठा रहा। नीचे बैठे हुए सिपाही की आंख खुली। उसने मुझे जागते ही नहीं, बैठे पाया। उसके मन पर, ऐसा लगा जैसे कुछ असर हुआ। बोला—बड़ा अफसोस है कि हमारे कारण आपकी नींद खराब हुई। आप तो सोए ही नहीं।

"अभ्यास कुछ ऐसा ही है। आंख खुल जाय तो फिर जल्दी नींद नहीं आती। कमरे में रोशनी का होना और इस टूटे हुए दरवाजे की खटखट भी नींद आने में बाधक हुई।"

मैं तो जगा ही था। वह भी होशयार हो बैठा। बोला—मैं आगरा यूनिवर्सिटी का ग्रेजुएट हूँ। १९४२ में जेल गया हूँ। फिर पुलिस में भर्ती हो गया। इस डिपार्टमेंट में नया ही हूँ। हम स्वतन्त्र-भारत का का पहला दस्ता हैं।

मैंने उसकी पुलिस-ट्रेनिंग, उसके रेलवे-पास, उसकी नियुक्ति, उसकी ड्यूटी आदि के बारे में अनेक बातें पूछीं। उसने भी मुझसे साधु होने का उद्देश्य तक पूछकर छोड़ा—"आप जा कहाँ रहे हैं?"

"वर्धा।"

"वर्धा कहाँ है?"

"आप वर्धा नहीं जानते? जहाँ गांधीजी रहते रहे हैं।"

"अजी, हमने भूगोल चौथे दर्जे के बाद पढ़ा ही नहीं।"

"तो भी वर्धा तो मालूम होना चाहिए।"

"तो क्या वर्धा दक्षिण में है?"

"हाँ, यहाँ से तो दक्षिण में ही है; किन्तु दक्षिण-भारत में नहीं। वह मध्यप्रदेश में है।"

बातें करते-करते अगला स्टेशन आ गया। मैं सोच ही रहा था कि यह आगरा यूनिवर्सिटी का ग्रेजुएट है, १९४२ में जेल हो आया है, और इसे यह पता नहीं कि वर्धा कहाँ है। अच्छा है, यह स्वतन्त्र-भारत का पहला दस्ता!

तब तक वह बोला—

"देखिए जी! मैं तो यहाँ उतर जाऊँगा। यह जो ऊपर दारोगा साहब लेटे हैं, इनका परिवार पहले दर्जे में है। वह छुट्टी पर घर जा रहे हैं। झाँसी उतरेंगे। यदि आप जागते रहें और इनकी आँख न खुले तो आप जगा दीजिएगा।

देखिए ! मैंने आपको साफ़-साफ़ बता दिया है। हर क़ानून का कुछ-न-कुछ अपवाद होता है।"

अच्छा अपवाद !

वह दारोग़ा साहब स्टेशन पर उतर गए। गाड़ी चलती रही। ऊपर लेटे दारोग़ा साहब खर्राटे लेते रहे। अच्छी ड्यूटी बजा रहे थे ! झांसी स्टेशन आने को हुआ, तो उनकी भी आँख खुली। नीचे झांककर बोले—

"वह उतर गये। उन्होंने मुझे जगाया नहीं। मुझे भी उनके साथ उतरना था।"

मुझसे न रहा गया। बोला—"व्यर्थ झूठ बोलने से क्या लाभ ? आपको तो आगे जाना है। आपको यहाँ उतरना ही नहीं था।"

"मुझे बड़ा दुःख है। आप मुझे झूठा समझते हैं। मुझे यहाँ पिछले स्टेशन पर काम था।"

"खैर, कोई हर्ज नहीं, अब अगले स्टेशन पर गार्ड या टिकट-चैकर से इस बात की सफ़ाई भी हो जायगी कि आप इस डिब्बे में चल सकते थे या नहीं ?"

"अजी, वह तो सब साफ़ ही है। क़ानून के हिसाब से चलें तब तो सब मुश्किल हो जाय। क़ानून के हिसाब से कौन चल सकता है।"

"आप लोग तो कानून के पहरेदार हैं। आप ही कानून तोड़ेंगे तो पालन कौन करेगा ?"

मुझे इसकी भी चिन्ता थी कि बातचीत में कहीं अधिक कड़वाहट न आ जाय। नींद यूँ ही गँवा चुका था। कोई ऐसी-वैसी बात कहकर उसको और अपने को व्यर्थ और क्षुब्ध करना न चाहता था। बोला—"आप चिन्ता न करें। यदि कुछ देना-लेना पड़ा, तो आपको अपनी जेब से तो देना ही न पड़ेगा। देना तो आपके मुहकमे को होगा, क्योंकि आप ड्यूटी पर हैं।"

"अजी, महकमा क्या देगा !"

झांसी स्टेशन आ गया। मैंने एक टिकट-बाबू से कहा। उसने जो फ़ैसला दिया, वह 'दारोगा-साहब' के अनुकूल था। दारोगा बोला—"मुझे आज्ञा दीजिए। मेरे बाल-बच्चे प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

हाथ मिलाकर वह चलता बना।

मैंने दूसरे टिकट-बाबू से पूछा। उसका फैसला 'दारोगा' के विरुद्ध था।

तब तक 'दारोगा' जा चुका था।

आश्चर्य कि दो टिकट बाबुओं में भी आपस में मतभेद था।

हाँ, वह 'दारोगा' भी 'स्वतन्त्र-भारत' के पहले दस्ते में से एक था !

●

जैनेन्द्रकुमार
[सन् १९०५—........]

व्यक्ति और टाइप

इधर आलोचना में दो शब्द मिलने लगे हैं : 'टाइप' और 'व्यक्ति'। कहा जाता है कि इसके पात्र 'टाइप' हैं, उसके पात्र 'व्यक्ति' हैं। यह व्यक्ति और टाइप क्या ?

उपन्यास दो-एक मेरे नाम पर भी हैं। उनके पात्र टाइप हैं कि व्यक्ति ? किसी आलोचक से इस बारे में प्रकाश मिले तो मैं कृतज्ञ होऊँ, क्योंकि मैं ठीक तरह जानता नहीं हूँ। वे पात्र गर्भ में कैसे आये, किस प्रकार जनमे और जैसे जिए, वैसे किन कारणों से जिए, इस विषय में मेरे मन में आभास तो है, बोध नहीं है। जनक हूँ तो क्या, उनका जानकार मैं नहीं हूँ।

पहले एक शब्द बहुधा आता था, चरित्र। वह शब्द अब भी मिलता है, पर घिस चला है।

एक बार दिल्ली-सम्मेलन के मौके पर प्रेमचन्दजी को कुछ लोग घेरे बैठे थे। वे जिज्ञासु थे और उपन्यास के बारे में पूछ रहे थे। उनमें महिलाएँ अधिक थीं। प्रेमचन्दजी ने बताया—क्या बताया, सो मुझे ठीक याद नहीं। पर कुछ चरित्र के बारे में कहा।

तब तक एकाधिक किताब मेरी छप गई थी। लोग जानते थे कि मैं जानता हूँ। पर मैं क्या जानता था ? इससे मैंने पूछा कि बाबूजी, चरित्र क्या ?

शायद आसपास के लोग और प्रेमचन्दजी कुछ झिझके। कहीं मैं सिली सींवन उधेड़ना तो नहीं चाहता हूँ !

पर मेरी जिज्ञासा निपट थी और मैं चरित्र को समझना चाहता था। अपने पात्र में मैं चरित्र कैसे भरूँ ? समझ ही न आता था कि चरित्र के नाम पर उसमें मुझे क्या डालना होगा। पर अपनी बिवाई की पीर दूसरा कैसे जाने ? यहाँ तक कि प्रेमचन्दजी के चेहरे पर मैंने अपने प्रश्न के लिए सहानुभूति न देखी,

तो मैं कुछ पछताया। मुझसे अनौचित्य बन गया है इस भाव से, जो उन्होंने उत्तर दिया, मैं सुनता गया। पर ग्रहण नहीं कर पाया कि क्या उत्तर था।

प्रेमचन्दजी कुछ कहकर फिर उन्हीं विद्यार्थियों की ओर मुखातिब हो गए थे। और तब से मैं अब भी भटक रहा हूँ कि जानूं कि चरित्र क्या ?

लेकिन चरित्र पिछड़ा, अब तो 'टाइप' सामने आ गया। 'टाइप' और 'व्यक्ति'। हमारे विद्वान् भाई हजारीप्रसादजी इन दो बांटों से भारी-भारी बोझ तोलते हैं। रवीन्द्र के पात्र अधिक 'व्यक्ति' हैं, प्रेमचन्द के पात्र अधिक 'टाइप' हैं। याद पड़ता है कि कुछ इस आशय की बात उनकी मैंने कहीं देखी थी।

हजारी बाबू के अलावा भी इन बांटों का चलन मिलता है। आधुनिक तुला में वे खासे काम आते हैं। मेरे पात्रों की आधुनिक तौल हो, तो उस बारे में कुछ मुझे भी पता चले। पर तब तक ?

दिन हुए एक कहानी मैंने लिखी थी 'एक टाइप'। जाने किस संग्रह में वह दब गई। खोजकर उसे उघाड़ना तो नहीं चाहता, दबी है तो अच्छा ही है। सतह से ऊपर उठकर संभ्रमित प्रकाश में दिखाई देने की स्पर्द्धा रखनेवाली, सुन्दरताएँ यहाँ कम नहीं हैं। इससे कुछ चीजें जनमते ही धरती में मुंह गाड़कर सो जायँ, तो कोई बुराई नहीं। गिचपिच इससे कम होगी। सोचता हूँ कि आदमी मरते जाते हैं, यही भला है। नहीं तो कुछ बरसों में भला यहाँ सांस लेने को मिले ? ऐसे ही कहानियां अनगिनत उपजती हैं और अपनी कृपा से वे मरती भी चलती हैं। हिन्दू लोग कबर नहीं बनाते कि जगह घिरे और कोई पटिया मरे की याद को जीता रखने की नाहक कोशिश करे। वे तो भस्म करते और छुट्टी लेते हैं। जीते के लिए मुर्दे की याद का भी एक काम बढ़ाना अदया है। जीते को यों ही अनेक काम हैं। इससे मेरा 'एक टाइप' आया, वैसे चला भी जाय, यह अच्छा ही है।

पर, आप माफ कीजिएगा, कमजोरी माफ होने के लिए है। आलोचक के हाथों खेलता हुआ यह जो टाइप सामने आया है, उसे देखकर मुझे उस पुराने अपने टाइप की याद हो आई है। यह शायद कुछ और हो, वह कुछ और था। पर ठहरिए, यह कुछ और ही है, यह भी मुझे नहीं मालूम। हां, मेरा वह कुछ क्या था, सो याद करता हूँ।

वे सम्भ्रान्त इज्जतदार आदमी हैं। दुरुस्त कपड़े, दुरुस्त नीति, दुरुस्त सब कुछ। जैसे ज्यामिति के चतुर्भुज। सब समकोण, विषमकोण कहीं भी नहीं। वह खुद इतने नहीं जितने कि औसत हैं। अपने वर्ग के दूसरे आदमी जैसे काट के कपड़े, उसी तर्ज के विचार, उसी सांचे की नीति, हूबहू वही राय। शंका

उन्हें नहीं छूती। सदा राजमार्ग पर वे चलते हैं। वे वही मानते हैं, जो मानना चाहिए; वही चाहते हैं, जो चाहना चाहिए। वह अपने भीतर नहीं जायँगे। बना-बनाया बाहर क्या कुछ नहीं मिलता ? फिर अपने को व्यर्थ क्यों सताया जाय ? अपने को धुनकर और कातकर और फिर उसी तार को बुनकर अपना कपड़ा आप बनाने का आग्रह क्यों ? फिर उसे काट-सीकर अपने नीति-नियम भी स्वयं तैयार करो। यह कहाँ की बुद्धिमानी है ? भला सोचिए, मिलें इतनी खुली हैं, और वहाँ इतने लोग काम कर रहे हैं, सो क्या फिजूल ? चाहिए हमें कि उनकी मेहनत को सार्थक करें। अपना कपड़ा बनाना मिल के धंधा करनेवालों को बेकार करना है कि नहीं ? आखिर जो लोग ये स्मृति-श्रुति बना जाते हैं, सो इसीलिए तो कि हम उसे बनाने के झंझट में न पड़ें। अतः, अपने पूर्व-जन चल-चलकर जिस रास्ते को पक्का कर गए हैं, चलने के लिए वही रास्ता है। बस, हमारे टाइप बेखबर उस पर चलते चले जाते हैं। बँधी-बँधाई विधि है। एक-एक क्लास चढ़ते दसवीं तक पहुँचे; इतने में व्याह की उम्र हुई और व्याह किया और हीले से लगे। बीस, पच्चीस, तीस बरस नौकरी की। बच्चे पैदा किए और उनकी परवरिश की। लड़की को दसवीं तक लाकर दो पैसे के काम से लगाया और तेरहवाँ लगते लड़की के हाथ पीले किए। तनखाह ली और वैध रूप से ऊपर से जो और मिला, वह नतमस्तक स्वीकार किया। समझदार के लिए ऊपर की आमदनी के आगे तनखाह की क्या गिनती है। तिस पर किफायत से चले और ढंग से निवाह किया। ऐसे चौथापन आ गया। तब भगवद्भजन में चित्त लगाया। इस तरह सब शान्त भाव से इस किनारे से उस किनारे तक जिंदगी को पार किया।

इस बीच गांधी आये, सत्याग्रह मचा, उथल-पुथल हुई, जेलें भरीं और खाली हुईं और फिर भरीं। पर गर्मी में ऐसे तो काली-पीली आँधियाँ आया ही करती हैं। साबित कदम क्या हिलते हैं ? हाथी चलता है, कुत्ते भौंकते हैं। यह नहीं कि कहानी के औसत महाशय अखबार नहीं पढ़ते, या अध्यात्म में उनकी पहुँच नहीं है। जी नहीं, सो सब है। उनके बदन पर की देशी मिल की बनियाइन गांधी महात्मा के ही लिए नहीं, तो और किसके लिए है ? और अध्यात्म—उसमें तो वे गद्गद हो जाते हैं, पर राज-मार्ग नहीं छोड़ सकते। तभी चारों ओर चाहे प्रलय ही होता रहा है, पर उनकी निगाह पेन्शन की ओर एकाग्र रही है। लक्ष्यवेध का क्या यही मन्त्र नहीं है ? रेल-कम्पनी ने ही अपने नियमों से लाचार होकर उन्हें छुटकारा दिया तो दिया, वे कर्तव्यपालन को अब भी तत्पर थे। जन्म अनेक होते हैं, पर रेल-कम्पनी की सेवा का अवसर इसी जन्म में मिला

है। उससे विमुख होना क्या सेवाव्रती को शोभा देता है, ऐसे ही स्थिति-निष्ठ, निस्स्व भाव सत्पुरुष समाज की रीढ़ होते हैं। वे देखते सब हैं, पर करते कर्तव्य ही हैं। तभी तो जहाँ कच्चा मकान था, वहाँ अब पक्की ईंटों का मकान दीखता है; लड़कियाँ सब अपना कुनबा लेकर बैठी हैं, लड़के दो पैसे के हीले से लगे हैं, और सब परमात्मा की दया है।

ये हमारी उस कहानी के टाइप हैं। टाइपों में पौइंट होते हैं, जाने कै पौइंट के ये टाइप हैं। लगता है कि लोकाचार इसी टाइप पर छपकर चलन में आता है। यह टाइप निःसन्देह कम घिसता है; टिकाऊ है और पक्का है।

क्या आलोचक का टाइप भी यही है ? या कि वह कुछ और वस्तु है ?

'टाइप' क्या वही कि जिसमें चरित्र की निजता नहीं है ? और व्यक्ति वह कि जिसमें निजत्व है ? व्यक्ति औरों से भिन्न है और टाइप मिलता-जुलता है—क्या यही उनमें रहस्य या अन्तर है ?

पर वह भेद यही है और आलोचक अपनी बात से यही कुछ कहना चाहता है, इसका मुझे विश्वास कौन दिलाए ?

(२)

व्यक्ति को क्या दूसरे के विरोध में रखकर उसे अपने में विशिष्ट, स्पष्ट और पृथक् बनाना होगा ? उपन्यासकार से टाइप की जगह व्यक्ति माँगते हैं, तो क्या हम यही माँगते हैं ?

और वह पात्र, जो अपनी निजता खोकर सर्वांश में अपने शरीर में रहता है, इतना कि उसे छूना मानो उस सारी श्रेणी को छू लेना है—ऐसे टाइप का चित्रण हलकी कला समझी जायगी ?

यह समझने के लिए व्यक्ति की पृथकता अथवा समाज के साथ उसकी अभिन्नता को समझना होगा।

गहरे में जायँ तो पृथकता भ्रम है। हमारे आपके बीच में जो व्यवधान दीखता है, सच पूछा जाय तो हम दोनों का समन्वित सत्य उसी में है। यानी अपने आपमें मुझमें बन्द कुछ नहीं है, उधर खुद आपमें भी बन्द कुछ नहीं है। हम दोनों की जो परस्परता है, क्रिया-प्रतिक्रिया है, राग-विराग सम्बन्ध है—सच पूछिए तो चैतन्य की पीड़ा भी वहीं है। अर्थात् सत्य व्यक्तियों में नहीं, उनके सम्बन्धों में है, और जीवन-विज्ञान को व्यक्ति के वृत्त में नहीं, बल्कि पारस्परिकता के अनुबंध में देखना होगा।

अर्थात् व्यक्ति का बाह्य-स्वरूप, या उसका कर्म-व्यापार, बहुत अधिक सुनिश्चित और सुनिर्दिष्ट रूप में हमारे सामने आ डटता है, तो उसमें हमारी

परितृप्ति कुछ कम हो जाती है। जिसको जान लेते हैं, उसे हम प्रेम नहीं करते। इसी से उपन्यासों के जितने महान् पात्र मिलेंगे, मालूम होगा कि उन्हें हम जान नहीं पाते हैं। जानने को उनमें सदा कुछ शेष रह ही जाता है। उनकी रूप-रेखा मन के अगोचर में प्रत्यक्ष होकर भी अप्रत्यक्ष रहती है।

मानिए कि उपन्यास में एक पात्र का रूप-रंग, कपड़े-चेहरे की बनावट आदि, सब आपके सामने पूरी तरह खींचकर रख दिए जाते हैं। वह किस अन्दाज से छड़ी टेककर चलता है, यह भी आपको मालूम हो जाता है। बीच-बीच में खखारता है; रह-रहकर शायद किसी पुरानी बीमारी की वजह से आँख के पास की खाल सिकुड़ आती है और तब बाईं आँख विचित्र बन जाती है; उसका तकिया कलाम है, 'क्या समझे ?' और वह वाक्य पूरा होते-होते 'क्या समझे ?' पूछ ही बैठता है। ये सब ब्यौरे आपको मालूम हैं।

कल्पना कीजिए कि यह पात्र जब-जब आता है, तब-तब आँख के पास की उसकी सिकोड़, चाल का अमुक ढंग, उसकी खखारने की आदत, और बार-बार उसका 'क्या समझे ?' कहने का चित्र फिर-फिरकर आपके सामने प्रत्यक्ष किया जाता है। तब आपको कैसा लगेगा ?

शायद आपको अच्छा भी लगेगा। छड़ी की टिकटिक सुनते ही आपकी आंखों के आगे वह मूर्ति आ जायगी। अर्थात् उस ढंग से व्यक्ति अनायास आपका जाना-पहचाना हो जायगा और आपके बीच तकल्लुफ मुतलक न रहेगा।

पर ये बातें पात्र को व्यक्ति बनाती हैं कि टाइप ? इन आदतों से वह एकदम और सबसे अलग हो रहता है, उसका खाका ऐसे पूरा बनता है। लेकिन क्या इस तरह उसमें गहराई आती है ? और क्या उसमें किसी व्यक्तित्व का निर्माण होता है ?

अंग्रेजी का एक शब्द है, Idiosyncracy, आशय है सनक। हर एक में सनक होती है। उस सनक को लेकर हम सबका एक सस्ता चित्र झट दे सकते हैं, जिसमें वह सनक ही उस व्यक्ति की पहचान हो। कार्टून की कला का इसी भेद से विकास हुआ है। पर क्या यह भी सच नहीं है कि व्यक्तित्व को पाने के लिए उसकी Idiosyncracy की सतह से हमें नीचे उतरना होगा।

कुछ ऐसा मालूम होता है कि अगर हम आदमी की असलियत को पाना चाहते हैं, तो ऊपरी विषमताओं से, यानी रंग-रूप, रहन-सहन आदि के ब्यौरों से गहरे में जाकर उसे खोजना होगा।

इस लिहाज से जिसमें विशद आकृति वर्णन मिलता है और पात्र को मानसिक से अधिक शारीरिक अथवा सामाजिक बनाया जाता है, वहाँ वह पात्र

ओर दृष्टियों से सुनिर्दिष्ट भले हो जाय, प्रभावकारी उतना नहीं हो पाता। इतना अधिक वह जाना-पहचाना हो जाता है कि उसमें अनपहचाना कुछ न रह जाने के कारण उसके प्रति आकर्षण की अनिवार्यता भी नहीं रहती।

दूसरी ओर ऐसे पात्र, जिनका जाहरी वर्णन नहीं मिलता, आँख कैसी थी और नाक कैसी थी, अन्त तक इसका पता नहीं चलता; साड़ी रेशमी थी अथवा दूसरे तरह की थी, इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला जाता; उसकी Idiosyncracy को बहुत उभारकर नहीं पेश किया जाता। पर उन पात्रों के भीतर का मानसिक व्यापार ऐसी सघन सहानुभूति से चित्रित होता है कि हमारे मन में वह पात्र गहरा बस जाता है। हम अपने मनोनुकूल उसकी शारीरयष्टि और मुख-मुद्रा की कल्पना कर सकते हैं; मन मुताबिक सिल्क या सूत के कपड़े पहना सकते हैं। जैसे लेखक बहुत अधिक जाना-पहचाना उसे आपके निकट बनाना ही नहीं चाहता है। वह मात्र आपकी कल्पना को सचेष्ट करके उसे स्वतन्त्र छोड़ता है। वह आपके निकट कुछ रहस्यमय, दुर्बोध और तटस्थ रहकर ही तुष्ट है। ऐसा पात्र यत्किंचित् ज्ञात होकर भी आपको अज्ञेय है, और आपका होकर भी वह स्वयम् है।

महान् पात्र सब लगभग ऐसे ही होते हैं। पाठक की रुचि और कल्पना को वे बांधते नहीं, बल्कि उन्हें स्फूर्त करके मुक्त करते हैं। उनके प्रति आपमें बराबर एक चाह, एक उत्सुकता बनी रहती है। वे आपके भीतर गहरे आकर आपसे स्वतंत्र रहते हैं। मानो वे मुट्ठी में समाने के लिए नहीं हैं।

व्यक्ति की दृष्टि से ऊपर गिनाए दो पात्रों में हम किसको सम्पूर्ण और सफल कहें? एक ओर वह है कि मिलते ही जिसका सब कुछ आपके सामने आ जाता है; उसका चेहरा, उसके कपड़े, उसका रंग, उसका रूप, उसका प्रयोजन। दूसरा वह है कि जिससे मिलकर मानो यह मालूम भी नहीं होता कि आपने रूप देखे हैं, या कि रूप अथवा आकार देखा है। मानो एक साथ उस देह के भीतर जो है, और जो अगम और अवंध है, उसकी छाप आपको छूती है।

कहने में कठिनाई न होनी चाहिए कि जिसके ऊपरी रूप पर और लिबास पर ध्यान अटकता है, जहां रूप तथा परिवेश जान-बूझकर ऐसा मुखर बनाया गया है, वह चित्र उतना ही हलका है। और जहां आकार-प्रकार के सौंदर्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं, मानो वह तो निराकार की झलक झलकाने भर के लिए है, वह चरित्र उतना ही गहन है।

इस दृष्टि से आकृति और प्रकृति की अत्यधिक सुस्पष्टता मानो पात्र को पाठक के पास लाकर भी पाठक के मन से उसे दूर डाल देती है। और जहां

आकृति-प्रकृति के संबंध में कुछ भी उभारदार न बनाकर पात्र के अन्तरंग को अपनी सहजता में हम पर क्रमशः प्रस्फुटित किया जाता है, वहाँ ही मन अधिक गम्भीर होकर प्रसन्नता एवं कृतज्ञता अनुभव करता है।

तभी तो आजकल आकृति का वर्णन यदि है भी, तो रूप की नहीं, गुण की विशेषता से ही है। उसके विशेषण ही अब बदल गए हैं। आँखों को कान तक फैली कहने की जगह चपल, मृदु या तीक्ष्ण कहा जाता है अर्थात् शरीर द्वारा मानसिकता का ही अभिनंदन किया जाता है। साज-सिंगार यदि आज कम है, और उसका वर्णन और भी कम, तो इसलिए कि साज-सिंगार व्यक्तित्व का दैन्य ही प्रकट करता है।

(३)

व्यक्ति और टाइप की चर्चा में मैं नहीं जानता कि इस क्षेपक का क्या सम्बन्ध लिया जायगा। लेकिन मैं जानना चाहता हूँ कि व्यक्ति का व्यक्तित्व कहाँ है, और क्या है? और टाइप व्यक्ति से भिन्न है, तो किस कमी के कारण भिन्न है?

मुझे प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपने आपमें समाप्त और सार्थक नहीं है। इसलिए व्यक्ति-रूप में उसे दिखाकर कोई कला अपने को सफल भी नहीं मान सकती है।

आज मनोविज्ञान का दौर है। एक व्यक्ति के मन को कुएँ की भाँति लेकर उसके अँधेरे में दृष्टि गाड़कर नीचे से नीचे उतरने का प्रयास किया जाता है। समझा जाता होगा कि ऐसी मनोवैज्ञानिक रचनाएँ टाइप नहीं, व्यक्ति देती हैं। मुझे तो ऐसी मनोवैज्ञानिक रचनाओं की तुक समझ में नहीं आती। अपनी खातिर मन की गुत्थियों का खोलना अध्यवसाय है कि व्यसन? असल से बचकर नकल में जी बहलाने का-सा वह काम है। गोरख-धन्धा ले लीजिए और वक्त को मारे जाइए। मुझे रचनाओं में मनोविज्ञान की यह उपासना अपने बच्चे के अँगूठे चूसने जैसी लगती है। यह तो अपने मुँह में अपनी जीभ मोड़ लेना है। मन की उलझन खोले जाइए, खोले जाइए, पर मन से कोई काम लेने का इरादा हो, तब तो उलझन शायद कुछ खुले। वैसा कुछ लक्ष्य पास नहीं है, तो उलझन शायद ही तनिक खुले। वैसा कुछ लक्ष्य पास नहीं है, तो उलझन खुलेगी कैसे, और खुलकर होगा क्या? एक बार हाथ का गोरखधंधा खुल गया। पर यह तो बड़ी बुरी बात हुई। अब मेरी चेष्टा थी कि वह गोरख-धंधा पहले की तरह फँस जाय, ताकि उसके खोलने की कोशिश में कुछ वक्त कटे। मनोविज्ञान को साध्य बनाकर चलने में यही खतरा है। उपन्यास मनोविज्ञान का बंधुआ नहीं है। मनोविज्ञान उसके पीछे लगा चले, यह दूसरी बात है;

उपन्यास का लक्ष्य ऊँचा है। जीवन को स्फूर्ति देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाना उसका काम है और यदि जीवन के भीतरी भेदों को सुलझाने का उसमें प्रयास है, तो इसीलिए कि जीवन अपनी जकड़ से छूटे और ऊपर उठने में समर्थ हो।

व्यक्ति की नाना भावनाओं को कुरेद और खोलकर एक-एक कर आगे बिछा देने से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है—यह मैं नहीं मानता। आदमी को चीरकर उसकी रगें खोलने से आत्मा का सार नहीं मिलता। ऐसे उस आत्मा के न मिलने, अतः उसमें अविश्वस्त होने की सम्भावना अवश्य होती है। बुद्धि के तीखे नखों से पात्र के मन की चीर-फाड़ से कला की छीछालेदर की जा सकती है, ऐसी कला से तात्पर्यसिद्धि तो नहीं होती। अन्वय समन्वय में सार्थक होता है और विश्लेषण यदि कृतार्थ है, तो तभी जब वह कुछ संश्लिष्ट भाव उत्पन्न करने में समर्थ है।

अर्थात् वह रचना पात्र के रूप में हमें व्यक्तित्व का दान करती है, जो उसके मन को लेकर उधेड़-बुन में रहती है, यह कल्पना भ्रान्त है। जैसे कि बाहरी रूपायोजन के उपादान मात्र से पात्र को सांगोपांग बनाने की स्पर्द्धा करने-वाली रचना व्यक्ति नहीं, पुतला ही खड़ा करती है, वैसे ही दूसरे प्रकार की यह मनोविश्लेषण के दौरवाली रचना भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को नहीं, बल्कि केवल उसके प्रेत को दिखा पाती है।

यहाँ आकर मैं कहना चाहता हूँ कि दुनिया में जितने आदमी हैं, उनमें कुछ को व्यक्ति कहकर बांट देना सम्भव नहीं है और उपन्यास में यदि किसी को टाइप और दूसरे को व्यक्ति कहा जा सकता है, तो केवल कलम की खूबी की वजह से। यदि वहाँ से व्यक्ति को स्वयं प्राप्त कर पाठक को उपलब्ध कराया जायगा कि जहाँ से उसके समूचे व्यक्तित्व को ऐक्य मिलता है, तो वह मर्मस्थ होगा। उसी को ऊपर सतह से दिखाया जायगा, तो वही पात्र चपटा, निजत्वहीन और टाइप सरीखा दिखाई दे जायगा।

प्रतीत होता है कि ऊपरी विष्टिता के वर्णन से जिस पात्र को व्यक्तित्वपूर्ण बनाने की कोशिश की जायगी, वह उतना ही पुतला यानी टाइप रह जायगा और जिसको निर्वैयक्तिक रूप में मानव-जाति के निकट से निकट करके देखा जायगा, वह पात्र अनायास गहन-चरित्र और पुष्ट व्यक्तिधारी बन सकेगा।

व्यक्ति असल में क्या है? क्या वह प्रतीक ही नहीं है? अपने समय और अपनी परिस्थिति में संश्लिष्ट एक प्रश्नचिह्न को, एक जिज्ञासा को लेकर वह उठा है। उसे उत्तर की खोज है। उसके भीतर कोई बन्द निजता होती तो जगत् से उसका नाता क्या बनता? पर जगत् से वह कुछ लेता और कुछ देता

है। इसी में उसका निजत्व और व्यक्तित्व बनता है। सच पूछा जाय, तो जो इस आत्मदान के कर्त्तव्य में जितना अपने को रोक रखता है, घुल-मिल न जाकर अपने को अलग रखता है, वह व्यक्तित्व की दृष्टि से उतना ही हीन बनता है। यहाँ यही तो विस्मय है कि जिसने अपने को जितना बनाया और सँवारा, वह उतना ही बिगड़ा और जिसने अपनेपन को पास न रखकर दे डाला, वह उतना ही महान् बना।

यानी जो अपनी निजता को समेटता नहीं, बल्कि इस चारों ओर के विश्व में विकीर्ण करता है, वह संकीर्ण नहीं रह जाता, वह व्यक्ति नहीं रह जाता; वह तो एक ऐतिहासिक युग के साथ तत्सम होता, उसका शीर्षक बनता है। महाकाल का एक बड़ा भाग ही उसका नाम पा जाता है। इस दृष्टि से सच्चा व्यक्ति व्यक्ति होता ही नहीं, केवल प्रतीक होता है।

आजकल जो उपन्यास पश्चिम में और अपने यहाँ लिखे जा रहे हैं, उनमें से अधिकांश में मुझे इस सत्य की झलक कम दिखलाई देती है। अब तो खैर गनीमत है, लेकिन कुछ पहले व्यक्ति को साध्य मानकर विश्लेषण की बड़ी गहराई में उतर जाया जाता था। मानो व्यक्ति को सम्पूर्ण और एकत्र करना नहीं, उसको बिखराना साहित्य का काम है। पर प्रभाव की एकता यदि रचना की सफलता के लिए अनिवार्य गुण है, तो स्पष्ट है कि उसमें मन का पृथक्करण उसके मन के समीकरण की दृष्टि से ही हो सकता है। साहित्य के द्वारा अमुक जानकारी नहीं फैलाई जाती, बल्कि आत्मा की व्यथा को ही विस्तार दिया जाता है। वह आत्मा-व्यथा ही है आत्मानन्द। वही है स्फूर्ति का स्रोत।

इस भाँति विचार करने से हम जिस परिणाम पर पहुँचते हैं, वह यह कि पात्र की निजता को अत्यन्त परिपुष्ट दिखाने के लिए उसे जानबूझकर औरों से अलग कर लेने की जरूरत नहीं है। उसका निजत्व उसी अंश तक सिद्ध और सार्थक है, जिस तक वह पाठक के निजत्व में प्रतिबिंबित होकर उसे चेताता है। साफ है कि इसमें ऊपरी ब्यौरे मदद नहीं देते, चाहें तो वे बाधक भले हो सकते हैं।

एक शब्द है Hard focus, यानी चित्र की रूपरेखा का बेहद दुरुस्त होना। पर कला के लिए "Soft focus" चाहिए। सचेतन-अचेतन में क्या भेद है? यही कि एक नपतुल जाता है, दूसरा ठीक नाप-तोल में नहीं आता। चैतन्य पर सीमा की रेखा नहीं होती। चित्र बिना सीमा के नहीं बन सकता, सही; पर तमाम महान् चित्रों की यह खूबी है कि वहाँ सीमाएँ होती हैं, पर मानो वे एक दूसरे को रोकती नहीं, बल्कि एक-दूसरे में खोना चाहती हैं। वहाँ एक

प्रभाव पड़ रहा है, और जाने-अनजाने उनमें जो एक अभिन्न-अभेद संबंध अंतर्घटित हो रहा है, उसी के उद्‌घाटन के लिए साहित्य है। उस अनिवार्य संग्रथन के भीतर कारण रूप है प्रेम। एक वियोग है, और संयोग की चाह है। खंड बिछुड़ गया है, और अखण्ड के ऐक्य को तड़प रहा है। करण समुद्र के तट से छूट गया है। इस जगत् के अणु-अणु में जो एक चाह, एक प्यास है और जो उसे भरमा रही है, वही है सत्य। अणु सत्य नहीं है, सत्य व्यक्ति नहीं है, समाज, देश, राष्ट्र कोई सत्य नहीं है। सत्य है, वह चाह। अणु से, व्यक्ति से, जाति, देश या राष्ट्र से वह चाह जितनी व्यक्त हो, उतनी ही उनमें सचाई है। उससे अलग वे सब इकाइयाँ झूठ हैं। अनेक की अनेकता सच है, तो उनके भीतर की ऐक्यानुभूति के कारण ही, यों कोई एकाएक भला कैसे सच हो सकता है?

इससे मेरे खयाल में उपन्यास में न व्यक्ति चाहिए, न टाइप। न नीति चाहिए, न राजनीति। न सुधार, न स्वराज। उससे तो प्रेम की सघन व्यथा की माँग ही हो सकती है। और वह प्रेम इस या उसमें नहीं है, बल्कि इस-उसकी परस्परता ही में है।

आज मैं सोचता हूँ कि शायद यही कारण रहा हो कि मैं प्रेमचन्दजी के चरित्र शब्द को नहीं समझ सका। मैं अब भी उसे नहीं समझ पाता हूँ। जंगल में या गुफा में महा तपस्वी कोई हो, जिनका चरित्र ऐसा हो कि फौलाद—तो भी मैं क्या करूं? मैं उनको नमस्कार करता हूँ। पर उपन्यास के नाते मैं उनका क्या करूँ? शायद मैं उनका कुछ नहीं कर सकता। प्रीति उनसे या उनमें मैं यदि नहीं पाता हूँ, तो उनके वज्र चरित्र को लेकर भला बताइए, मैं क्या बना सकता हूँ? इसलिए मैं चरित्र शब्द पर कुछ भी कहने में असमर्थ हूँ।

ऐसे ही व्यक्ति। व्यक्ति की व्यथा मुझे चाहिए, उसकी महत्ता मुझे नहीं चाहिए। महत्ता तो बड़ी से बड़ी भी छोटी है। एक आदमी इतना बड़ा तक हो जाय कि जितनी दुनिया—पर दुनिया तो यहाँ असंख्य हैं। लाखों तारों से आसमान भरा है, जैसे मोतियों से अंजलि भरी है। और मानो वह अंजलि उन मोतियों का आशीर्वाद हम पर ढुलका देने की राह देखती हो। ओह, तब हमारा दुनिया जितना बड़प्पन भी कैसा तुच्छ हो आता है। इससे व्यक्ति मुझे नहीं चाहिए, उसका बड़े से बड़ा बड़प्पन झूठ है। उसकी तो तुच्छता ही मेरे निकट सत्य है। मुझे वही व्यथा चाहिए, जिसमें उसकी तुच्छता का ही प्रत्यक्षीकरण, उसका ही समर्पण हो। मेरे लेखे व्यक्ति विचारणीय बनता है तो तभी, जब क्षुद्रता को खोल देकर वह विराट में विदेह बनता है। भीतर प्रीति नहीं तो भाई, ऐसे तो बांस भी बहुत ऊँचा हो जाता है।

नन्ददुलारे वाजपेयी
[सन् १९०६—६८]

साहित्य और जीवन

हमारी हिन्दी में और अन्यत्र भी इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की जोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब कद्र की जा रही और खूब दाद दी जा रही है। स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी बड़ी उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते हैं। लेखकगण घर के बाहर स्वदेशी लिबास में रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आनेवाले सैनिक साहित्यिक के बड़े गुण-गान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में जोशीले लेख छपते हैं, जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे बढ़कर लेखों को लेखकों के खून से सराबोर देखना चाहते हैं। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है, जो साहित्य-समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेंकने का सरंजाम करेगा और जीवन को नितांत उग्र और संभव है, पाखंडपूर्ण भी बना देगा। बंगाल में ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण महाकवि रवीन्द्रनाथ को, कियत्काल के लिए ही सही, धक्का उठाना पड़ा है और आज हिन्दी में वही हवा चल रही है। हम जिस संकीर्ण वात्याचक्र में घिरे हुए साँस ले रहे हैं, उसमें यदि साहित्य को राजनीतिक प्रचार का साधन बनाया जाय तो यह स्वाभाविक है। ऐसा अन्य देशों में भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नहीं करेंगे। साहित्य और जीवन का संबंध देखने के लिए क्षणिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण ही को न देखें, संपूर्ण सौर-मंडल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करें। साहित्य की शब्दावली में हम क्षणिक यथार्थ को ग्रहण करने में लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करें, जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है।

हम साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ में मानें। देश और काल की सुविधा के ही मोह में न पड़े रहें।

साहित्य के साथ जीवन का सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह यूरोप में पिछली वार फ्रेंच राज्य-क्रांति के उपरांत किया गया और हमारे देश में, आधुनिक रूप में यह अभी कल की वस्तु है। इँगलैंड में वर्ड्सवर्थ और फ्रांस में विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचार-शैली के आविर्भाव करनेवालों में हैं। प्रारंभ में इसका रूप अत्यंत समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन अस्तंगत हो गया था। उसके स्थान में नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल में बड़ी ही सरल और सात्त्विक भावनाएँ थीं। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य में भी प्रकृति-प्रेम, सरल-जीवन आदि की भावनाएँ देख पड़ीं। यहाँ तक कृत्रिमता किंचित् नहीं थी। अँगरेजी साहित्य में मैथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक —एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौंदर्य-पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियों की प्रशंसा कर सकते थे। परंतु बहुत दिन ऐसे नहीं रह सके। शीघ्र ही यूरोप में राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओं का विस्तार हुआ और रूस में समाज-सम्बन्धी शक्तिशालिनी उत्क्रांति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाजवाद की सेवा में उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्ववंत्रता बनी न रह सकी। साहित्य अधिकांश में राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग की नवीन वस्तु के रूप में उसको बाज़ार अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नहीं, भारत में भी धड़ाके से चल रहा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप में साहिय परतंत्र सामयिक जीवन की बँधी हुई लीक में चलने को बाध्य किया जाता है। साहित्य और जीवन का स्वभावसिद्ध सम्बन्ध सर्वथा मंगलमय है। पर क्या इस प्रकार का सम्बन्ध स्वभावसिद्ध कहा जा सकेगा? जीवन की स्वच्छंद धारा ही जहाँ बँधी हुई है, वहाँ साहित्य तो शिकंजे में जकड़ा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का सम्बन्ध जोड़ने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निंदा करते हैं।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध जोड़ने के सिलसिले में समीक्षकों ने साहित्यकार के व्यक्तिगत बाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनों के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। बस साहित्यकार को भी पब्लिक मैन बना दिया गया। साहित्यालोचन

की जो पुस्तकें निकलीं, उनमें यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए बिना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ में नहीं आ सकता। ऐतिहासिक अनुसंधानों के इस युग में यदि कवियों और लेखकों का अन्वेषण किया गया, तो कुछ अनुचित नहीं। इस प्रणाली से बहुत से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला। बहुत से पाखंडी प्रकाश में आए। परंतु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियां इतनी बहुमुखी हैं कि इस संबंध में अधिक से अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकतिया संपादकजी की तरह 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनंद-भवन' और 'शांति-निकेतन' के बीच में ही अटक रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नहीं बन सकता, क्योंकि 'सैनिक बनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था-सभा के सभासद के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि से 'सैनिक' का स्वतः कोई महत्त्व नहीं। 'सैनिक'—इस शब्द का जो भावार्थ है, साहित्य के भीतर से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिए। साहित्य और जीवन का यह संबंध है, जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थायी कसौटी बना सकते हैं, पर हिंदी में लोग ऐसा नहीं करते। अँगरेजी साहित्य-समीक्षा में यह व्यक्तिगत चरित-चित्रण की परिपाटी काफी समय तक चली, पर हाल में इसका प्रयोग कम पड़ रहा है और शायद इसका त्याग किया जा रहा है। जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर साधारण असूक्ष्म-दृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दें, यह अच्छा ही है, नहीं तो साहित्य में बड़ा विषम भाव और बड़ा विद्वेष फैलने की आशंका है।

साहित्यकार को जीवन के संबंध में स्वतंत्र विचार रखने और भिन्न-भिन्न साहित्य-सरणियों में चलने के अधिक से अधिक अधिकार मिलने चाहिए। उसके अध्ययन, उसकी परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओं और उस संबंध की अपनी धारणाओं से ही नहीं परख सकते। हमें उसकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियों से सहानुभूति रखना सीखना होगा। हम कवियों और लेखकों के नैतिक और चरित्र संबंधी स्खलन ही न देखें, प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी तटस्थता की ही निंदा न करें, यदि वास्तव में उन्होंने अपनी साहित्य-सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन सौंदर्य-कल्पना और भव्य भाव-जगत् की रचना की है। महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के महर्षित्व पर नवयुवक बंगालियों ने विकट-विकट आक्षेप किए हैं और वर्त्तमान

राजनीति में सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यंग्यों की भी झड़ी लगी है, पर क्या साहित्यिक समीक्षा की अब ये ही प्रणालियाँ रह जायँगी ? जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर-क्रिया को विशेष महत्त्व नहीं देते, चेतन-शक्ति पर विश्वास रखते हैं, उसमें महाकवि रवींद्रनाथ को इससे अच्छे पुरस्कार मिलने चाहिएँ । रवि बाबू स्वदेश प्रेम को संपूर्ण मनुष्यता और विश्वप्रेम के धरातल पर उठाकर रखने में समर्थ हुए हैं, उन्होंने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जड़त्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियों और अपनी विराट् कल्पना की सहायता से । उन्होंने संसार की शांति और साम्य के लिए एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है, जिसकी संभावनाएँ भविष्य में अपार हैं । इसके लिए यदि हम उनके कृतज्ञ नहीं होते, और यह जरूरी समझते हैं कि वे जनता के नेता का रूप धारण करें, तो यह हमारी ही संकीर्ण भावना है, जो हमें प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नहीं देती ।

साहित्य और जीवन में घनिष्ठ से घनिष्ठ संबंध स्थापित होने पर भी दोनों में अंतर रहेगा ही । जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्र की जाती हैं । जीवन के अनंत आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक विचरण करते हैं । सामयिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि रूप है, साहित्य में कुछ नियम भी अपेक्षित हैं । यह अवश्य है कि हम जिस हवा में साँस लेते हैं, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हममें प्रवेश पाते हैं, तथापि हमारा साहित्य केवल इन परमाणुओं का संग्रह होकर ही नहीं रह सकता । प्रत्येक सभ्य और प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान में रहता हुआ अतीत और भविष्य में भी रहता है । साहित्यकार के लिए तो ऐसा और भी स्वाभाविक है । महान् कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने में ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं । सामयिक जीवन का उनके लिए उतना ही महत्त्व है, जितना वह उनके विराट्, सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है । निश्चय ही यह महान् कलाकारों की बात कही जा रही है ।

साहित्य-कला की कुछ ऐसी सुष्ठु, प्रभावशाली और सुन्दर विशेषताएँ हैं, जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नहीं खातीं । साहित्य में 'राम' और 'कृष्ण' चिरसुन्दर अंकित किए जाते हैं, कलाओं में उनके चित्र भी वैसे ही मिलते हैं, पर जीवन में तो वे वैसे नहीं रहे होंगे । साहित्य की अतिशयोक्तियाँ इंद्रधनुष

सी जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक, रूखे अस्तित्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनाएँ, जो अनंत जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है, तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है, तो साहित्य उसके सहित है; तभी तो उसका नाम साहित्य, जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्गदृष्टा भी रहता आया है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी
[सन् १९०६—६८]

सौन्दर्य बोध

मैं सौन्दर्योपासक हूँ। यह तो कोई नई बात नहीं हुई, जिनके लिए सौन्दर्य वासना का आहार है, वे भी यही बात कह सकते हैं। पशु जब हरित तृणों से अपनी भूख शांत करता है और जलाशयों से अपनी प्यास मिटाता है, तब वह हरियाली और झरनों का सौन्दर्य नहीं देखता।

'कामायनी' में प्रसादजी ने कहा है—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

चेतना के अनेक स्तर हैं। वासना उसका स्थूल अथवा निम्नतम स्तर है। फ्रायड ने इसी स्तर पर जीवन को वासनामूलक देखा है। चेतना के उच्च स्तर पर सौंदर्य कलात्मक एवं सांस्कृतिक हो जाता है, उसमें हार्दिक सुषमा और गरिमा आ जाती है।

चेतना तो अमूर्त और अदृश्य सत्ता है। तो फिर ऐसी चेतना के वरदान सौंदर्य का मूर्त रूप क्या है? मनुष्य के भीतर जो मधुर मनोरम भावनाएँ अस्पष्ट रूप में बिखरी रहती हैं, उन्हीं का सुनियोजित सुस्पष्ट संगठन अथवा भावनाओं का प्रत्यक्ष दृश्यीकरण सौन्दर्य है। यह मनुष्य का अपना व्यक्तित्व भी हो सकता है, अथवा उसकी अपूर्णता का पूरक कोई अन्य प्रिय व्यक्तित्व। जो सौंदर्य भीतर चित्तवृत्त्यात्मक है, वही बाहर अपने अनुरूप दृष्टान्त पा जाना चाहता है। जब तक वह मिल नहीं जाता, मन मनभावन को खोजता रहता है। यह खोज ऐसी ही है, जैसी भाव के लिए भाव्य की खोज। कवि पंत के शब्दों में—

देखते देखते आ जाता,
मन पा जाता,
कुछ जग के जगमग रूप नाम ।
रहते रहते कुछ छा जाता,
उर को भाता ।
जीवन-सौन्दर्य अमर ललाम ।
—(स्वर्णकिरण)

विश्वशिल्पी विधाता ने भी इसी तरह अपनी भावना से खोजकर परखकर सृष्टि के सौंदर्य का सृजन किया होगा।

'जग के जगमग रूप नाम' को जब हम काव्य, चित्र, मूर्ति में अंकित करते हैं, तब सौंदर्य कलात्मक हो जाता है। अपने कलात्मक रूप में सौंदर्य केवल मानुषिक ही नहीं, नैसर्गिक भी हो जाता है। खग, मृग, पुष्प इत्यादि से अंगों की प्राकृतिक उपमाएँ सौंदर्य की विशदता और व्यापकता सूचित करती हैं।

रूप-रंग रेखाओं में इस कलात्मक सौंदर्य के कुछ अपने विधान हैं। उसमें एक संगति, अन्विति और परिणति होती है, इन्हीं की समष्टि तो सौंदर्य है। जहाँ इस सामंजस्य का अभाव होता है, वहाँ विक्षिप्तता आ जाती है।

कला की दृष्टि से जंगलियों के अवयवों, वेश-भूषा और अलंकरण में भी सौंदर्य देखा जा सकता है। नए छंदों के सामने जैसे पुराने छंद अटपटे लगते हैं, वैसे ही जंगलियों के अवयव और अलंकरण भी। किंतु उनके जीवन में भी एक गति यति-रति रहती है, भले ही किसी अपरिचित भाषा की तरह हम उनकी अभिव्यक्ति को समझ न सकें। आधुनिक दृष्टि से दार्शनिक विदूषक चार्ली चैपलिन के ऊटपटांग चित्रों में जिस मनोहरता को देखते हैं, उससे भी कला का क्रिया-कलाप (सौंदर्य विधान) स्पष्ट हो जाता है।

शारीरिक दृष्टि से सौंदर्य को बहुत सीमित रूप में देखा जाता है, वह वासना का उद्दीपन मात्र बनकर रह जाता है। इस दृष्टि से सौंदर्य धारणा में रुचि वैभिन्य जान पड़ता है। एक को जो सुन्दर लगता है, वह दूसरे को असुन्दर। काम-शास्त्र के नायक-नायिका-भेद में नर-नारी का शारीरिक वैविध्य इसी का प्रमाण है। यह विभेद कलात्मक नहीं, वैज्ञानिक है। शारीरिक अनुपात के अनुसार चाहे जिस कोटि का नायक अथवा नायिका हो, सौंदर्य तो अपने कलात्मक विधान में किसी भी नर-नारी में मूर्त्त हो सकता है। कला की यही सुन्दरता मानवेतर सृष्टि में भी देखी जाती है, तभी तो उन्हें नायक-नायिकाओं

के शारीरिक अनुपात का प्रतीक बना दिया गया है; शशक से लेकर अश्व तक और पद्मिनी से लेकर हस्तिनी तक।

सौंदर्य के प्रति आकर्षक प्रेम है। किंतु सौंदर्य की तरह प्रेम में भी वासना हो सकती है। इस स्थिति में स्त्री-पुरुष में ही प्रेम संभव समझा जाता है। यह रूढ़ श्रृङ्गारिक संस्कार है। इस संकीर्ण संस्कार का परिष्कार करने के लिए ही प्रसादजी ने यह प्रश्न किया था—

ओ मेरे प्रेम ! बता दे
तू स्त्री या कि पुरुष है ?
दोनों ही पूछ रहे हैं
कोमल है कि परुष है ?

प्रेम की तरह सौन्दर्य में भी स्त्री-पुरुष का भेद नहीं किया जा सकता। जब हम प्राकृतिक दृश्यों को देखकर उनके सौंदर्य पर मुग्ध हो उठते हैं, तो उस नैसर्गिक सौंदर्य में स्त्री-पुरुष का भेद कहाँ रह जाता है? क्या एक ही सौंदर्य पर स्त्री-पुरुष दोनों नहीं रीझ जाते? असल में सौंदर्य एक भावानुभूति है, प्रेम उसकी रसानुभूति।

जो चेतना स्त्री-पुरुष और प्रकृति में शोभा-सुषमा देखती है, वही जब उनके जीवन में आत्मोत्कर्ष देखना चाहती है, तब सौंदर्य का दृष्टिकोण कलात्मक ही नहीं, सांस्कृतिक भी हो जाता है। सच तो यह कि कला की ही संगति, अन्विति, परिणति संस्कृति में आंतरिक प्रक्रिया बन जाती है। आचार-विचार-व्यवहार ये हमारे सांस्कृतिक विधान हैं, इन्हीं से सौंदर्य को शिवत्त्व और भाव को कर्त्तृत्त्व मिलता है।

'आँसू' में प्रसादजी ने सौंदर्य की विडम्बना देखकर यह उपालम्भ दिया था—

तुम रूप रूप थे केवल
या हृदय भी रहा तुमको ?
जड़ता की सब माया थी
चैतन्य समझ कर हमको !

संस्कृति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सौंदर्य केवल द्रष्टा की चेतना का वरदान है अथवा सौंदर्य स्वयं भी सचेतन है, जड़ नहीं।

प्रकृति में भी जहाँ सौंदर्य सचेतन है, वहाँ वह सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का साधन अथवा माध्यम बन गया है। हमारे यहाँ कमल संस्कृति का सुन्दर प्रतीक है। पत्र, पुष्प, दूर्वादल, कदलीस्तम्भ वंदनवार, धूप-दीप, नैवेद्य, गंगाजल, ये सब

भी अपनी रुचिरता और पवित्रता से संस्कृति को ही अलंकृत और अभिषिक्त करते हैं।

देवमूर्तियों में संस्कृति का ही दिव्य व्यक्तित्व है, उनमें सुन्दरम् और शिवम् का समावेश है। जिस शैशव को हम प्यार करते हैं, उसमें चेतना का यही शुभ और सुन्दर चारुत्व रहता है। वालहंस और परमहंस चेतना के ही वयोविकास हैं। वचपन में तन-मन के साथ शिशु की निरीह चेतना का अनायास संयोग रहता है, इसी लिए वह इतना सुहावना और प्यारा लगता है। वयस्क हो जाने पर संसार के आल-व्याल-जंजाल में भी वही वाल्य सौंदर्य शैवाल जाल में कमल की तरह प्रस्फुटित रह सकता है, मर्त्यलोक की कराल और विषाक्त विभीषिकाओं से आवेष्टित शिव का सुकोमल मुख-मंडल इसी तथ्य का द्योतक है।

वचपन में जो सौंदर्य अनायास सुलभ रहता है, वह परिणत वय में जड़ता के भीतर चेतना की साधना से ही उपलब्ध हो सकता है। देवमूर्तियों में इसी साधना का साक्षात्कार है। देश-काल और देह के वातावरण को पारकर उनका अन्तर्मुख वहिर्मुख हो गया है। उनके मुख-मण्डल पर चेतना ही ज्योतिर्मण्डल वनकर जगमगाती रहती है, आरती के आलोक की तरह।

मुझे तो सौंदर्य एक दैवी शिल्प जान पड़ता है। उसे देखकर मैं ऐसा अभिभूत हो जाता हूँ कि अपना आपा विसर जाता है। विस्मय से मन ही मन वोल उठता हूँ—

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम?
अये अभिनव, अभिराम?

इस मर्त्यलोक में यह किस ईश्वर का प्रतिरूप, किस स्वर्ग का पारिजात आ गया!

सौंदर्य में मैं जिस अलौकिक भाव का आविर्भाव देखता हूँ, उससे भीतर ही भीतर तादात्म्य अनुभव करता हूँ, किंतु वातचीत नहीं कर पाता; क्योंकि दुनिया की भाषा साथ नहीं दे पाती। अवाक् दृष्टि से सौंदर्य को पढ़ता रह जाता हूँ।

कौन स्रष्टा है सौंदर्य का? यदि मनुष्य ही सौंदर्य का निर्माता है, तो वह उसे अजस्र क्यों नहीं रख पाता? सौंदर्य मनोवृत्तियों की आत्मसाधना है, साधना से ही उसे अक्षुण्ण रखा जा सकता है। किसी युग में देवासुर प्रवृत्तियों के अनुरूप ही पशुओं और मनुष्यों का मुख सुरूप-कुरूप वन गया। आज भी जो सौंदर्य दिव्यता अथवा देवभावना को जगाता है, वह किसी सात्विक वंश की सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिफल है।

सौंदर्य केवल रक्त-मांस का रूप रंग नहीं है, वह तो मनुष्य के फेसकट्

(मुखाकृतियों की बनावट) का परिचायक है। मनुष्य की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियाँ ही मुखाकृतियों में रेखाओं की तरह ऋजुकञ्चित हो जाती हैं। यदि फ़ेसकट अच्छा नहीं है, तो मुख भद्दा मालूम पड़ता है। अच्छी आकृति में रक्त-मांस शून्य शोषित मुख भी कलात्मक लगता है।

जिस तरह लोगों को हस्तरेखाएँ देखने का शौक होता है, उसी तरह मुझे सुंदर मुखाकृतियों को देखने का शौक है, मैं उन्हीं में दैवी लिपि का अध्ययन करता हूँ।

सौंदर्य मेरा हॉबी है। वह मेरे लिए चेतना का दर्पण है। मुझे यह देखकर बड़ी खिन्नता और निराशा होती है कि सुंदर से सुंदर मुखाकृतियों में भी चेतना का चारुत्व नहीं मिलता। वे तभी तक आकर्षक लगती हैं, जब तक उनसे वार्तालाप न किया जाय, बातचीत करते ही उनका स्वभाव और संस्कार बड़ा भोंड़ा लगता है, जड़ता का जघन्य और बीभत्स रूप सामने आ जाता है। युगों के व्यवधान में वे सुंदर मुखाकृतियाँ अपनी भाषा, भाव और शैली भूल गई हैं, मानो कला, कविता और संस्कृति ही आत्मविस्मृत हो गई है। किसी युग में वंश-परंपरा से उन्हें सौंदर्य का ऐश्वर्य मिला, किंतु कुछ अपनी भी साधना से वे उसकी श्रीवृद्धि नहीं कर सकीं। कालान्तर में निःसत्व होकर जीव जगत् के लुप्त प्राणियों की तरह ही क्या सुंदर मुखाकृतियाँ भी कल्पना की वस्तु नहीं हो जायँगी !

मनुष्य में चेतना की पहचान अथवा सौंदर्य की सुरभि उसकी सुरुचि है। अंग्रेजी में इसे ही 'ऐस्थेटिक सेंस' कहते हैं। यह मनुष्य की व्यक्तिगत कलात्मक चेतना है। इसी को व्यावहारिक जीवन में संस्कारिता कहते हैं। इसी के सार्वजनिक रूप का नाम नागरिकता है।

जिस चेतना का सौंदर्य शरीर में साकार होता है, उसी चेतना का चारुत्व जब जीवन में चरितार्थ होता है, तब मनुष्य सुसंस्कृत प्राणी जान पड़ने लगता है। सुरुचि अथवा संस्कारिता से सुंदर मुखाकृतियाँ भी विकृत और विरूप हो जाती हैं, चेतनाप्राण सृष्टि का यही नैसर्गिक नियम है।

विभिन्न आकृतियों और विभिन्न कृतियों की तरह रुचियों में भी भिन्नता हो सकती है—(भिन्नता में ही सृष्टि की विविधता अथवा नवीनता है)। किन्तु वह रुचि कैसी, जिसमें चेतना का लालित्य न हो। खेद है कि न तो व्यक्ति में, न समाज में, न नगर में, कहीं भी सुरुचि और संस्कारिता का परिचय नहीं मिलता। बाहर ठाँव-कुठाँव कूड़ा-कर्कट, भीतर उसी की तरह गंदा स्वभाव ! क्या यही मनुष्यता है, यही नागरिकता है, यही सामाजिकता है ! मनुष्य के

असंस्कृत जीवन को देखकर ज्ञात होता है कि उसकी मनोवृत्तियों में कैसी अराजकता फैली हुई है। उसके खान-पान, रहन-सहन, बात-बर्ताव, उठने-बैठने-चलने में न कोई तुक है, न ताल है, न छंद है, न लय है। सारी प्रवृत्तियाँ निश्चेतन मन की विकृतियाँ अथवा जड़ता की असंगतियाँ बन गई हैं।

सुरुचि के नाम पर शौकीन नवयुवकों में केवल फैशन रह गया है। उनका फैशन भी उच्छिष्ट है, रहन-सहन भी उच्छिष्ट है। उसमें उनकी अपनी प्रतिभा नहीं है। सिनेमा देखकर मनचलों ने 'आवारा' बुशशर्ट अपना लिया, भला इसमें क्या मौलिकता है !

कला के नाम पर विकृत अनुकरण और कर्तव्य के नाम पर निकम्मा भोंड़ापन, यही आजकल के नागरिकों की विशेषता है। ऐसे लोग, जिनमें आत्मोन्मेष नहीं है, उनमें संस्कारिता भी कैसे आ सकती है ! उनका शिष्टाचार हार्दिक नहीं, दिखावा है। जो लोग इतना भी शिष्टाचार नहीं निभाना चाहते, वे खुले आम उजड्डता पर उतारू हो जाते हैं। छात्रों की अनुशासनहीनता शिक्षा और संस्कृति का अभाव सूचित करती है।

मनुष्य कहीं भी मनुष्य नहीं रह गया है। उसमें जो थोड़ी बहुत मानुषी चेष्टा दिखाई देती है, वह सरकस के जानवरों की सी है। अपनी आजीविका से विवश होकर ये पशु मनुष्यता का चाहे जितना अभिनय कर लें, किंतु जब तक अंतःकरण से सुज्ञ नहीं हो जायँगे, तब तक अपना पाशविक स्वभाव नहीं बदलेंगे।

मनुष्य को सिनेमा और सरकस का जीव-जन्तु नहीं बनना है। उसे कला और संस्कृति से अपना चैतन्य व्यक्तित्व पा जाना है।

आत्मचेतना के अभाव में मनुष्य जीते-जी जीवन्मृत हो गया है। बाहरी मुखौटों में ये सुन्दर असुन्दर सभी मुखाकृतियाँ आत्महत्या की हुई जान पड़ती हैं। भवसागर में सन्तरण नहीं कर रही हैं, शव की तरह बह रही हैं। कैसी घिनौनी, कैसी भयावनी हैं ये !

आज बच्चों के मुख पर शिवत्त्व नहीं है, शैशव का सारल्य और सौष्ठव नहीं है। अस्वस्थ दम्पति जैसे अपनी आधिव्याधि गर्भाधान में बीजारोपित करते हैं, वैसे ही इस निश्चेतन युग के प्राणियों ने अपनी जड़ता को शिशुओं में भी संक्रमित कर दिया है। तुतलाहट टूटते न टूटते बच्चे उन्हीं की तरह तामसिक व्यवहार करने लगते हैं। वे अपने कुत्सित वातावरण के प्रतिबिम्ब हैं।

क्या कारण है मनुष्य में देवत्त्व के इस ह्रास का ? क्या कारण है अमृतपुत्र के इस अधःपतन का ? इसका कारण आज के कृत्रिम अर्थशास्त्र में मिलेगा।

उसने सबको अपनी ही तरह जड़ बना दिया है, सबको अपने में ही सीमित संकुचित कर दिया है। सबका ध्यान केवल अर्थोपार्जन में केंद्रित हो गया है। मनुष्य पशुओं की तरह पेट पालने में लगा हुआ है। अन्य पुरुषार्थों की ओर से विमुख और निश्चेष्ट हो गया है।

मनुष्य को जीवन के सर्वाङ्गीण विकास की ओर प्रेरित करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र को सांस्कृतिक बनाया जाय। तभी विविध प्रवृत्तियों में सौंदर्य, विविध पंखुड़ियों में शतदल की तरह अन्तः प्रस्फुटित होकर खिल उठेगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
[सन् १९०७——.......]

अशोक के फूल

अशोक में फिर फूल आ गए हैं। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तवकों में कैसा मोहन भाव है! बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में और इसीलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भाव लेकर प्रवेश करता है, वह पहले कहाँ था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी ले लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला, वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिञ्जनकारी नूपुर वाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ-गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में

क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ ? कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों की त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया ? आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका ? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज़ थी ? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी ? कविता क्या सो गई थी ? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके !

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होता क्या है ? ईसवी सन् के आरम्भ के आसपास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों से परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पंडितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गंधर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है, तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे। लेकिन कन्दर्प देवता हार माननेवाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नए-नए अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्ध-धर्म को इस नए अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानव समुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह ! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये,

गंधर्व आये—न जाने कितनी मानव-जातियां यहां आयीं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू-रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्‌भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जलकर राख हो गया और वामन-पुराण (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खंड-खंड हो, धरती पर गिर गया। जहां मूठ थी, वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया। हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया। अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई। स्वर्ग को जीतनेवाला कठोर धनुष, जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं !

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूं। इस कथा का रहस्य क्या है? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं—यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुबेर, सोम, अप्सराएँ—यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रंथों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताए गए हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं, जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियां वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं ! यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों

गंधर्व सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी बातें क्यों रटी जायँ। प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालू आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू-समाज इनमें सबको बड़ी अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तवकों को देखता हूँ, तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राजघरानों में साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थी। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थी। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छा आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हलकी रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास! किसलयों और कुसुम-स्तवकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-संभार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अञ्जलि बखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तवकों में वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है? भारतवर्ष का स्वर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक

से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है !

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो; परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त से स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे समान्त उखड़ गए, साम्राज्य ढह गए और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान-कामिनियों को गंधर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज़्ज़त घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया !

मुझे मानव-जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हज़ारों वर्ष का रूप साफ़ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब-कुछ को हज़म करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है; पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन-देवता का गर्व-खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचाई है, यम-राज के निर्दय तारल्य को पी लिया है; विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठ- नृत्य से ध्वस्त हो जायगा, कौन जानता है। मनुष्य की जीवनधारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी। आज अशोक के पुष्प-स्तवकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी ! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूं और उनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला

सुखा रहा हूँ, और उनमें कितनी जिएँगी और कितनी बह जाएँगी, कौन जानता हैं ! मैं क्या शोक से उदास हुआ हूँ ? माया काटे कटती नहीं । उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं । अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं । कालिदास-जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्पों को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था—अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो—'किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता-श्रवणार्पितः !'—परन्तु शाखाओं में लंबित वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है । मेरी नस-नस में आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है । मैं सचमुच उदास हूँ ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी ? सम्राटों और सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई; धर्माचारियों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया; मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गई; तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल में खिला हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा ? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती धसकेगी । उनके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जायगी । सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा ।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी । असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है । कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया ! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म में घुसे और बोधि-सत्वों के शिरोमणि बन गए । फिर वज्रयान का अपूर्ण धर्ममार्ग प्रचलित हुआ । त्रिरत्नों में मदन देवता ने आसन पाया । वह एक अजीब आंधी थी । इसमें बौद्ध बह गए, शैव बह गए, शाक्त बह गए । उन दिनों 'श्री सुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई । काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिसार में सहायता दी । मैं अच-रज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ । यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था । । कौन बताएगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी । अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोए जा रहा है । कैसा झबरा-सा गुल्म है ।

मगर उदास होना भी बेकार ही है । अशोक आज भी उसी मौज में है,

जिसमें आज से दो हज़ार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती, तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ-घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता, तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ, जो वह बदल गई। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखने-वाला उदास होता है। वह अपने को पंडित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेज़ी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है, तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहां! अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ, पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है!

●

महादेवी वर्मा
[सन् १९०७—....]

बिन्दा

बिन्दा मेरी उस समय की बाल्यसखी थी, जब मैंने जीवन और मृत्यु का अमिट अन्तर जान नहीं पाया था। अपने नाना और दादी के स्वर्ग-गमन की चर्चा सुनकर मैं बहुत गंभीर मुख और आश्वस्त भाव से घर भर को सूचना दे चुकी थी कि जब मेरा सिर कपड़े रखने की अलमारी को छूने लगेगा, 'तब मैं निश्चय ही एक बार उनको देखने जाऊँगी। न मेरे इस पुण्य संकल्प का विरोध करने की किसी को इच्छा हुई और न मैंने एक बार मरकर कभी न लौट सकने का नियम जाना। ऐसी दशा में, छोटे-छोटे असमर्थ बच्चों को छोड़कर मर जानेवाली मां की कल्पना मेरी बुद्धि में कहां ठहरती! मेरा संसार का अनुभव भी बहुत संक्षिप्त-सा था। अज्ञानावस्था में मेरा साथ देनेवाली सफेद कुत्ती, सीढ़ियों के नीचेवाली अँधेरी कोठरी में आंख मूंदे पड़े रहनेवाले बच्चों की इतनी सतर्क पहरेदार हो उठती थी कि उसका गुर्राना मेरी सारी ममता-भरी मैत्री पर पानी फेर देता था। भूरी पूसी भी अपने चूहे जैसे निःसहाय बच्चों को तीखे-पैने दांतों में ऐसी कोमलता से दबाकर लाती, ले जाती थी कि उनके कहीं एक दांत भी न चुभ पाता था। ऊपर की छत के कोने पर कबूतरों का और बड़ी तस्वीर के पीछे गौरय्या का जो घोंसला था, उसमें खुली हुई छोटी-छोटी चोंचों और उनमें सावधानी से भरे जाते दानों और कीड़े-मकोड़ों को भी अनेक बार देख चुकी थी। बछिया को हटाते ही रँभा-रँभाकर घर भर को यह दुखद समाचार सुनानेवाली अपनी श्यामा गाय की व्याकुलता भी मुझसे छिपी न थी। एक बच्चे को कंधे से चिपकाए और एक की उँगली पकड़े हुए जो भिखारिन द्वार-द्वार फिरती थी, वह भी तो बच्चों के लिए ही,कुछ माँगती रहती थी। अतः मैंने निश्चित रूप से समझ लिया था कि संसार का सारा कारबार बच्चों को खिलाने, पिलाने, सुलाने आदि के लिए ही हो रहा है और इस महत्त्वपूर्ण कर्तव्य में भूल न होने का काम माँ नामधारी जीवों को सौंपा गया है।

और विन्दा के भी तो माँ थीं, जिन्हें हम 'पंडिताइन चाची' और विन्दा 'नई अम्मा' कहती थी। वे अपनी गोरी मोटी देह को रंगीन साड़ी से सजे-कसे, चारपाई पर बैठकर, फूले गाल और चिपटी-सी नाक के दोनों ओर नीले काँच के बटन-सी चमकती हुई आँखों से युक्त मोहन को तेल मलती रहती थीं। उनकी विशेष कारीगरी से सँवारी .पटियों के बीच में लाल स्याही की मोटी लकीर-सा सिंदूर, उनींदी-सी आँखों में काले डोरे के समान लगनेवाला काजल, चमकीले कर्णफूल, गले की माला, नगदार रंगबिरंगी चूड़ियाँ और घुँघरूदार बिछुए मुझे बहुत भाते थे, क्योंकि ये सब अलंकार उन्हें मेरी गुड़िया की समानता दे देते थे।

यह सब तो ठीक था, पर उनका व्यवहार विचित्र-सा जान पड़ता था। सर्दी के दिनों में जब हमें धूप निकलने पर जगाया जाता था, गर्म पानी से हाथ-मुँह धुलाकर मोजे, जूते और ऊनी कपड़ों से सजाया जाता था और मना-मनाकर गुनगुना दूध पिलाया जाता था, तब पड़ोस के घर में पंडिताइन चाची का स्वर उच्च-से-उच्चतर होता रहता था। यदि उस गर्जन-तर्जन का कोई अर्थ समझ में न आता, तो मैं उसे श्यामा के रँभाने के समान स्नेह का प्रदर्शन भी समझ सकती थी; परंतु उसकी शब्दावली परिचित होने के कारण ही कुछ उलझन उत्पन्न करनेवाली थी। 'उठती है या आऊँ,' 'बैल के-से दीदे क्या निकाल रही है', 'मोहन का दूध कब गर्म होगा', 'अभागी मरती भी नहीं' आदि वाक्यों में जो कठोरता की धारा बहती रहती थी, उसे मेरा अबोध मन भी जान ही लेता था।

कभी-कभी जब मैं ऊपर की छत पर जाकर उस घर की कथा समझने का प्रयास करती, तब मुझे मैली धोती लपेटे हुए विन्दा ही आँगन से चौके तक फिरकिनी-सी नाचती दिखाई देती। उसका कभी झाड़ू देना, कभी आग जलाना, कभी आँगन के नल से कलसी में पानी लाना, कभी नई अम्मा को दूध का कटोरा देने जाना, मुझे बाजीगर के तमाशे जैसा लगता था, क्योंकि मेरे लिए तो वे सब कार्य असंभव-से थे। पर जब उस विस्मित कर देनेवाले कौतुक की उपेक्षा कर पंडिताइन चाची का कठोर स्वर गूँजने लगता, जिसमें कभी-कभी पंडितजी की घुड़की का पुट भी मिला रहता था, तब न जाने किस दुख की छाया मुझे घेरने लगती थी। जिसकी सुशीलता का उदाहरण देकर मेरे नटखटपन को रोका जाता था, वही विन्दा घर में चुपके-चुपके कौन-सा नटखटपन करती रहती है, इसे बहुत प्रयत्न करके भी मैं न समझ पाती थी। मैं एक भी काम नहीं करती थी और रात-दिन ऊधम मचाती थी, पर मुझे तो माँ ने कभी न मर जाने की

आज्ञा दी और न आँखें निकाल लेने का भय दिखाया। एक बार मैंने पूछा भी —"क्या पंडिताइन चाची तुम्हारी ही तरह नहीं हैं ?' माँ ने मेरी बात का अर्थ कितना समझा, यह तो पता नहीं, उनके संक्षिप्त 'हैं' से न बिन्दा की समस्या का समाधान हो सका और न मेरी उलझन सुलझ पाई।

बिन्दा मुझसे कुछ बड़ी रही होगी, परंतु उसका नाटापन देखकर ऐसा लगता था, मानो किसी ने ऊपर से दबाकर उसे कुछ छोटा कर दिया हो। दो पैसे में आनेवाली खँजड़ी के ऊपर मढ़ी हुई झिल्ली के समान पतले चर्म से मढ़े और भीतर की हरी-हरी नसों की झलक देनेवाले उसके दुबले हाथ-पैर न जाने किस अज्ञात भय से अवसन्न रहते थे। कहीं से कुछ आहट होते ही उसका विचित्र रूप से चौंक पड़ना और पंडिताइन चाची का स्वर कान में पड़ते ही उसके सारे शरीर का थरथरा उठना, मेरे विस्मय को बढ़ा ही नहीं देता था, प्रत्युत उसे भय में बदल देता था। और बिन्दा की आँखें तो मुझे पिंजड़े में बन्द चिड़िया की याद दिलाती थीं।

एक बार जब दो-तीन करके तारे गिनते-गिनते उसने एक चमकीले तारे की ओर उँगली उठाकर कहा—"वह रही मेरी अम्मा", तब तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। क्या सबकी एक अम्मा तारों में होती है और एक घर में ? पूछने पर बिन्दा ने अपने ज्ञानकोष में से कुछ कण मुझे दिये और तब मैंने समझा कि जिस अम्मा को ईश्वर बुला लेता है, वह तारा बनकर ऊपर से बच्चों को देखती रहती है और जो बहुत सजधज से घर में आती है, वह बिन्दा की नई अम्मा जैसी होती है। मेरी बुद्धि सहज ही पराजय स्वीकार करना नहीं जानती, इसी से मैंने सोचकर कहा, तुम नई अम्मा को पुरानी अम्मा क्यों नहीं कहतीं, फिर न वे नई रहेंगी, न डांटेंगी।

बिन्दा को मेरा उपाय कुछ जँचा नहीं, क्योंकि वह तो अपनी पुरानी अम्मा को खुली पालकी में लेटकर जाते और नई को बन्द पालकी में बैठकर आते देख चुकी थी। अतः किसी को भी पदच्युत करना उसके लिए कठिन था।

पर उसकी कथा से मेरा मन तो सचमुच आकुल हो उठा। अतः उसी रात को मैंने माँ से बहुत अनुनयपूर्वक कहा—"तुम कभी तारा न बनना, चाहे भगवान् कितना ही चमकीला तारा बनावें।" माँ बेचारी मेरी विचित्र मुद्रा पर विस्मित होकर कुछ बोल भी न पाई थीं कि मैंने अकुंठित भाव से अपना आशय प्रकट कर दिया—"नहीं तो पंडिताइन चाची जैसी नई अम्मा पालकी में बैठकर आ जायगी और फिर मेरा दूध, बिस्कुट, जलेबी सब बंद हो जायगा और मुझे

बिन्दा बनना पड़ेगा।" माँ का उत्तर तो मुझे स्मरण नहीं, पर इतना याद है कि उस रात उनकी धोती का छोर मुट्ठी में दबाकर ही मैं सो पाई थी।

बिन्दा के अपराध तो मेरे लिए अज्ञात थे, पर पंडिताइन चाची के न्यायालय से मिलनेवाले दंड के सब रूपों से मैं परिचित हो चुकी थी। गर्मी की दोपहर में मैंने बिन्दा को आँगन की जलती धरती पर बार-बार पैर उठाते और रखते हुए घंटों खड़ा देखा था। चौके के खंभे से दिन-दिन भर बंधा पाया था और भूख से मुरझाए मुख के साथ पहरों नई अम्माँ और खटोले में सोते मोहन पर पंखा झलते देखा था। उसे अपराध का ही नहीं, अपराध के अभाव का भी दंड सहना पड़ता था; इसी से पंडितजी की थाली में पंडिताइन चाची का ही काला-मोटा और घुँघराला बाल निकलने पर भी दंड बिन्दा को मिला। उसके छोटे-छोटे हाथों से धुल न सकने वाले, उलझे, तेलहीन बाल भी अपने स्वाभाविक भूरेपन और कोमलता के कारण मुझे बड़े अच्छे लगते थे। जब पंडिताइन चाची की कैंची ने उन्हें कूड़े के ढेर पर बिखेरकर, उनके स्थान को बिल्ली की काली धारियों जैसी रेखाओं से भर दिया, तो मुझे रुलाई आने लगी; पर बिन्दा ऐसी बैठी रही, मानो सिर और बाल, दोनों नई अम्माँ के ही हों।

और एक दिन याद आता है। चूल्हे पर चढ़ाया दूध उफना जा रहा था। बिन्दा के नन्हें-नन्हें हाथों ने दूध की पतीली उतारी अवश्य, पर वह उसकी उँगलियों से छूटकर पैरों पर गिर पड़ी। खौलते दूध से जले पैरों के साथ दरवाजे पर खड़ी बिन्दा का रोना देख मैं तो हतबुद्धि-सी हो रही। पंडिताइन चाची से कहकर वह दवा क्यों नहीं लगवा लेती, यह समझना मेरे लिए कठिन था। उस पर जब बिन्दा मेरा हाथ अपने जोर से धड़कते हुए हृदय से लगाकर कहीं छिपा देने की आवश्यकता बताने लगी, तब तो मेरे लिए सब कुछ रहस्यमय हो उठा।

उसे मैं अपने घर में खींच लायी अवश्य, पर न ऊपर के खंड में माँ के पास ले जा सकी और न छिपने का स्थान खोज सकी। इतने में दीवारें लाँघकर आनेवाले, पंडिताइन चाची के उग्र स्वर ने, भय से हमारी दिशाएँ रूँध दीं। इसी से हड़बड़ाहट में हम दोनों उस कोठरी में जा घुसीं, जिसमें गाय के लिए घास भरी जाती थी। मुझे तो घास की पत्तियाँ चुभ भी रही थीं, कोठरी का अंधकार भी कष्ट दे रहा था, पर बिन्दा अपने जले पैरों को घास में छिपाने और दोनों ठंडे हाथों से मेरा हाथ दबाए ऐसी बैठी थी, मानो घास का चुभता हुआ ढेर रेशमी बिछौना बन गया हो।

मैं तो शायद सो गई थी, क्योंकि जब घास निकालने के लिए आया हुआ

गोपी इस अभूतपूर्व दृश्य की घोषणा करने के लिए कोलाहल मचाने लगा, तब मैंने आँखें मलते हुए पूछा—क्या सवेरा हो गया ?

माँ ने बिन्दा के पैरों पर तिल का तेल और चूने का पानी लगाकर जब अपने विशेष संदेशवाहक के साथ उसे घर भिजवा दिया, तब उसकी क्या दशा हुई, यह बताना कठिन है; पर इतना तो मैं जानती ही हूँ कि पंडिताइन चाची के न्याय-विधान में न क्षमा का स्थान था, न अपील का अधिकार।

फिर कुछ दिनों तक मैंने बिन्दा को घर-आँगन में काम करते नहीं देखा। उसके घर जाने से माँ ने मुझे रोक दिया था, पर वे प्रायः कुछ अंगूर और सेब लेकर वहां हो आती थीं। बहुत खुशामद करने पर रुकिया ने बताया कि उस घर में 'महारानी' आयी हैं। क्या वे मुझसे नहीं मिल सकतीं, पूछने पर वह मुँह में कपड़ा ठूंसकर हँसी रोकने लगी। जब मेरे मन का कोई समाधान न हो सका, तब मैं एक दिन दोपहर को सबकी आंख बचाकर बिन्दा के घर पहुँची। नीचे के सुनसान खंड में बिन्दा अकेली एक खाट पर पड़ी थी। आंख गड्ढे में घुस गई थीं, मुख दानों से भरकर न जाने कैसा हो गया था और मैली-सी चादर के नीचे छिपा शरीर बिछौने से भिन्न ही नहीं जान पड़ता था। डाक्टर, दवा की शीशियां, सिर पर हाथ फेरती हुई माँ और बिछौने के चारों-ओर चक्कर काटते हुए बाबूजी के बिना भी बीमारी का अस्तित्व है, यह मैं नहीं जानती थी, इसी से उस अकेली बिन्दा के पास खड़ी होकर मैं चकित-सी चारों-ओर देखती रह गई। बिन्दा ने ही कुछ संकेत और अस्पष्ट शब्दों में बताया कि नई अम्मा मोहन के साथ ऊपर के खंड में रहती हैं, शायद चेचक के डर से। सवेरे-शाम बरौनी आकर उसका काम कर जाती है।

फिर तो बिन्दा को देखना संभव न हो सका, क्योंकि मेरे इस आज्ञा-उल्लंघन से माँ बहुत चिंतित हो उठी थीं।

एक दिन सवेरे ही रुकिया ने उनसे न जाने क्या कहा कि वे रामायण बंद कर बार-बार आंखें पोंछती हुई बिंदा के घर चल दीं। जाते-जाते वे मुझे बाहर न निकलने का आदेश देना न भूली थीं, इसी से इधर-उधर से झाँककर देखना आवश्यक हो गया। रुकिया मेरे लिए त्रिकालदर्शी से कम न थी, परन्तु वह विशेष अनुनय-विनय के बिना कुछ बताती ही नहीं थी और उससे अनुनय-विनय करना मेरे आत्मसम्मान के विरुद्ध पड़ता था। अतः खिड़की से झाँककर मैं बिन्दा के दरवाजे पर जमा हुए आदमियों के अतिरिक्त और कुछ न देख सकी और इस प्रकार की भीड़ से विवाह और बारात का जो सम्बन्ध है, उसे मैं जानती थी। तब क्या उस घर में विवाह हो रहा है और हो रहा है तो किसका;

आदि प्रश्न मेरी बुद्धि की परीक्षा लेने लगे। पंडितजी का विवाह तो तब होगा, जब दूसरी पंडिताइन चाची भी मरकर तारा बन जायँगी और बैठ न सकनेवाले मोहन का विवाह संभव नहीं, यही सोच-विचारकर मैं इस परिणाम पर पहुँची कि बिन्दा का विवाह हो रहा है और उसने मुझे बुलाया तक नहीं! इस अचिन्त्य अपमान से आहत मेरा मन सब गुड़ियों को साक्षी बनाकर बिंदा को किसी भी शुभ कार्य में न बुलाने की प्रतिज्ञा करने लगा।

कई दिन बिन्दा के घर झांककर जब मैंने मां से उसके ससुराल मे लौटने के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब पता चला कि वह तो अपनी आकाशवासिनी अम्मा के पास चली गयी। उस दिन से मैं प्राय: चमकीले तारे के आसपास फैले छोटे तारों में बिन्दा को ढूंढ़ती रहती, पर इतनी दूर से पहचानना क्या सम्भव था?

तब से कितना समय बीत चुका है, पर बिन्दा और नई अम्मा की कहानी शेष नहीं हुई। कभी हो सकेगी या नहीं, इसे कौन बता सकता है?

रघुवीर सिंह
[सन् १९०८—.......]

ताजमहल

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश्वर की अत्युत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाया चाहता है। मनुष्य-जाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे, जिसे पाकर वह अमर हो जाय। किन्तु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रति दिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है, तब उसका हृदय बेचैनी के मारे तड़पने लगता है। भविष्य में आनेवाले अपने अन्त के तथा उसके अनन्तर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं, अपने सर्वस्व के विनष्ट होने के विचार मात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है। वह चाहता है कि किसी भी प्रकार इस अप्रिय कठोर सत्य को वह भूल जाय, और उसे ही भुलाने के लिए, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही को कई बार मनुष्य सुख-सागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचार मात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के उस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं, किन्तु उनकी समग्र वस्तुएँ, स्मृतियाँ, स्मृति-चिन्ह मात्र भी न रहेगा और उनको याद करनेवाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक संसार में अपनी स्मृतियाँ—अमिट स्मृतियां छोड़ जाने को विकल हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनका अन्त अवश्यम्भावी है, किन्तु सोचते हैं कि सम्भव है, उनकी स्मृतियां संसार में रह जायँ। पिरेमिड, स्फिक्स, बड़े-बड़े मकबरे, कीर्तिस्तम्भ, कीलियाँ, विजय-द्वार, विजय-तोरण आदि कृतियाँ मनुष्य की इसी इच्छा के फल हैं। एक तरह से देखा जाय तो इतिहास भी अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। यों अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए मनुष्य ने भिन्न-भिन्न प्रयत्न किए,

किसी ने एक मार्ग का अवलम्बन किया, किसी ने दूसरी राह पकड़ी। कई एक विफल हुए, अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानव समाज की स्मृति पर चिन्ह तक विद्यमान नहीं है।

बहुतों के तो ऐसे प्रयत्नों के खंडहर आज भी संसार में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूक भाव से मनुष्य की इस इच्छा को देखकर हँसते हैं और साथ ही रोते भी हैं। मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आँसू गिराते हैं। परन्तु यह देखकर कि अभी तक मनुष्य अपनी विफलता का अनुभव नहीं कर पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही दुराशा, उसका पीछा नहीं छोड़ती है, मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल में फँसा हुआ है, वे मूक भाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विक्षिप्त कर देनेवाला अट्टहास करते हैं।

परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति है। यद्यपि समय के सामने किसी की भी नहीं चलती, तथापि कई मस्तिष्कों ने ऐसी खूबी से काम किया, उन्होंने ऐसी चालें चलीं कि समय के इस प्रलयंकारी भीषण प्रवाह को भी बाँधने में वे समर्थ हुए। उन्होंने काल को सौन्दर्य के अदृश्य किन्तु अचूक पाश में बाँध डाला है, उसे अपनी कृतियों की अनोखी छटा दिखाकर लुभाया है, यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृति के ही नहीं, किन्तु अपने भावों के स्मारकों को भी चिरस्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानव-मस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्भुत उदाहरण है। किन्तु सौन्दर्य का वह अचूक पाश........समय के साथ मनुष्य भी उसमें बँध जाता है, समय का प्रलयंकारी प्रवाह रुक जाता है; किन्तु मनुष्य के आँसुओं का सागर उमड़ पड़ता है, समय स्तब्ध होकर अब भी उस समाधि को ताक रहा है। सूरज निकलता और अस्त हो जाता है, चाँद घटता और बढ़ता है, किन्तु ताज की वह नव-नूतनता आज भी विद्यमान है, शताब्दियों से बहनेवाले आँसू ही उस सुन्दर समाधि को धो-धोकर उसे उज्ज्वल बनाए रखते हैं।

* * *

वह अन्धकारमयी रात्रि थी। सारे विश्व पर घोर अन्धकार छाया हुआ था, तो भी जग सोया न था। संसार का ताज, भारतीय साम्राज्य का वह जगमगाता हुआ सितारा, भारत-सम्राट् के हृदय-कुमुद का वह समुज्ज्वल चाँद आज सर्वदा के लिए अस्त होने को था। शिशु को जन्म देने में माता की जान पर आ बनी थी। स्नेह और जीवन की अन्तिम घड़ियाँ थीं, उन सुखमय दिनों

का प्रेम तथा आह्लाद से पूर्ण छलकते हुए उस जीवन का अब अन्त होनेवाला था। संसार कितना अचिरस्थायी है !

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत-सम्राट् के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग़ बुझ रहा था। अब भी स्नेह बहुत था, किन्तु अकाल काल का झोंका आया, वह झिलमिलाती हुई लौ उसे सहन नहीं कर सकी। धीरे-धीरे प्रकाश कम हो रहा था, दुर्दिन को काली घटाएँ उस रात्रि के अन्धकार को अधिक कालिमामय बना रही थीं, आशा-प्रकाश की अन्तिम ज्योति-रेखाएँ निराशा के उस अन्धकार में विलीन हो रही थीं। और तब....सब अँधेरा ही अँधेरा था।

इस सांसारिक जीवन-यात्रा की अपनी सहचरी, प्राणप्रिया से अन्तिम भेंट करने शाहजहाँ आया। जीवन-दीपक बुझ रहा था, फिर भी अपने प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को देखकर पुनः एक बार लौ बढ़ी, बुझने से पहले की ज्योति हुई, मुमताज के नेत्र खुले। अन्तिम मिलाप था। उन अन्तिम घड़ियों में, उन आंखों द्वारा क्या-क्या मौनालाप हुआ होगा, उन प्रेमियों के हृदयों कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है ? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की वे बातें लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते हुए मुँह से नहीं लिख सकती है।

अन्तिम क्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था, देखती आंखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत-सम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बेबस बैठा अपनी किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा लेने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमंगों पर पाला पड़ रहा था। क्या-क्या उम्मीदें थीं, क्या-क्या अरमान थे ? जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी, तभी शाहजहाँ को उसकी जीवन-संगिनी ने छोड़ दिया। ज्यों ही सुख-मदिरा का प्याला ओठों को लगाया कि वह प्याला अनजाने गिर पड़ा, चूर-चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिए अदृश्य हो गई।

हाय ! अन्त हो गया, सर्वस्व लुट गया। परम प्रेमी, जीवन-यात्रा का एकमात्र साथी सर्वदा के लिए छोड़कर चल बसा। भारत सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताजमहल सदा के लिए इस लोक से विदा हो गई। शाह-जहाँ भारत का सम्राट् था, जहान का शाह था, परन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते हैं, जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला मात्र है। वे यह भी बताते हैं कि

इस जीवन का संग तथा वियोग क्या है—एक प्रवाह में संयोग से साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों के साथ तथा विलग होने की कथा है। परन्तु क्या ये विचार एक संतप्त हृदय को शान्त कर सकते हैं? क्या ये भावनाएँ चिरकाल की विरहाग्नि मे जलते हुए हृदय को सान्त्वना प्रदान कर सकती हैं? सांसारिक जीवन की व्यथाओं से दूर बैठा हुआ जीवन-संग्राम का एक तटस्थ दर्शक चाहे कुछ भी कहे; किन्तु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए, सांसारिक घटनाओं के घोर थपेड़े खाते हुए हृदयो की क्या दशा होती है, यह एक भुक्तभोगी ही बता सकता है।

* * *

वह चली गई, सर्वदा के लिए चली गई। अपने रोते हुए प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को, अपने विलखते हुए प्यारे बच्चों को तथा समग्र दु:खी संसार को छोड़कर उस अँधियारी रात में न जाने वह कहाँ चली गई। चिरकाल का वियोग था। शाहजहाँ की आँख से एक आँसू ढलका, उस सन्तप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुन्दर शरीर पृथ्वी की भेंट हो गया, यदि कुछ शेष था तो उसकी वह सुखप्रद स्मृति, तथा उसकी स्मृति पर, उसके चिर वियोग पर आहें, नि:श्वासें और आंसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुन्दर मूर्ति मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों चूर्ण हो गई, और उस मूर्ति के वे निर्जीव अवशेष।...जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अंचल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तप्त आँखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकलकर वे इस वाह्य जगत में आए थे। वे भी समय के साथ सर्द होने लगे। समय के ठण्डे झोंकों की थपकियाँ खाकर उन्होंने एक ऐसा सुन्दर स्वरूप धारण किया कि आज भी उन्हें देखकर न जाने कितने आँसू ढुलक पड़ते हैं, और न जाने कितने हृदयों में हलचल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर वहाए गए शाहजहाँ के वे आँसू चिरस्थायी हो गए।

सब कुछ समाप्त हो गया था, किन्तु अब भी एक आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी प्रियतमा के प्रति, उस अन्तिम भेंट के समय किए गए अपने प्रण को वह नहीं भूला था। उसने सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में, भारत के ही नहीं, संसार के उस चांद की उस शुष्क हड्डियों पर एक ऐसी कब्र बनाए कि वह संसार भर के मकबरों का ताज हो। शाहजहाँ को सूझी कि अपनी प्रेयसी की स्मृति को तथा

उसके प्रति अपने अगाध विशुद्ध प्रेम को स्वच्छ, श्वेत स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करें।

धीरे-धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तट पर एक मकबरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनाया गया, उस पर सफेद संगमरमर का ऊँचा चौतरा निर्माण किया गया, जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाए गए, जो बेतार के तार से चारों दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं और साथ ही उसका यशोगान भी कर रहे हैं। मध्य में शनैः शनैः मकबरा उठा। वह मकबरा भी उस श्वेत वर्णवाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान सौन्दर्य में अनुपम तथा अद्वितीय है। अन्त में उस भव्य मकबरे को एक अतीव सुन्दर, सुडौल, महान् गुम्बज का ताज पहनाया गया।

पाठको! उस सुन्दर मक़बरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा भी नहीं कर सकती, फिर इस बेचारी जड़ लेखनी का क्या? अनेक शताब्दियाँ बीत गईं, भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। भारत की वह सुन्दर कला, तथा उस महान् समाधि के वे अज्ञात निर्माणकर्ता भी समय के अनन्त गर्भ में न जाने कहाँ विलीन हो गए, परन्तु आज भी वह मक़बरा खड़ा हुआ अपने सौन्दर्य से संसार को लुभा रहा है। समय तो उसके पास फटकने भी नहीं पाता कि उसकी नूतनता को हर सके, और मनुष्य, बेचारा मर्त्य, वह तो उस मकबरे के तले बैठा सिर धुनता रहा है। यह मकबरा शाहजहाँ की उस महान् साधना का, अपनी प्रेमिका के प्रति उस अनन्य तथा अगाध प्रेम का फल है। वह कितना सुन्दर है? वह कितना करुणोत्पादक है? आँखें ही उसकी सुन्दरता को देख सकती हैं, हृदय ही उसकी अनुपम सुकोमल करुणा का अनुभव कर सकता है। संसार उसकी सुंदरता को देखकर स्तब्ध है, सुखी मानव-जीवन के इस करुणा-जनक अन्त को देखकर क्षुब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृता प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की अंजलि अर्पण की, तथा भारत ने अपने महान् शिल्पकारों और चतुर कारीगरों के हाथों शुद्ध प्रेम की उस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवाकर पवित्र प्रेम की वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धांजलि अर्पित की, उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

* * *

बरसों के परिश्रम के बाद अन्त में मुमताज का वह मकबरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षों की साध पूरी हुई। एक महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। इस मकबरे के पूरे होने पर जब शाहजहाँ बड़े समारोह के साथ उसे देखने गया

होगा, आगरे के लिए वह दिन कितना गौरवपूर्ण हुआ होगा। उस दिन का—भारत का ही नहीं, संसार की शिल्पकला के इतिहास के उस महान् दिवस का—वर्णन इतिहासकारों ने कहीं भी नहीं किया है। कितने सहस्र नर-नारी, आबाल-वृद्ध उस दिन उस अपूर्व मकबरे के—संसार की उस महान्, अनुपम कृति के दर्शनार्थ एकत्रित हुए होंगे? उस दिन मकबरे को देखकर भिन्न-भिन्न दर्शकों के हृदयों में कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे? किसी को इस महान् कृति की कृति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने यह देखकर गौरव का अनुभव किया होगा कि उनके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है, जिसकी तुलना करने के लिए संसार में कदाचित् ही दूसरी कोई वस्तु मिले, कई एक उस मकबरे की छवि को देखकर मुग्ध हो गए होंगे, न जाने कितने चित्रकार उस सुन्दर कृति को अंकित करने के लिए चित्रपट, रंग की प्यालियाँ और तूलिकाएँ लिए दौड़ पड़े होंगे, न जाने कितने कवियों के मस्तिष्क में कैसी-कैसी अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

परन्तु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था, जिसके हृदय में भिन्न-भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध भी हुआ था। दो आँखें ऐसी भी थीं, जो मकबरे की उस बाह्य सुन्दरता को चीरती हुई एकटक उस कब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आँखें थीं मुमताज के प्रियतम की आँखें। जिस समय शाहजहाँ ने ताज के उस अद्वितीय दरवाजे पर खड़े होकर उस समाधि को देखा होगा, उस समय उसके हृदय की क्या दशा हुई होगी, यह वर्णन करना अतीव कठिन है। उसके हृदय में शान्ति हुई होगी कि वह अपनी प्रियतमा के प्रति किए गए अपने प्रण को पूर्ण कर सका। उसको गौरव का अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा की कब्र—अपनी जीवन-संगिनी की यादगार—ऐसी बनी कि उसका सानी शायद ही मिले। किन्तु उस जीवित मुमताज के स्थान पर, अपनी जीवन-संगिनी की हड्डियों पर यह कब्र कैसी ही सुन्दर क्यों न हो—पाकर शाहजहाँ के हृदय में दहकती हुई चिर वियोग की अग्नि क्या शान्ति हुई होगी? क्या श्वेत, सर्द पत्थर का वह सुन्दर, अनुपम मकबरा मुमताज की मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर सकता था? मकबरे को देखकर शाहजहाँ की आँखों के सम्मुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज के साथ वह सुखपूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज की स्मृति पर पुनः आँसू ढुलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृतियाँ जाग उठी होंगी और चोट खाए हुए उस हृदय के वे पुराने घाव फिर हरे हो गए होंगे।

पाठको! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देखकर दो आँसू बहाए बिना नहीं रह सकते, तब आप ही स्वयं विचार कर सकते हैं कि

शाहजहाँ की क्या दशा हुई होगी। अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था, और रहे-सहे सुख को प्राप्ति होने को थी, उस सुखपूर्ण जीवन का मध्याह्न होने ही वाला था कि उस जीवन-सूर्य को ग्रहण लग गया, और वह ऐसा लगा कि वह जीवन-सूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुन्दरतापूर्ण तेजोमयी रश्मियों का एक घनीभूत सुन्दर पुंज है, उस ग्रहित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

* * *

शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देखकर रोया होगा। मरते समय भी उस सुम्मन बुर्ज में शय्या पर पड़ा वह ताजमहल को देख रहा था। और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान में बैठे घण्टों उसे निहारा करते हैं, और प्रेमपूर्ण जीवन के नष्ट होने की स्मृति पर अचिरस्थायी मानव जीवन की उस करुण कथा पर रोते हैं। न जाने कितने यात्री दूर-दूर देशों से बड़े भयंकर समुद्र पारकर उस समाधि को देखने के लिए खिचे चले आते हैं! कितनी उमंगों से वे आते हैं, परन्तु उसाँसें भरते हुए ही वे वहाँ से लौटते हैं। कितने हर्ष और उल्लास के साथ वे आते हैं, किन्तु दो बूँद आँसू बहाकर और हृदय पर दुःख का भार लिये ही वे वहाँ से निकलते हैं। प्रकृति भी प्रतिवर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भंग होने की करुण स्मृति पर रोती है।

मनुष्य जीवन की, मनुष्य के दुःखपूर्ण जीवन की—जहाँ मनुष्य की कई वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य के प्रेम के बंधन बँधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़कर टूट जाते हैं—मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति—उसकी अतृप्त वासनाओं, अपूर्ण आकांक्षाओं तथा खिलते हुए प्रेम-पुष्प की वह समाधि—आज भी यमुना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह विस्तृत साम्राज्य, उसका वह अमूल्य तख्तताऊस, उसका वह अतीव महान् घराना, शाही जमाने का चकाचौंध कर देनेवाला वह वैभव, आज सब कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर झोंकों में पड़कर वे सब आज विनष्ट हो चुके हैं। ताजमहल का भी वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे बहुमूल्य रत्न भी न जाने कहाँ चले गए, किन्तु आज भी ताजमहल अपनी सुन्दरता से समय को लुभाकर उसे भुलावा दे रहा है, मनुष्य को क्षुब्ध कर उसे रुला रहा है, और यों मानव-जीवन की इस करुण कथा को चिरस्थायी बनाए हुए है। वैभव से विहीन ताज का यह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहाता है।

आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज आती है—मैं भूला नहीं हूँ। आज

भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूंद प्रतिवर्ष उस सुन्दर सम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है, वे कठोर निर्जीव पत्थर भी प्रतिवर्ष उस सुन्दर सम्राज्ञी की मृत्यु को यादकर, मनुष्य की उस करुण कथा के इस दुःखान्त को देखकर पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से अनजाने एक आँसू ढुलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई भग्न मानव-जीवन की वह करुण कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने के लिए दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न-हृदय की व्यथा को याद कर कभी-कभी यमुना नदी का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके वक्षःस्थल पर भी आँसुओं की बाढ़ आती है।

उन श्वेत पत्थरों में से आवाज आती है—"आज भी मुझे उसकी स्मृति है।" आज भी उस खिलते हुए प्रेम-पुष्प का सौरभ—उस प्रेम-पुष्प का, जो अकाल में ही डण्ठल से टूट पड़ा—उन पत्थरों में रम रहा है। वह स्खलित पुष्प सूख गया, उसका भौतिक स्वरूप इस लोक में रह गया, परन्तु उस सुन्दर पुष्प की आत्मा विलीन हो गई, अनन्त में अन्तर्हित हो गई। अपने अनन्त के पथ पर अग्रसर होत हुई वह आत्मा उस स्खलित पुष्प को छोड़कर चली गई, पत्थर की उस सुन्दर किन्तु व्यक्त समाधि में केवल उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने निराकार मृत्यु को अक्षय सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप प्रदान किया। मनुष्य के अचिरस्थायी प्रेम को, प्रेमाग्नि की धधकती हुई ज्वाला को, स्नेह दीपक की झिलमिलाती हुई उस उज्ज्वल लौ को चिरस्थायी बनाया।

रामधारीसिंह 'दिनकर'
[सन् १९०८—....]

समकालीन सत्य से कविता का वियोग

अकसर मैंने साहित्यिकों के बीच यह कानाफूसी सुनी है कि सामयिक जीवन की व्याख्या करनेवाला साहित्य चिरायु नहीं होता तथा अमरत्व प्राप्त करने के लिए उसे केवल उन्हीं तत्त्वों पर अपने को केन्द्रित करना पड़ता है, जिन्होंने मनुष्य के साथ जन्म लिया और मनुष्य के साथ ही मिटनेवाले हैं। इस धारणा का आधार यह माना जाता है कि संसार के सभी प्रमुख काव्यों में उन कथानकों का उपयोग हुआ है, जो काव्य-रचना के समय में नहीं, बल्कि उससे सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले ही घटित हो चुके थे। इस उदाहरण से यह भी समझा जाता है कि प्राचीन विषयों का चुनाव पसन्द के चलते नहीं, बल्कि अनिवार्यता के कारण होता है, क्योंकि अतीत की घटनाओं के आयुर्बल की जाँच हो चुकी है और वर्त्तमान की अमरता अभी संदिग्ध है।

सामयिकता के विरोध में मानव के शाश्वत भावों की भी दुहाई दी जाती है, लेकिन यह बतलाया नहीं जाता कि वे भाव कौन से हैं, जो मनुष्य के जन्म के बाद उत्पन्न और उसकी मृत्यु के पहले ही विलीन हो जाते हैं। और न इसका ही दृष्टान्त दिया जाता है, जब कोई सच्ची काव्य-प्रतिभा सामयिक भावों को अपनाकर विनष्ट हो गई हो। मनुष्य का कोई भाव एक बार उदित होकर सदा के लिए अस्त नहीं हो जाता और न कोई दूसरा सदैव प्रधान ही रहता है। जीवन की परिस्थिति और समय के वातावरण के अनुसार मनुष्य के अन्दर सामयिक भावों का जागरण होता रहता है, जो समकालीन जीवन में प्रधान रहते हैं। युग के आलोक में इन्हीं भावों का ताप रहता है और तात्कालिक दृष्टि का निर्माण भी इन्हीं के आधार पर होता है। सामयिक दृष्टि का सम्बन्ध समकालीन घटनाओं तक ही सीमित हो, सो बात नहीं है, क्योंकि अतीत जीवन को देखने का भी प्रत्येक युग का अपना दृष्टिकोण होता है, जो समकालीन साहित्य में प्रधान रहता है। प्रत्येक युग अपनी आग से परम्परागत इतिहास

को खौलाता है और भविष्य की ओर लपटें फेंकता है। उसकी आंच में पड़कर प्राचीन संस्कृतियाँ नया रंग पकड़ती हैं और परम्परागत साहित्यिक प्रकरण भी बहुधा नए अर्थ ग्रहण करते हैं। जीवन का सबसे बड़ा सत्य वर्त्तमान है और मनुष्य का कोई भी विचार इसके प्रभावों से अक्षुण्ण नहीं रह सकता। वर्त्तमान की आँख से हम अतीत को देखते हैं और आज की कल्पना आनेवाले कल का स्वप्न लाती है। अतएव प्रथम तो सच्चा साहित्य सामयिकता को भुलाकर लिखा ही नहीं जा सकता और अगर कोई ऐसा अप्राकृतिक साहित्य लिखे भी, तो भविष्य में उसके जीवित अथवा लोकप्रिय रहने की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि आनेवाला मनुष्य उन सिद्धान्तों से समझा नहीं जा सकता, जो गुज़रे हुए मनुष्यों के मापदण्ड थे।

अतीत की घटनाएँ अमर और वर्तमान की नश्वर होती हैं, साहित्य में यह हास्यास्पद प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए; क्योंकि किसी भी साहित्य का आदर इसलिए नहीं हुआ करता चूँकि उसमें काव्य-द्रव्य-परिपूर्ण किसी अमर घटना का वर्णन होता है, बल्कि इसलिए कि घटनाओं के वर्णन के बहाने उसमें किसी गम्भीर सत्य की सृष्टि की जाती है, जो सबसे पहले अपने ही युग के अधिक से अधिक लोगों को अपील करता है। काव्य की वासभूमि इतिहास की घटनाएँ नहीं, बल्कि कवि का हृदय होता है। कहने को तो गुप्तजी ने भी रामचरित पर हर कलम उठानेवाले के लिए कवि के पद को 'सहज' और 'संभाव्य' कह दिया है, लेकिन सच्चाई तो तब ज़ाहिर हो, जब कोई पारखी वाल्मीकि से लेकर पं० राधेश्याम तक की तुलना करे। प्राचीन विषय अगर उच्च काव्य की गारण्टी होते, तो व्यास और होमर के विषयों पर बाद को लिखनेवाले लोग व्यास और होमर नहीं, तो उनसे थोड़ा ही हीन हुए होते। लेकिन सो बात नहीं है। रामकथा पर राधेश्यामी रामायण और समकालीन कल्पना पर 'पथिक' और 'स्वप्न' जैसे ऊँचे काव्य लिखे गए हैं। साहित्य में इतिहास की घटनाएँ अपने बल पर नहीं जीतीं। अमरता का वरदान उन्हें कला के साहचर्य्य से मिलता है। ऐतिहासिक राम की सत्यता में सन्देह हो सकता है, किन्तु वाल्मीकि और तुलसी के हृदय से निकलनेवाले राम अमर और चिर-पूज्य हैं।

बहस के लिए अगर यह मान भी लें कि बहुत से सत्काव्यों की रचना प्राचीन विषयों को ही लेकर हुई है, तब भी उन रचनाओं में विषय के कंकाल को छोड़कर प्राचीनता का और कोई चिह्न नहीं मिलेगा। इसके सिवा सामयिकता का अधिक से अधिक रस पीनेवाली कृतियों के सामने वे कृतियाँ अशक्त और निर्जीव सी लगेंगी, जिनकी रचना धरती और समय के दाह से दूर

रहकर की गई है। साहित्य की आवाज़ अपने समय की आवाज़ होती है, किसी दूसरे युग की प्रतिध्वनि नहीं। साहित्य तो सदैव उसी युग की पूर्ण और व्यापक अभिव्यक्ति होता है, जो उसे जन्म देता है। अपने ही युग के विचार और भावनाओं के माध्यम से वह उन भावों को प्रकट करता है, जिन्हें हम सार्वभौमिक अथवा सनातन कहते हैं। प्राचीनता का ऋण उस पर इतना ही होता है कि उससे वह कुछ ईंट और पत्थर उधार लेता है। बाकी सारी चीजें—शब्द और संगीत, आशा और उमंग, प्रकृति और मानव-स्वभाव की पृष्ठभूमि, स्वप्न और विश्वास—ऐसी हैं, जिन पर सभी युगों का समान अधिकार है। इतना ही नहीं, बल्कि जिन प्रकरणों और प्रसङ्गों को हम अतीत की देन समझते हैं, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, वे भी सामयिकता के ही प्रतिरूप से जान पड़ेंगे। सूरदास ने अपने काव्य में द्वापर को सदेह उतार दिया है, लेकिन वह तो द्वापर का कंकाल मात्र है। उसके रक्त और मांस, प्राण और वाणी कलियुग की देन हैं, जिनके बिना सूरसागर का द्वापर चिता-भस्म से उठकर खड़ा नहीं हो सकता था। सूर के उद्धव कृष्ण के उद्धव नहीं, बल्कि कबीर की बुझती हुई निर्गुण परम्परा के प्रतीक हैं। उनकी गोपियां व्रज की गोपियां नहीं, प्रत्युत सगुणोपासना की उस भावना की प्रतिमाएँ हैं, जो सूर के समय में अपने पूरे उभार पर आ रही थीं। सूर के आस-पास जो भाव फैले हुए थे, उन्होंने कल्पनात्मक रूप ग्रहण करके उनके काव्य में प्रवेश किया और उन प्रकरणों में जान डाल दी, जो कवि को अतीत से मिले थे।

युग-निरूपण कवि-कला का स्वभाव है और इस क्रिया में इतिहास उसका बाधक नहीं होता। जहां बाधा की संभावना होती है, वहां कवि के सामने इतिहास को मुड़ जाना पड़ता है। कथानक और शैली, दोनों ही इस प्रकार मुड़ते हैं, जिससे युग अपने को सुविधा के साथ अभिव्यक्त कर सके। यही कारण है कि वाल्मीकि के राम तुलसी के राम से भिन्न हैं। आदिकवि से लेकर तुलसी तक की दूरी बहुत बड़ी है और इसके बीच मनुष्य की तार्किकता बहुत आगे बढ़ चुकी थी। शूद्रक के वधिक और यशस्विनी सीता को निर्वासित करनेवाले कठोर प्राणी के रूप में राम को चित्रित करने का साहस तुलसी को नहीं हुआ। अगर बालि-वध में भी वे किसी प्रकार कुछ हेर-फेर कर सकते, तो उनका मन्तव्य चारों-ओर से पूरा हो गया होता। वही राम जब बीसवीं सदी के 'साकेत' में उतरने लगे, तब युग ने उन्हें आर्य-सभ्यता के विस्तारक के रूप में प्रकट किया, अर्थात् एक ही नायक को लेकर भिन्न-भिन्न युगों ने अपनी भिन्न-भिन्न इच्छाओं की अभिव्यक्ति की।

सच तो यह है कि कवि का काव्य-विषय कभी भी अपने समय से दूर नहीं होता। वह जिन चरित्रों का निर्माण किया करता है, वे प्रायः उसके पड़ोसी हुआ करते हैं। सत्कवियों ने कभी ऐसे विषय पर लिखा ही नहीं, जो उनके समय की अवस्थाओं का प्रतिबिम्ब नहीं था। प्रत्येक युग अपने कवि की प्रतीक्षा किया करता है, क्योंकि उसके आगमन के बाद युग के रहस्य खुलने लगते हैं। समय का रहस्योद्घाटन कवि-कर्म की एक प्रमुख विशेषता है। विषय नए हों अथवा प्राचीन, लेकिन कवि जो कुछ भी लिखता है, उसमें क्रिया या प्रतिक्रिया के रूप में उसी युग की व्याख्या होती जाती है। सच्चा कवि अपने समय की रूक्षता से नहीं डरता। युग के हृदय में जो कुछ भी प्रिय भाव हैं, उन्हें वह उल्लास के साथ ग्रहण करता है और इसके विपरीत जो कुछ भी हीन और अप्रिय बातें हैं, उनकी प्रतिक्रियात्मक समीक्षा करता है। जीवन भर छुट्टी मनाने-वाला कवि कोई आलसी और अकर्मण्य जीव होता है, जो अपने समय को अकाव्यात्मक कहकर प्राचीनता के रोमान्स में डूबने जाता है और दिन प्रतिदिन ऊँघते हुए समय से इतनी दूर जा पड़ता है कि उसकी कला अशक्त और क्षीण हो जाती है तथा उसकी वाणी ऐसी नहीं रहती, जिसे उसके समकालीन बन्धु समझ सकें। कला के क्षेत्र में जो कुछ सामयिक सत्य से दूर है, वह दर-असल सारे सत्य से दूर होता है; क्योंकि दूसरों की अनुभूतियों का अर्जित ज्ञान कवि को चाहे जितना भी हो, लेकिन अन्ततः जीवन सम्बन्धी स्वीकृत ज्ञान (datum) उसे अपनी ही अनुभूति से प्राप्त होंगे।

सामयिक जीवन के तिरस्कार और समकालीन सत्य की अवहेलना से कविता को विशिष्टता भले ही मिली हो, लेकिन वह विशिष्टता काव्य और कवि-वर्ग दोनों ही को महँगी पड़ रही है और आज दोनों में से कोई भी जन-जीवन का अंग नहीं रह गया है। रूस को छोड़कर आज समस्त संसार में कविता पर अकर्मण्यता का आरोप है और विद्वान् समालोचक इस बात से चिन्तित हैं कि कविता के पाठकों की संख्या दिनोंदिन कम क्यों होती जा रही है तथा क्या कारण है कि काव्य अपने सामाजिक लक्ष्य की पूर्ति में असमर्थ हो रहा है। अनादिकाल से कवि संसार की सभ्यता और संस्कृति का विधाता रहता आया था। उसका पद मनुष्य के अन्दर देवत्व के रक्षक का था। उसकी रचनाएँ तपोवन का वह पावन निकुञ्ज थीं, जिनमें साधना का बल संचय करके मनुष्य उच्चता की ओर यात्रा करता था। लेकिन वर्त्तमान सभ्यता के निर्माण में उसका कोई हाथ नहीं है। चिन्तकों और वैज्ञानिकों की प्रेरणा से जो नई दुनिया अस्तित्व में आ रही है, उसकी पूर्णता या समुचित निर्माण के लिए किसी

को कवि के साहाय्य की तनिक भी अपेक्षा मालूम नहीं होती। मनुष्य के जिस वर्ग ने अपने लिए जीवन-समीक्षक और विश्व-निरीक्षक का गौरवपूर्ण पद प्राप्त किया था, आज जीवन की नूतन रचना में उसके महत्त्व को स्वीकार करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। समाज से कवि के लिए उत्साह और सम्मान की भावना का लोप हो रहा है और उसकी कृतियाँ लोगों के लिए हलके मनोरंजन का साधन-भर रह गई हैं। आधुनिक काव्य को जनता-जनार्दन के सामूहिक प्रेम का प्रसाद पाने में बड़ी कठिनाई हो रही है और जिन पण्डितों के सहारे उसे यह प्रसाद मिल सकता था, वे भी उसे थोड़े से विशेषज्ञों की ही सम्पत्ति बतला रहे हैं। कवि चिन्तित है कि उसकी वाणी का पहला प्रभाव क्या हुआ। जनता को आश्चर्य है कि कवि की वाणी मनुष्य की वाणी है या किसी अन्य जीव की।

ललित कला के अन्य अङ्गों—चित्रकारी, मूर्त्तिरचना, संगीत और वास्तुविद्या—का उतना बुरा हाल नहीं है। समृद्ध देशों ने उनके रचयिताओं के लिए अनेकानेक वृत्तियों और पुरस्कारों का आयोजन कर रखा है। स्वयं भारतवर्ष में भी उनकी अवस्था कवियों से कहीं अच्छी है। वे भूखों नहीं मरते। सभी गुणों का कुछ न कुछ मोल है। एक कवि ही ऐसा प्राणी है, जिसे यह समझाकर सन्तोष दिया जाता है कि क्षुधा और अभाव तुम्हारा अकल्याण नहीं कर सकते। भूखों मरो, क्योंकि तुम्हारी परम्परा में प्रतिभा का उन्मेष इसी प्रकार होता आया है।

काव्य-कला से राजनीति को क्षोभ है, क्योंकि काव्य ने संघर्ष के बीच घुसकर रण-दुन्दुभी नहीं बजायी। कविता से समाज को शिकायत है कि उसने जनता को नहीं देखा। युग कहता है कि काव्य ने संघर्ष के मार्ग पर मुझे अकेले छोड़ दिया और उन प्रश्नों को देखा तक नहीं, जिनके वेग से मैं आपादमस्तक हिल रहा था। गहन से गहन आध्यात्मिक अनुभूतियाँ आईं और चली गईं, लेकिन कवि सोता रहा। उसकी आँखें खुलीं भी, तो उस समय जब प्रचण्ड शक्तियाँ अपना काम कर चुकी थीं और कवि के लिए साहित्य में विस्मय का चिह्न बनाने के सिवा किसी अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य का अवसर नहीं रह गया था।

आसार कहते हैं कि प्रत्येक देश का कवि अपनी दुर्बलताओं से अवगत हो रहा है और अपनी दीर्घ कालीन युग-विमुखता के लिए सच्चे मन से दुखी है। युग के साथ सामंजस्य स्थापित करने की उसकी चेष्टा आरम्भ हो चुकी है, लेकिन बीच की दूरी बहुत लम्बी है। अपने ही युग में रहते हुए वह अपने समय से दूर है। एक छलांग में अपने काल तक पहुँच जाने से उसे सफलता नहीं मिल सकती, क्योंकि अनुभूतियों का बहुत बड़ा भाण्डार पीछे छूट चुका है

और वर्त्तमान युग में अपने अस्तित्व को सार्थक करने के लिए यह आवश्यक है कि वह पीछे के समस्त कण्टकाकीर्ण मार्गों को देख ले, जिनसे होकर समय यहाँ तक पहुँच सका है। वर्त्तमान युग की पूर्व-धारणाओं के स्पष्ट ज्ञान और विज्ञान की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि की तीव्रतम अनुभूति के बिना उसकी वाणी में वह बल नहीं आ सकता, जिससे उस युग की आत्मा की वाणी और आकार दोनों मिल सकेंगे। कवि की आज की अवस्था उस बालक की-सी है, जो दुःख, त्रास और कोलाहल से भरे हुए घर को देखकर कुछ सहायता करना चाहता है, लेकिन दुःख की कारणभूत अज्ञेय शक्तियों को देखकर चुप रह जाता है। वह कुछ बोलना तो चाहता है, लेकिन नहीं बोलता कि लोग उसे डाँटकर चुप कर देंगे। इस भय से कभी-कभी वह सोचता है कि उसकी स्वप्न-दृष्टि दूसरों की अन्ध-दृष्टि की अपेक्षा सचमुच ही अधिक दूर तक देख सकती है, लेकिन फिर भी वह हठपूर्वक अपने विचार प्रकट नहीं कर सकता; क्योंकि समय से अपरिचित होने के कारण उसका आत्मविश्वास खो-सा गया है और वह इस शंका से ग्रसित है कि संसार को उलटनेवाली शक्तियों पर उसका कोई बस नहीं चल सकता।

आज के कवि ने जानबूझकर इस दयनीय अवस्था को अपनाया हो, सो बात नहीं है। निसर्ग से ही कवियों में धारा के विरुद्ध चलने और कठोरताओं से जूझने की प्रवृत्ति का वास होता है। तलवार उठाए बिना जनता ने उसे वीर होने का श्रेय दिया है और जमीन जीते बिना संसार ने उसे सम्राट् माना है। बहुत बार समय की कठोरताओं से जूझकर उसने मनुष्य के सत्पथ का निर्माण किया है और बहुत बार आपदाएँ झेलकर उसने जीवन के आदर्श की रक्षा की है। आज की युग-विमुखता कवि का कोई स्वाभाविक गुण नहीं, बल्कि एक आकस्मिक अभिशाप है, जो रोमाण्टिक आन्दोलन से उसे विरासत के रूप में प्राप्त हुआ है और जो स्वयं रोमांचवाद के नाम को कलंकित करनेवाला है। रोमाण्टिक आन्दोलन संसार के सभी प्रगतिशील आन्दोलनों का पिता है और इसकी मूलभूत भावनाओं को सबसे पहले अपनाकर कवि ने अपने को क्रान्तिकारी सिद्ध किया था और यह दिखलाया था कि समय के प्रवाह को उलट देने में साहित्य कहाँ तक योग दे सकता है। रोमाण्टिक आन्दोलन का जन्म विद्रोह की भावना को लेकर हुआ था; लेकिन समय पाकर इसके साथ अकर्मण्यता का सम्बन्ध कैसे हो गया, इसे समझने के लिए हमें रोमाञ्चवाद की प्रधान भावशिराओं को देख लेना चाहिए।

इस आन्दोलन की मूलभूत भावनाएँ अधिकांश में रूसो की देन हैं। जिस मनुष्य पर व्यावहारिक ज्ञान की अपेक्षा भावों का अधिक प्राधान्य होता है, वह

समाज से समझौता करने के योग्य नहीं रहता। रूसो का मस्तिष्क बहुत ही प्रौढ़ तथा महान् था; लेकिन उसके जीवन में उन भावनाओं का प्राधान्य था, जिन्हें हम रूढ़ि-प्रयोग के कारण हृदय से संवद्ध समझते हैं। जीवन के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि उस कुशाग्र बुद्धि के बालक की-सी थी, जो छुई-मुई के स्वभाव का होने के कारण संसार को समझकर भी नहीं समझ पाता। वह अपने को अत्यन्त मिलनसार और समाज के अधिक से अधिक प्रेम का अधिकारी समझता था। लेकिन उसे भ्रम था कि लोग उसकी बातों को सहानुभूति के साथ नहीं सुनते, बल्कि उससे घृणा करते हैं। धीरे-धीरे उसके मन में यह भावना घर कर गई कि संसार में उसका कोई मित्र नहीं है और इसके अनिवार्य्य परिणाम स्वरूप उसने समाज के प्रति सारे दायित्व को छोड़कर स्वप्न के संसार में आश्रय लिया। वर्त्तमान से असन्तुष्ट होकर उसने प्राचीनता को ग्रहण किया और भावात्मक तर्कों के सहारे इस निर्णय पर जा पहुँचा कि संसार की प्राथमिक (Primitive) अवस्था अत्यन्त स्वाभाविक और सुन्दर थी तथा आरम्भ का असभ्य मनुष्य ही प्रकृति का सच्चा पुत्र था। इस भावना के साथ साहित्य में प्राथमिकता (Primitivism) का प्रचार हुआ और तभी से सभ्यता के विपरीत एक प्रकार की प्रतिक्रिया शुरू हुई, जो बहुत अंशों में आज भी जारी है। समाज के प्रति असन्तोष की जिस भावना ने प्राथमिकता के सिद्धान्त को जन्म दिया, उसी ने रूसो को व्यक्तिवादी भी बना डाला। वह नहीं चाहता कि तीव्रबुद्धि मनुष्य समाज के नियन्त्रणों को स्वीकार करे। उसने मनुष्य की उन विशेषताओं पर ज़ोर दिया है, जो व्यक्ति को समष्टि से भिन्न रखती हैं—उन गुणों पर नहीं, जो सभी मनुष्यों में समरूप से व्याप्त हैं और जिनके आधार पर व्यक्तियों के योग से समाज की रचना की जाती है।

रूसो के प्राथमिकता और व्यक्तिवाद के सिद्धान्त अपनी जगह पर बहुत सही और दुरुस्त थे। रूसो का जन्म एक ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण हुआ था और उसके विचारों से दुनिया में बड़ी-बड़ी बातें पैदा होनेवाली थीं। उसका सारा दृष्टिकोण ही समकालीन समाज की कृत्रिमता से विद्रोह का दृष्टिकोण था और उसके प्राथमिकता तथा व्यक्तिवाद के सिद्धान्त इस विद्रोह के सहायक थे। प्राथमिकता के सिद्धान्त ने मनुष्य को तत्कालीन समाज के खोखलेपन को दिखलाया और व्यक्तिवाद ने उसे वैयक्तिक शक्तियों के अधिकाधिक विकास की प्रेरणा दी।

साहित्य में आकर प्राथमिकता ने आदिम अवस्था में जीवन की खोज की जिज्ञासा को प्रकट किया। कृषकों का अनवरत श्रम, उनकी परिमित आवश्यकता

और परिमित आय तथा आदि-मानव की निर्मलता के चित्र साहित्य को स्वस्थ बनाने लगे। कवियों की दृष्टि को विस्तार मिला। अपने युग से रूठी हुई कल्पना आदम और हौवा के गीत गाने लगी। लेकिन क्रान्ति-द्वारा निरूपित सिद्धान्त भी काल पाकर ऐसे हो जाते हैं, जिसके विरुद्ध बगावत करना जरूरी हो जाता है। प्राचीनता का सिद्धान्त समाज की कृत्रिमता को ललकारने के लिए स्वीकृत हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे वही एक रोग हो गया। काल पाकर प्राकृतिक जीवन को नागरिक जीवन से भिन्न करनेवाले गुणों को अनुचित प्रधानता मिल गई और कविगण जानबूझकर प्राचीनता का दम भरने लगे। वर्तमान जीवन से असन्तुष्ट होकर प्राचीनता को ग्रहण करने के बदले अब प्राचीनता के लिए ही प्राचीनता का ग्रहण किया जाने लगा। कृत्रिम प्राथमिकता के इस लोभ ने समकालीन जीवन को कवि के लिए अनुकूल समझने की प्रवृत्ति को जन्म दिया और जिस सिद्धान्त ने आरम्भ में कल्पना के लिए एक सरल क्रीड़ा-भूमि की व्यवस्था की थी, उसी ने समकालीन जीवन के प्रति साहित्य में विराग के बीज बो दिए।

व्यक्तिवाद का सिद्धान्त प्राथमिकता के सिद्धान्त से अधिक दूर नहीं था। इससे प्रेरित होकर नागरिक सभ्यता से हटकर वन तथा पर्वतों की पृष्ठभूमि पर एकान्त मानव को अध्ययन करने की पद्धति का जन्म हुआ। प्रकृति और प्राकृतिक सुषमाओं को देखने का पहला दृष्टिकोण बदल गया और स्वयं मनुष्य के व्यक्तित्व में भी एक नए किस्म की दिलचस्पी शुरू हुई। इससे पहले के कवि अपने भावों को तब तक व्यक्त नहीं करते थे, जब तक कि वह विशाल मानव-समुदाय की व्यापक अनुभूति से सम्बद्ध नहीं हो जाय। लेकिन अब व्यक्तिगत अनुभूतियाँ ही प्रधान होने लगीं। वर्णन में जीवन और प्रकृति के स्थान पर उन भावों की प्रधानता शुरू हुई, जो जीवन और प्रकृति पर विचार करनेवाले मनुष्य के हृदय में जाग्रत होते हैं और साहित्य स्वप्न की उन रंगीनियों से भरने लगा, जो बहुधा इन भावों की सहचरियाँ बनकर प्रकट होती हैं। कविता का क्षेत्र भूमि से हटकर वायु और सत्य से हटकर स्वप्न में चला गया। कल्पना अधिक उन्मुक्त होकर खेलने लगी और साहित्य का क्रीड़ाक्षेत्र दिनोंदिन जीवन से अधिक दूर पड़ने लगा।

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त ने कल्पना को स्वतंत्र करके साहित्य का बड़ा ही उपकार किया। व्यक्तिगत भावनाओं के अच्छे से अच्छे गीत, गीति-काव्य के ढाँचे में अच्छी से अच्छी आत्मकथाएँ और व्यक्तित्व की अभिव्यंजना से अच्छे से अच्छा साहित्य इस सिद्धान्त ने पैदा किए हैं। लेकिन व्यक्तिवाद को कला

का सिद्धान्त मान लेना बड़ी ही जोखिम का काम है। साहित्य में तरह-तरह के दायित्वहीन प्रलाप और वैयक्तिक उन्माद के नमूने इसी सिद्धान्त की प्रेरणा से निकले हैं। अंग्रेजी साहित्य की उन्नीसवीं सदी के अपरार्द्ध की रचनाएँ अथवा अंग्रेजी कवियों की अधिकांश वर्तमान कविताओं की बात जाने दीजिए, एक हिन्दी के छायावाद ने ही इसके इतने उदाहरण उपस्थित किए हैं, जो इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि कला के क्षेत्र में व्यक्तिवाद का भयंकर से भयंकर दुरुपयोग हो सकता है। डंचेज के मतानुसार कला में आत्माभिव्यक्ति का वहीं तक महत्व है, जहां तक कलाकार अपने को व्यक्त करते हुए ऐसी बातें कहता है, जिन्हें मानवीय अनुभूति सहज ही स्वीकार कर ले। हम किसी उक्ति की क़ीमत इसलिए नहीं करते चूंकि वह किसी कवि नामधारी जीव के हृदय से निकली है, प्रत्युत इसलिए कि कवि के साथ सम्बन्ध के अलावे भी उसका कुछ अपना महत्व होता है। प्रत्येक पाठक मनोविज्ञान का असाधारण पण्डित ही होता है, इस अनुमान पर साहित्य-रचना का प्रयास हास्यास्पद और निरादरणीय है। व्यक्तिवाद का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उसने समाज और साहित्य के कृत्रिम बन्धनों के विपरीत प्रतिक्रिया को जन्म देकर मनुष्य को धारा के विरुद्ध सोचने की प्रेरणा दी। रूढ़ि से ग्रसित मनुष्य को अपनी शक्ति का ध्यान दिलाया तथा व्यक्ति के जीवन-रस से समाज को अनुप्राणित किया। सच्चा व्यक्तिवाद वह है, जो एक का अध्ययन अनेक के साथ तुलना करके करे और व्यक्ति की अनुभूति की परीक्षा समूह के अनुभवों से मिलाकर करे। व्यक्ति की भावना समय और समाज से भिन्न वस्तु नहीं होती, क्योंकि उसका निर्माण भी समकालीन वातावरण के प्रभाव में ही होता है। इस सिद्धान्त को भूलकर चलनेवाला व्यक्तिवादी किसी न किसी दिन मनुष्य जाति के प्रति अपने कर्त्तव्य को अवश्य भूल जायगा। व्यक्तिवाद ने साहित्य को नई शक्तियां प्रदान की थीं, लेकिन इसका अन्तिम अर्थ कलाकार और जनता के सम्बन्ध-विच्छेद का द्योतक सिद्ध हुआ।

इसके बाद रोमाण्टिक कल्पना आती है, जिसका व्यक्तिवाद के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसका जन्म भी कृत्रिमता के प्रति चैतन्य विरोध के रूप में हुआ था और यह सच है कि इसने अपने विद्रोही रुख को कभी गुम होने नहीं दिया। रोमांचवाद मनुष्य की उस जागृत आत्मा का प्रतीक था, जो किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार करना नहीं चाहती थी। यह तूफ़ान था, जो संसार के प्रत्येक क्षेत्र से झाड़-झंखाड़ वृक्षों को उड़ा फेंकना चाहता था। रोमाण्टिक भावों के जागरण के साथ ही परवशता, दुःख, दारिद्रय और प्रत्येक प्रकार के बन्धन को

तोड़ फेंकने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। इसी आन्दोलन ने धीरे-धीरे बढ़कर समस्त बुर्जुआ समाज के सामूहिक विरोध की भावना को जन्म दिया और यह ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक देश में जातीय भावनाओं के जागरण के साथ रोमाण्टिक जागरण का सीधा सम्बन्ध रहा है। समाजवाद के प्रति हिन्दी के रोमाण्टिक आन्दोलन का जो सहानुभूतिपूर्ण रुख है, उसका कारण भी दोनों की विद्रोह-प्रियता ही है। समाज की कृत्रिम अवस्थाओं के प्रति घोर असन्तोष, समकालीन दुरवस्थाओं की तीव्रालोचना तथा क्रान्ति के आदर्श का ज्वलन्त वर्णन, ये रोमांचवाद के सामाजिक पक्ष की देन हैं। यह आन्दोलन जीवन के अंग-प्रत्यंग में परिवर्त्तन लानेवाला था। इसका मौलिक आधार जीवन की वर्तमान अवस्था के प्रति असन्तोष की भावना पर था और प्रत्येक देश में इसने अपने को दो धाराओं में प्रकट किया। एक के साथ वे लोग थे, जो सामाजिक और राजनैतिक अवस्थाओं में वास्तविक सुधार लाना चाहते थे और जिनकी कला रोमांचपूर्ण होते हुए भी सोद्देश्य और महान् थी। दूसरी धारा के साथ उनका सम्बन्ध था, जिनका अस्तित्व भावों और काल्पनिक विचारों पर अवस्थित था और जो धरती के प्रति किसी प्रकार के दायित्त्व को स्वीकार नहीं करते थे।

असन्तोष का स्वाभाविक लक्ष्य परिवर्तन की चेष्टा होनी चाहिए, न कि दुःखों से भागकर स्वप्न में आश्रय खोजने की प्रवृत्ति। लेकिन यह एक आश्चर्य्य का विषय है कि प्रायः सभी भाषाओं में पहले वर्ग के कवि कम और दूसरे के अधिक हुए हैं और यहीं रोमांचवाद के सच्चे रूप को पहचान में साहित्य ने ग़लती की। कारण शायद यह था कि रोमाण्टिक आन्दोलन से जिन लोगों ने कर्म की प्रेरणा ली, वे क्रान्तिकारी हो गए और उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति वक्तृता, बलिदान, त्याग और तपस्या तथा आदर्श समाज की रचना के प्रयास में धरती को उलट देने के मनसूबे में बदल गई। इसके विपरीत जिन्हें केवल साहित्य में रहना था, वे स्वप्नशील और कल्पनाप्रधान हो गए। एक ही भावना से प्रेरित दो दलों में एक ने धरती के लिए रक्त बहाया और दूसरे को वस्तु-जगत् के प्रति पूरा दायित्वहीन होने का विशेषण प्राप्त हुआ।

क्रान्तिकारियों की तरह रोमाण्टिक कवि को भी खुली आँखों के आगे की दुनिया नापसन्द थी, लेकिन क्रान्तिकारियों के विपरीत उसने स्वप्न की दुनिया रचकर संतोष कर लिया। नवीनता की खोज रोमांचवाद की प्रमुख विशेषता बन गई और कविगण पल-पल नवीन संसार की रचना में प्रवृत्त रहने लगे। स्वप्न-जगत् की रचना में जिस कवि को बाधा हुई, उसने अपनी कल्पना को ही इतना विकसित कर लिया कि उसके बल पर उसे संसार की छोटी से छोटी

चीजों में, अतीत की दूर से दूर घटनाओं में भी आत्म-सुख और आनन्द मिल सके। जीवन की रूक्षता त्याज्य थी। समाज की कृत्रिमता को कवि स्वीकार नहीं कर सकता था। प्रकृति पर विज्ञान के अभिमान और समाज पर वैज्ञानिकों की बढ़ती हुई सत्ता को कवि ईर्ष्या और अप्रियता की दृष्टि से देखता था, लेकिन इन सारी बुराइयों का उसे एक ही उपचार सूझा। वह अपने आपको प्रसन्न रखने के लिए संसार से भाग चला। आधिभौतिकता के त्याग से केवल कवि ही प्रसन्न नहीं हुआ, बल्कि वे पाठक भी प्रसन्न हुए, जो समाज की जड़ता से ऊबे हुए थे। पाठकों की प्रसन्नता में उस विस्मय का भी हाथ था, जो जड़ता के विरुद्ध कवि के स्वप्न की रंगीनियों को देखकर उत्पन्न होता है। जीवन की रूक्षताओं से असंतुष्ट रहनेवाले पाठक प्रतिक्रियात्मक साहित्य की रचना को प्रोत्साहित करते हैं। असन्तोष की भावना जिनमें क्रियात्मक शक्ति को प्रेरणा नहीं दे सकती, वे उस कवि की प्रशंसा करते हैं, जो जीवन से भिन्न कोई ऐसा काल्पनिक चित्र प्रस्तुत कर सके, जो ऐसे पाठकों के मन को मोहता हो। नवीनता का चित्र समाज में लोकप्रियता पाने लगा। लेकिन कवि भूल गया कि काल्पनिक नवीनता की आराधना में आगे उठनेवाला उसका प्रत्येक पद वास्तविकता से दूर पड़ता जा रहा था। कल्पना की हलकी तस्वीरें, हलके स्वप्नों की रंगीनियां और स्पर्श से सनसनाहट भर पैदा करनेवाली कविताएँ पूर्ववर्ती उस्तादों की उन रचनाओं से सर्वथा भिन्न थीं, जो हलकी-फुलकी नहीं होकर गम्भीर होती थीं और जिनके स्पर्श से मनुष्य का सारा अस्तित्व ही हिलने लगता था। हलके स्वप्नों का व्यवसाय करनेवाला रोमाण्टिक कवि इस बात को भी नहीं जानता था कि धीरे-धीरे समाज में खुद उसका व्यक्तित्व भी हलका समझा जा रहा था तथा उसकी कृतियां जीवन का आलोक नहीं, वरन् मनोरंजन का सामान समझी जा रही थीं। सत्य के निरादर का नाटक लोग खुशी-खुशी देख रहे थे, लेकिन इस नाटक के रचनेवाले कवि को इतना ज्ञान नहीं था कि दर्शकों का सारा समाज अन्त में जाकर सत्य का ही साथ देगा और सत्य को निरादृत करने के लिए उसकी खिल्लियां भी उड़ावेगा।

रोमाण्टिक कल्पना का अतिसेवन सभी देशों में साहित्यिकों की रचनात्मक शक्ति के क्षय का कारण हुआ है। कला के लिए कला का निन्दित सिद्धान्त इस प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष देन है। साहित्य का सम्बन्ध जीवन के उस रूप से है, जैसा कि हम ठीक जीते हैं। उच्च साहित्य जीवन के कोलाहल के बीच से कला का ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है, जो अघटित होकर भी घटित-सा लगे। साहित्यिक सत्य की स्वीकृति इतिहास में मिले या नहीं, परन्तु पाठकों की सम्भावना-वृत्ति

से अवश्य मिलनी चाहिए। जहाँ पाठकों की सम्भावना-वृत्ति को सन्तोष नहीं होता, वहाँ यही कहा जायगा कि साहित्य-रचना का प्रयास निष्फल हुआ है।

साधना या संघर्ष का मार्ग साहित्य का सबसे उन्नत, अतः सबसे कठोर मार्ग है। कवि के लिए कोमल कल्पना की आराधना ही पर्याप्त नहीं होती, उसे संघर्षशील जीवन के बीच प्रविष्ट होकर मनुष्य की अधिक से अधिक मनोदशाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मेरा आग्रह यह नहीं कि कवि अपने हाथ की बाँसुरी को फेंककर तलवार या राजनीति की पताका उठाए। अगर यह बात हुई, तो बाघ से छूटकर भालू के साथवाली कहावत चरितार्थ होगी। साहित्य न तो केवल मिट्टी है और न केवल आकाश। वह ऐसा ईश्वर है, जो धरती के ऊपर छाया रहता है। कवि अगर अपने युग में आदर पाना चाहता है, तो उसे अपने आस-पास की घटनाओं का खयाल करना ही पड़ेगा। अन्तः-प्रेरणा की उपज को निरुद्देश्य की भाँति हवा में उगलते जाने से उसकी महत्ता नहीं बढ़ सकती। उसकी कल्पना का कोई न कोई आधार और उसकी वाणी का कुछ न कुछ उद्देश्य होना ही चाहिए। जीवन के कर्म्म-पक्ष से असहकार करके वह कर्म्मरत संसार के आदर का पात्र नहीं हो सकता। अगर कोई कलाकार कला की अकर्मण्यता में ही गौरव समझता हो, अथवा आत्माभिव्यक्ति में ही कला का चरम महत्त्व मानता हो, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि उसने समाज और वस्तु-जगत् के सामने अपनी पूरी पराजय स्वीकार कर ली है।

जो लोग यह सोचते हों कि जीवन की आदर्श परिस्थितियों के बिना साहित्य के सामाजिक उद्देश्य पूरे नहीं हो सकते, उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि बहुत से महान् साहित्य की रचना ऐसे समय में हुई है, जब परिस्थितियाँ आज की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिकूल थीं। आज की अवस्था पहले की अपेक्षा कई अंशों में सुधरी हुई है। हमारे पूर्ववर्त्ती कवियों को उन ऐतिहासिक शक्तियों का ज्ञान नहीं था, जिनके कारण उनके समय की घटनाओं का जन्म होता था। वे बहुत-सी ऐसी चीजों को अन्धविश्वासपूर्वक ग्रहण करते थे, जिनके रहस्य का उद्घाटन हमारे समय में हो रहा है। पहले के कितने ही आश्चर्य आज सत्य हो रहे हैं। विज्ञान के रथ पर चढ़ा हुआ संसार बड़े वेग से आगे चला जा रहा है। यह सच है कि नए आविष्कारों के साथ नए रोग भी उत्पन्न हो रहे हैं। लेकिन इसका दोष न तो विज्ञान पर है और न वैज्ञानिकों पर ही। वर्त्तमान दुरवस्थाओं को जारी रखने की दलील उस वर्ग की है, जिसके कारखाने विज्ञान के फल का अनुचित उपयोग कर रहे हैं। वैज्ञानिक अपना काम खूबी के साथ कर रहा है। उसने सत्य की सृष्टि कर दी है। सत्य के मुख में जीभ देना उसकी

सामर्थ्य के बाहर की बात है। यह कार्य तो सदा से कवि ही करता आया है। विज्ञान से वैमनस्य रखकर इस युग की कला आदर नहीं पा सकती। वैज्ञानिक और कवि, सत्य के विषय में दोनों की जिज्ञासा एक ही है। युग के कोलाहल में से आनन्द की सृष्टि करने के लिए कवि को विज्ञान से मेल करना पड़ेगा, क्योंकि संसार में वैज्ञानिकों के द्वारा जिस जड़ सत्य की रचना हो रही है, उसे चैतन्य करने का काम कवियों के ही हाथ है। समय की उपेक्षा, विज्ञान के अनादर और निर्जीव कल्पना के पक्ष में लम्बी दलीलें देने से कवि का पक्ष सबल नहीं हो सकता। इसके विपरीत मशीनों की प्रशस्तियाँ और कारखानों के कीर्तन भी कवि को युग-पुरुष का गौरवपूर्ण पद नहीं दे सकते। युग की वाणी बनने के लिए कवि को अपने समय के ज्ञान-शिखर पर चढ़ना होगा, जहाँ से एक दृष्टि में वह समकालीन सभ्यता का विहगावलोकन कर सके। उसे हमदर्दी के साथ विज्ञान के पीछे काम करनेवाली आध्यात्मिक भावनाओं से सम्बन्ध स्थापित करना होगा। मशीनों की आत्मा और आविष्कारों को प्रेरणा देनेवाली आध्यात्मिक वृत्तियों की अवहेलना करके कवियों ने ही युग की शक्ति और उसकी कला को भिन्न कर रखा है। अतएव युग के साथ सामंजस्य स्थापित करने का पहला दायित्व उन्हीं का है, वैज्ञानिकों का नहीं।

●

देवेन्द्र सत्यार्थी
[सन् १६०८—.......]

गोधूलि

गोधूलि से संबंधित शत-शत चित्र देखने के पश्चात् भी मन यही कहता है—इससे भी अच्छा चित्र प्रस्तुत किया जाना चाहिए। जिसने नगर में जन्म लिया और वहीं रहा, उसे तो गोधूलि का मामूली दृश्य भी भा जायगा। पर जो स्वयं गाँव में पैदा हुआ और जाने कितने जनपदों के गाँवों में घूम फिर आया, उसे तो गोधूलि का कोई मुँह बोलता चित्र ही पसंद आ सकता है।

संध्या का समय है। गायें जंगल में चरकर लौट रही हैं। उनके खुरों से धूल उड़ने के कारण धुंध सी छा गई है। यह तो गोधूलि का साधारण रूप है। इससे आज के कवि का मन झंकृत नहीं हो सकता। आज के कवि की तो बात दूर रही, पुराना कवि तो इतने भर से संतुष्ट नहीं हो सकता था। इतने भर से तो केवल गोधूलि का शब्दार्थ ही सामने आता है। बल्कि आज का कवि तो शायद गोधूलि की प्रशंसा करने की बजाय, उलटा इसके विरुद्ध बहुत कुछ कह जाए। क्योंकि धूल आखिर धूल है, फिर चाहे वह गौओं के खुरों से उड़े और चाहे तेज हवा चलने से, धूल में तो कोई अच्छी बात नहीं—यह दलील बड़ी आसानी से दी जा सकती हैं।

हाँ, तो बात धूल की नहीं, गोधूलि की है। इसका मुख्य विषय है संध्या-वेला। कविता में संध्या के अनेक दृश्य प्रस्तुत किए गए हैं और इस पर जाने कितना लिखा जाना बाकी है। यदि उषाकाल का अपना चमत्कार है, तो गोधूलि का भी कुछ कम महत्व नहीं। पर जिस व्यक्ति ने पहले-पहल गोधूलि की चर्चा की थी, उसने देखे होंगे गौओं के अनेक समूह। इसी गोधन के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उसने साँझ के लिए 'गोधूलि' शब्द का प्रयोग किया होगा।

विद्यापति ने एक स्थल पर गोधूलि की चर्चा करते हुए कहा है—

जब गोधूलि समय वेलि
धनि मन्दिर बाहिर भेलि,
नव जलधरे बिजुरि-रहा
द्वन्द्व पसरि गेलि ।

कवि ने देखा कि गोधूलि वेला में पूजा समाप्त करके एक युवती अभी-अभी मंदिर से बाहर आकर अपने घर की ओर चल पड़ी । बस, यही दृश्य देख कर उसका हृदय झंकृत हो उठा । कोई चाहे तो झट पूछ सकता है कि इसमें गोधूलि को कैसे श्रेय मिलेगा । यदि कवि ने किसी और समय इस सुन्दरी को देखा होता, तो उसे सौंदर्य की अनुभूति बिलकुल न हुई होती, यह तो नहीं कहा जा सकता । प्रत्येक दृश्य के लिए उसी के अनुरूप पृष्ठभूमि की आवश्यकता पड़ती है । हर समय एक ही दृश्य अच्छा नहीं लगता । यह सच है कि समय की छाप के बिना कोई चित्र बोल ही नहीं सकता । अतः यह बात विश्वासपूर्वक नहीं कही जा सकती कि यदि कवि ने इस सुन्दरी को किसी और समय देखा होता, तो उस पर उसकी छवि का यही प्रभाव पड़ता ।

विद्यापति के इस पद की ओर संकेत करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था—"गोधूलि काल में एक कन्या मंदिर से निकल आई, यह तथ्य हमारे निकट अत्यंत सामान्य है । इस संवाद के सहारे ही यह चित्र हमारे सामने स्पष्ट नहीं खिंच जाता । हम मानो सुनकर भी नहीं सुनते । एक चिरन्तन एक रूप में वह वस्तु हमारे मन में स्थान नहीं पाती । यदि कोई 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' भला आदमी हमारा ध्यान खींचने के लिए इस खबर को फिर सुनाने लगे, तो हम खीजकर कहेंगे—'कन्या अगर मंदिर से निकल आई, तो हमारा क्या ?' अर्थात् हम उसके साथ उसका कोई संबंध अनुभव नहीं कर रहे हैं, इसलिए यह घटना हमारे लिए सत्य ही नहीं है । किंतु ज्यों ही छन्द, सुर, उपमा के योग से यह मामूली बात सुषमा (सौंदर्य) के एक अखंड ऐक्य के रूप में संपूर्ण होकर प्रकट हुई, त्यों ही यह प्रश्न शांत हो गया कि 'इससे हमारा क्या ?' क्योंकि जब हम सत्य को पूर्ण रूप में देखते हैं, तब उसके साथ व्यक्तिगत संबंध के द्वारा आकृष्ट नहीं होते, सत्यगत संबंध के द्वारा आकृष्ट होते हैं । गोधूलि के समय कन्या मंदिर से निकल आई, इस बात को तथ्य के तौर पर यदि पूरा करना होता, तो शायद अनेक और भी बातें कहनी पड़तीं । आस-पास की बहुतेरी खबरें इसमें जोड़ने से रह गई हैं । कवि शायद कह सकता था कि उस समय कन्या को भूख लगी थी और वह मन ही मन मिठाई की बात सोच रही थी । बहुत संभव है, उस समय यही चिंता कन्या के मन में सबसे अधिक प्रबल थी ।

किंतु तथ्य जुटाना कवि का काम नहीं है। इसीलिए जो बातें बहुत ही जरूरी और बड़ी हैं, वही कहने से रह गई हैं। यह तथ्य का बोझ जो कम हो गया है। इसीलिए संगीत के बंधन में छोटी सी बात इस तरह एकत्व के रूप में परिपूर्ण हो उठी है और कविता ऐसी संपूर्ण और अखंड होकर प्रकट हुई है कि पाठक का मन इस सामान्य तथ्य के भीतरी सत्य को इस गहराई के साथ अनुभव कर सका है। इस सत्य के ऐक्य को अनुभव करते ही हम आनंद पाते हैं।"

इस पर भी शायद कोई कहे कि विद्यापति को यदि गोधूलि में अधिक अनुराग था, तो उन्हें यह बात अवश्य स्पष्ट कर देनी चाहिए थी। कोई मनचला तो यहां तक कह सकता है कि देखिए साहब 'एक ने कही दूसरे ने मानी' वाली बात नहीं चलेगी, और विद्यापति की वकालत रवीन्द्रनाथ ठाकुर करें, यह तो हमें बिलकुल स्वीकार नहीं। इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि गोधूलि के महत्व को अपनी ही आंखों से देखने का यत्न करो, और हो सके तो इसके साथ दर्शक के जीवन की कोई स्मरणीय घटना जुड़ जानी चाहिए।

विद्यापति ने जिस सुन्दरी को गोधूलि वेला में मंदिर से निकलकर घर जाते देखा था, उसकी मुखाकृति में शायद रूप की अपेक्षा लावण्य ही अधिक रहा होगा। किस प्रकार उसने कवि के मन को खींच लिया, यह बात कवि ने स्पष्ट नहीं की। कवि ने कल्पना कर ली होगी कि जब यह युवती हँसती होगी, तो उसके गालों पर गुलाब खिल उठते होंगे! आप कहेंगे, गुलाब तो गोधूलि के समय नहीं खिलते। शायद उस समय आकाश पर श्वेत सारस उड़े चले जा रहे होंगे। कौन जाने, युवती और कवि की निगाहें एक साथ सारस-पंक्ति की ओर उठ गई हों। पर कवि ने इसके बारे में कुछ भी तो नहीं कहा। शायद कवि ने सोचा होगा कि उस युवती की उड़ती हुई अलक उसके गाल को ढकने का यत्न कर रही है। या शायद कवि को ध्यान आ गया हो कि जब कच्ची उमर में वह युवती लकड़ी के खेलघोड़े पर चढ़ती होगी, तो वह कितनी सुंदर लगती होगी। कौन जाने, युवती अनायास ही हँस पड़ी हो और उसकी भौंहें तिरछी हो गई हों, या शायद कवि को यह ध्यान आ गया हो कि जब शारदीया हवा के जमा किए हुए झरे जीर्ण पत्तों पर यह युवती चलेगी, तो कैसी अजीब सी ध्वनि पैदा होगी। यह भी हो सकता है कि कवि ने सोचा हो कि जब यह युवती अपनी बगिया में तितलियों के पीछे भागती होगी, तो उसकी अलकें एकदम हवा में लहराने लगती होंगी। पर आप कह सकते हैं, यह सब कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि कवि ने तो ऐसी कोई बात कही ही नहीं। फिर आप यह भी पूछ सकते हैं कि यदि ये सब ठीक भी हों, तो बताओ, इसमें गोधूलि की बात कहां से आ गई।

मैं मान लेता हूँ कि मैं जरा सुर चढ़ाकर गोधूलि की बात लिख रहा हूँ। पर मैं तो कहूँगा कि मुझे इसका अधिकार है। क्या हुआ यदि विद्यापति का युग कभी का लद गया, मैं तो आज उसी युग का स्पर्श अनुभव कर रहा हूँ।

अभी-अभी कहीं हिमायल-प्रदेश के एक किन्नर लोकगीत का उल्लेख देखा जो 'ना-न-न-न-न-न-न-न-ना-ई, ना-न-न-न-न-न-न-न-नो-ो ो-ऽ' की गमक पर अग्रसर होता है। अनुवाद में भी मूल द्रव्य दबता नहीं—

> जङ् मोणोती बोली—"सखि, हे सखि !
> चलो पर्वत के ऊपर भाग पर खेत की रक्षा करने चलें।"
> कृष्ण भगती बोली—"चलने को तो कहती हो,
> कलेवा क्या ले चलें ?"
> "कलेवा तो ले चलें रोपङ् का भुना गेहूँ,
> किल्ना पापड़ का आटा,
> ठोकरों के काले उड़द की दाल !"

मैं सच कहता हूँ कि जङ् मोणोती और कृष्ण भगती की इस बातचीत में एक पल के लिए प्रभात का चित्र उभरा जरूर, पर शीघ्र ही मेरा ध्यान गोधूलि की ओर पलट गया। मेरा मन बस, यही सोचने लगा कि गोधूलि बेला में ये किन्नरियाँ कितनी सुन्दर लगती होंगी। सोचता हूँ कि ये किन्नरियाँ तो दिन-रात में गुँथी रहकर आज भी दिन यात्रा का गान किए जा रही होंगी। कलेवे का सम्बन्ध तो हुआ सवेरे के साथ। गोधूलि की बात का क्या इस गान में एकदम जिक्र नहीं रहता होगा ?

इसी गोधूलि को लेकर एक मित्र से बात हो रही थी। वह बोला—"तुम्हारा स्वभाव तो बिलकुल गुठली तक पके हुए आम की तरह है। जिस बात को तुम पकड़ते हो, छोड़ते ही नहीं। ठीक उसकी गहराई तक चले जाते हो।"

मैंने पलटकर कहा—"तब तो मेरा स्वभाव गोधूलि के अनुरूप ही हुआ। अँधेरे में ही तो चिंतन का मज़ा है। अरे भई, गोधूलि यही संदेश लेकर आती है कि अब और सब काम-धंधा छोड़ो, हाथ-मुँह धोकर बैठ जाओ और थोड़ा चिंतन कर लो।"

उस समय मेरी कल्पना के कला-भवन में उस युवती का चित्र एकदम उभरा, जिसे एक दिन विद्यापति ने गोधूलि वेला में पूजा समाप्त होने पर मंदिर से निकलकर घर की ओर जाते देखा था। जैसे वह युवती कह रही हो—पूछो, क्या पूछना चाहते हो ? फिर जैसे वे किन्नरियाँ—जड़ मोणोती और कृष्ण भगती भी खिलखिलाकर हँस पड़ी हों—हाँ, पूछो, पूछो ! मैं कहना चाहता था कि

पूछनेवाली कोई बात हो तो पूछूं भी। जैसे मंदिर से निकलकर घर को जाती हुई युवती भी व्यंग्य भरी हँसी हँसे जा रही हो। मैं मन ही मन खिसियाना-सा होकर यही कहने जा रहा था कि गोधूलि वेला की धूल तो मुझे बिलकुल नहीं सुहाती। हाँ, गौओं को गांव की ओर लौटते देखकर मन खुशी से उछल पड़ता है। अब इन गौओं का दूध दुहा जायगा, मन कह उठता है, अब इनके बछड़ों को भी थोड़ा-बहुत दूध अवश्य पीने को मिलेगा।

हाँ, तो दूध दुहने के चित्र की कल्पना में गोधूलि को थोड़ा बहुत श्रेय तो अवश्य मिलना चाहिए। आप कह सकते हैं—वाह यह भी कोई बात हुई! दूध तो प्रभात के समय भी दुहा जाता है। इसके उत्तर में मैं यही कहूँगा कि संध्या समय गो-दोहन का चित्र जितना प्रिय लगता है, उतना प्रभात में नहीं। आप इसके विरुद्ध दलील नहीं दे सकते, क्योंकि यहाँ तो अपनी-अपनी रुचि की बात है।

संध्या समय के गो-दोहन की सर्वप्रथम याद मेरे हृदय पर सदा अंकित रहेगी। धरती पर बैठकर मैंने एक ग्वाले से कहा था कि वह मेरे मुँह में दूध की धार छोड़े। कितना आनन्द आया था। दूध की धार के स्पर्श मात्र से मेरा मन नाच उठा था। गोधूलि के समय मैंने इस गाय को घर आते देखा था। इसीलिए उस दुग्धपान के साथ गोधूलि का चित्र आज तक मेरे मन पर अंकित है।

जिस युवती को विद्यापति ने देखा था, उससे मैं पूछना चाहता हूँ कि कहो, तुम्हारे मुंह में भी कभी किसी ने दूध की धार छोड़ी थी। मैं तो उन किन्नरियों से भी पूछना चाहता हूँ कि क्या उन्हें भी बचपन का कोई ऐसा संस्मरण याद है।

जैसे कोई आवाज़ आ रही हो—यदि तुम गोधूलि के समय रुक जाओ, तो इन फैले हुए केशों से तुम्हारे चरण पोंछ डालूं।

पर मुझे यह बिलकुल पसंद नहीं कि कोई अपने केशों से मेरे पैर पोंछने का कष्ट उठाए। गोधूलि के समय तो यों ही राह चलते पैरों पर धूल लग जाती है।

जैसे यह आवाज़ बराबर आ रही हो—गोधूलि काल के मंद प्रकाश में ही तो मैंने तुम्हें सर्वप्रथम देखा था।

मैं कहना चाहता हूँ—अवश्य देखा होगा। ओ अजानी सुन्दरी! पर मैं तो विद्यापति नहीं कि इसी घटना को लेकर कोई कविता रच डालूं।

चीनी कवि ली पो ने कभी गाया था—"दिन की आभा विदा ले रही है; फूल धुंध में छिप गए हैं!" सोचता हूँ कि क्या ली पो ने गोधूलि काल में

धूल का मेघ देखकर ही उसे धुंध से उपमा दी थी। फिर सोचता हूं कि चीनी कवि ने यह भी तो कहा था—"दक्षिण से आ रहे हंसों को न मारो। इन्हें उतर जाने दो। यदि मारना ही है तो जोड़े को मारो और उन्हें ले लो। उन्हें एक दूसरे से जुदा न होने दो!" सोचता हूं, इस कविता पर भी गोधूलि काल के गंभीर चिंतन का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

याद आती है, जापान की एक युद्ध संबंधी प्रथा की। अभी एक वीर रणभूमि की ओर प्रस्थान कर रहा है। वीर को विदा देने के उपलक्ष्य में घर की स्त्रियों ने पथ पर एक रूमाल बिछा दिया। देखो, समीप से गुजरनेवाली नारियां अपनी-अपनी सुई से इस रुमाल में एक-एक गूंथ लगाती चली गईं। लो, एक हजार नारियों की सुइयों के गूंथ पूरे हो चुके। अब यह वीर इस रूमाल को सर पर बांधकर खुशी से रणभूमि को जा सकता है। क्योंकि पुरातन विश्वास के अनुसार यह सहस्र गूंथोंवाला रूमाल एक कवच का काम देता है और युद्ध में मृत्यु से रक्षा करता है। याद आती है कि एक आधुनिक चीनी कविता, जिसमें कवि लिङ-ह्-लिङ-त इस जापानी प्रथा को लक्ष्य करके कहता है—

> तुम गूंथती हो एक गूंथ आशा का?
> तुम गूंथती हो एक गूंथ श्रद्धा का!
> कौन फेंकता है शोकाकुल दृष्टि!
> स्वस्ति वाचन में प्रकम्पित होता है किसका स्वर?
> आशा परिणत होगी मुट्ठी भर राख में,
> स्वस्ति वाचन भी होगा म्लान होंठों पर,
> एक करुणा से, मूढ़ता से—पूरित विचार वस्त्रखण्ड पर,
> एक दुःखान्त कला का घृणा से पान मानस में,
> ओ! सहस्र गूंथ गूंथने में लगी ललनाओ!
> गूंथो अपने न गिर रहे अश्रुमुक्ताफल,
> गूंथने की सुई का प्रयोग करो ठीक-ठीक,
> छेद डालो छोटे अवगुण्ठन को,
> भेद डालो मत्त हृदयों को
> और न खुलनेवाली मोह निद्रा को!

सच पूछो तो मुझे यह गोधूलि भी कोई ललना प्रतीत होती है, जो अकेली सहस्र ललनाओं की तरह मेरे लिए पथ पर बिछे रूमाल में सुई से गूंथ लगा दे। हां, एक ही शर्त रहती है और वह यह कि रात भर आराम किया जाय और

सवेरे दिन यात्रा आरम्भ की जाय। इसीलिए मैं कहता हूँ—गोधूलि ! तुम्हें शत-शत प्रणाम ! गली, पथ, गृह, द्वार—इनकी ओर से भी शत-शत प्रणाम स्वीकार करो। ये सब भीतें, ये सब खपरैल—सभी तुम्हें प्रणाम करते हैं।

समूचा इतिहास-चित्र मेरे सम्मुख खुला पड़ा है। इसमें मंदिर से निकल कर घर जाती युवती भी नज़र आ रही है। यहाँ जङ् मोणोती और कृष्ण भगतो सरीखो सुन्दर किन्नरियाँ भी हैं, और रूमाल में सुई से गूँथ लगाती ललनाएँ भी हैं। इसमें देश-विदेश का अंतर नहीं। यह अखंड मानवता का इतिहास-चित्र जो ठहरा !

गौएँ जंगल से घरों को लौट रही हैं। गाँव के ये तंग गली-पथ, ये द्वार और वातायन सभी गोधूलि काल के सम्मुख नतमस्तक से नजर आते हैं। गोधूलि ही तो है, कोई अपरिचिता नहीं। अरे ! यह तो रोज आती है। गौएँ रँभाती हैं। वही परिचित बोली सुनाई दे रही है।

जिस प्रकार एक कवि पीढ़ियों की उपार्जित कविता को हमारे समीप पहुँचाने का दायित्व निभाते हुए हमें इस कला-निधि का उत्तराधिकारी बनाता है और भविष्य का मार्ग दिखाता है, उसी प्रकार गोधूलि हमसे कहती है—अब विश्राम करो, पिछले अनुभव पर विचार करो। सवेरे फिर से दिन यात्रा आरम्भ करनी होगी।

देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'
[सन् १६११—.......]

कला और स्वतन्त्रता

कलात्मक जागृति के प्रति जब तक किसी राष्ट्र में अपनत्व की भावना जीवित रहती है, तभी तक वह राष्ट्र पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। कलात्मक जागृति के अभाव में पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग आकाश-कुसुम-वत् है। संसार के विभिन्न राष्ट्रों के इतिहास के पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि जिन राष्ट्रों में कलात्मक जागृति के प्रति अपनत्व है और कला का उचित मूल्यांकन किया जाता है, वे राष्ट्र अपनी निकृष्टतम अवस्था में भी कला की उपेक्षा न कर उसकी रक्षा करना अपना पहला कर्त्तव्य समझते हैं।

जो रूस खूंख्वार ग़दर की विप्लवमयी घड़ियों का सामना कर चुका है और द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाओं में से गुजर चुका है, अपने अन्य अनेक महत्वपूर्ण विभागों के साथ-साथ कला की महत्ता स्वीकार करते हुए एतद्विषयक एक अलग विभाग उसने नियुक्त कर रक्खा है। आक्रमणकारियों के हमले से जन-धन की रक्षा करना जितना आवश्यक समझा जा सकता है, कला की रक्षा करना भी उससे किसी तरह कम नहीं है।

कलाविहीन मानव जिस प्रकार यथार्थ मानव नहीं, प्रत्युत पशुवत् है, ठीक उसी प्रकार कला-विहीन राष्ट्र का भी कहीं कोई सम्मान नहीं किया जाता। किसी भी राष्ट्र की स्वतन्त्रता का मापदण्ड उसकी कला के स्वरूप को देखकर ही किया जाता है। इसका एक कारण है : कला में ही नियन्त्रण, विश्वसनीयता, मैत्री, सन्तुलन, सत्य, प्रणय और सौन्दर्य सन्निहित रहता है। यही सब मिलकर एक आदर्श मानव अथवा राष्ट्र का निर्माण करते हैं।

कलात्मक जागृति पहले-पहल विचारों, शब्दों और कार्यों के सामंजस्य पर अपना प्रभाव डालती है। इस पारस्परिक संयोग में उक्त बातों में से किसी की भी न्यूनता का आभास आया नहीं कि यही बातें जागृति के खिलाफ़ जिहाद कर देती हैं।

जो राष्ट्र जितना ही अधिक कलात्मक होगा, कलापूर्ण वातावरण से परिवेष्टित होगा, उसमें उतनी ही अधिक पूर्णता एवं पारस्परिक मैत्री की मात्रा पाई जायगी। और, जहाँ यह होगा, वहीं उसकी अपनी स्वतन्त्रता होगी, अपनी संस्कृति होगी और होगी दुनिया के नकशे में उसकी अपनी तसवीर—ऐसी तसवीर, जिसे देखकर दुनिया को न केवल सन्तोष होगा, प्रत्युत उसका अनुकरण भी वह करना चाहेगी।

प्राकृतिक शक्तियों की उस चिदानन्दमय अभिव्यक्ति अथवा व्यक्तीकरण को कला कहते हैं, जो जगती के अणु-अणु में अपना अस्तित्व रखती है। दुनिया की महान् और दैनिक बातों की जीवनदात्री एकमात्र कला ही है। शब्दों के पृष्ठभाग में रहकर कला ही इन बातों को अपनी विशेषताओं के रंग से रंजित करती है। असाध्य और असाधारण समझी जानेवाली बातों को भी अत्यन्त सरसता, प्रसन्नता और गौरव के साथ हम कला के रूप में और कला के द्वारा सहज ही जान सकते, उनसे परिचित हो सकते और अप्राप्य को भी प्राप्त कर सकते हैं।

त्याग, कर्त्तव्य, आकांक्षा और मुक्ति की ओर मानव को अग्रसर करने में कला का सबसे बड़ा हाथ है। इसीलिए कला राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और मानव-कल्याण का केन्द्र बिन्दु कही जा सकती है।

कला को पारिभाषिक शब्दों के दायरे में कैद नहीं किया जा सकता। किसी लजीले पुष्प को हम जी भरकर देखते हैं, उसे सूँघते हैं और उसकी सुगन्ध तथा रूपराशि का आनन्द लेते हैं। लेकिन इस फूल की पंखुड़ियों को तोड़-मरोड़कर यदि हम उसकी छानबीन करने लगें, तो हमें क्या हाथ लगेगा? तब न तो हम उसकी सुन्दरता का ही दर्शन कर सकेंगे, न उसकी सुगन्ध से ही तृप्त हो सकेंगे। कला का भी बहुत-कुछ यही हाल है। इसे तर्क या दर्शन का जामा नहीं पहनाया जा सकता। यह तो मानव की रुचि पर ही अवलम्बित है। वह चाहे तो सुख अथवा दुःख दोनों में कला का दर्शन कर सकता है। सुखान्त अथवा दुखान्त कहानियाँ अथवा नाटक इसके साक्षी हैं। यों यह आवश्यक नहीं कि एक मानव सुख अथवा दुख, दोनों में ही कला के दर्शन कर सके और समान रूप से प्रभावित हो सके। इसीलिए हमने मानव-रुचि की बात कही है।

कलाकार भी राष्ट्र की स्वतन्त्रता का वह केन्द्र बिन्दु है, जहाँ स्वतन्त्रता के ऐसे शान्त स्वरूप की झाँकी मिलती है कि आक्रमणकारी राष्ट्र भी युद्धात्मक प्रवृत्ति का परित्याग करने को विवश हो जाता है।

कलाकार सदा शान्ति को ही अपने जीवन का ध्येय मानता है। उसकी

कलात्मक अभिव्यक्ति ने विप्लव का विनाश कर सदा शान्ति की स्थापना की है।

कलाकार सौन्दर्य-प्रिय होता है। राष्ट्र पर मँडराती युद्ध की घनघोर घटाओं के बीच में, कलाकार की वाणी ही बिजली की तरह पथ-प्रदर्शक बनती और गुमराहों को राह दिखला जाती है।

अन्तर्तम की सुन्दरतम अनुभूति को अभिव्यक्त करने की क्षमता ही कलाकार का आदर्श है और इसी में राष्ट्र-हितों की सम्यक् साधना का समावेश कर देना एक अत्युच्च आदर्श। किसी भी कलाकार का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता है कि अपने समकक्षीय मानव के प्रति उसमें अद्भुत, किन्तु मानवीय सहानुभूति अवश्य ओतप्रोत रहती है। उसमें एक ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है, जो मानव-मात्र का कल्याण चाहती है और भेदभाव अथवा ऊँचनीच के दूषित वातावरण की उसमें कहीं कोई गन्ध नहीं रहती।

प्राचीन भारत के स्वर्णिम युग का अध्ययन करने से हमें विदित होता है कि जब संसार के अन्यान्य देश कला के नाम से सर्वथा अनभिज्ञ थे, तब हमारा देश कला की महत्ता को पूर्णतः समझता था। कला की रक्षा के लिए प्राचीन भारत ने कुछ उठा नहीं रक्खा था। क्या अमीरों और क्या फकीरों, सभी के लिए कला की आवश्यकता समान रूप से स्वीकार की जाती थी—यहां तक कि धार्मिक और राजनीतिक संघर्षों के समय भी कला का स्वरूप अक्षुण्ण रक्खा जाता था। कला का चतुर्मुखी विकास भारतवर्ष में प्रत्येक युग में हुआ और उसके विकास-पथ में किसी प्रकार का रोड़ा नहीं अटकाया गया। यही कारण है कि प्राचीन भारत का इतिहास हमारी तत्कालीन स्वतन्त्रता का यश-गान अपने वक्ष से आज भी चिपकाए, हमें कला का वास्तविक सम्मान करने की प्रेरणा दे रहा है। यह बात दूसरी है कि इस प्रेरणा से हम प्रेरित हों या नहीं।

किन्तु खेद के साथ हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि कला के प्रति अर्वाचीन भारत का दृष्टिकोण बहुत-कुछ बदलता जा रहा है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि भारत की दुःखद अवस्था के अन्य अनेक कारणों में से कलात्मक जागृति की दिशा में हमारी उपेक्षणीय प्रवृत्ति भी एक बहुत बड़ा कारण है।

कला और कलाकारों की उपेक्षा अर्वाचीन भौतिक चकाचौंध के बीच हमारे देश में साधारण-सी बात हो चुकी है। हमारे देश के बहुसंख्यक धनिक अपने ऐशोआराम में, व्यक्तिगत मौज में बड़ी-से-बड़ी रकमें खर्च करना जानते

हैं; लेकिन कला की रक्षा और कलाकारों की सहायता के नाम पर नाक-भौंह सिकोड़ते देखे जाते हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि आज भारत के ही क्यों, तमाम दुनिया के कलाकार तीव्र गति से कला की सरिता के तट से खींचकर राजनीतिक क्षेत्र में लाये जा रहे हैं। यह शायद इसीलिए कि हम एक ऐसी राजनीतिक अवस्था में से गुज़र रहे हैं, जहाँ प्राचीनता का तर्पण और नवीनता का आह्वान किया जा रहा है। आज नवीन-नवीन अर्थों का अस्तित्व है—ऐसा नवीन, ऐसा अद्‌भुत, जैसा मानव-इतिहास के पृष्ठों पर कदाचित् आज के पहले कहीं अंकित नहीं हुआ।

हम स्वीकार करते हैं कि आज हम उस राजनीतिक युग में जीवन की साँसें ले रहे हैं, जहाँ भविष्य के लिए संघर्ष हो रहा है। आज उस भविष्य की रूपरेखा निश्चित की जा रही है, जो किसी राष्ट्र विशेष का ही भविष्य नहीं; प्रत्युत समस्त जातियों और सभी राष्ट्रों की सभ्यता तथा संस्कृति का भविष्य होगा। लेकिन इस सबके बावजूद यह भी ध्रुव सत्य है कि कला के प्रति आज जो परिवर्तित रुख दीख रहा है, उसका उत्तरदायित्व कुछ तो आधुनिक शिक्षा-पद्धति पर है और कुछ तज्जन्य अज्ञान पर।

जो-कुछ भी हो, यह प्रसन्नता की बात है कि स्वतंत्र भारत के सूत्रधार भी अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि कलात्मक जागृति के अभाव में उन्हें अपने लक्ष्य तक पहुँचने में हिमालयवत् कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। कदाचित् इसीलिए वे ऐसी शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता स्वीकार करने लगे हैं, जिसमें प्रारम्भ से ही कलात्मक दृष्टिकोण और उसके विकास का यथेष्ट ध्यान रक्खा जाए।

लेकिन इस जागृति के युग में भी हमारे कलाकार मौन हैं, निश्चेष्ट हैं और कदाचित् किसी अनाहूत किरण-वेला की प्रतीक्षा कर रहे हैं। कलाकारों और कला-प्रेमियों का भी यह कर्त्तव्य है कि शैक्षणिक, औद्योगिक अथवा राजनीतिक आन्दोलनों की तरह वे भी अपना एक आन्दोलन खड़ा करें और संगठित रूप से कला की रक्षा करें।

यदि कलाकार इस दिशा में अपना कदम बढ़ाने के लिए कृतसंकल्प हो जाएँ, तो पुनः हमारे देश में कलात्मक जागृति का वह सूर्य प्रखरता से चमक उठे, जो आज कुहासे और बादलों की ओट में छिप चुका है। और, कला की उन्नति के साथ-साथ हमारी सर्वांगीण उन्नति होने में भी तब अधिक विलम्ब न लगे।

आज हमारा देश स्वतन्त्र है। राष्ट्र की चतुर्दिक उन्नति पर हमारे कर्णधारों का ध्यान आकृष्ट हो चुका है। परन्तु कलाकारों के प्रति अब तक यथोचित ध्यान नहीं दिया गया। वह युग अब बीत चुका है, जब कलाकार को न धन की आवश्यकता थी, न किसी के सहारे की। वन-कन्दराओं में और सरिता-तट पर बैठकर भी अपनी कला के आनन्द-सागर में सबको समान रूप से अवगाहन करने का अवसर प्रदान कर सकता था। उसे राजा-महाराजाओं के आश्रय को भी ठुकराने में आगा-पीछा सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। परन्तु आज के कलाकारों को तो सर्वथा विपरीत परिस्थितियों में जीवन की साँसें लेनी पड़ रही हैं। आज तो पूंजीपतियों और सत्ताधीशों की छत्रच्छाया में ही कला और कलाकार पनप रहा है।

कितने ही कलाकार अर्थाभाव के कारण असमय ही इस दुनिया से कूच कर चुके और करते जा रहे हैं। अनेक कलाकार अपनी रुचि के विपरीत पूंजीपतियों के इंगित पर अपनी कला का गला घोंटने पर विवश हो चुके हैं। आवश्यकता है कि कलाकारों की सुविधाओं पर हमारे स्वतन्त्र राष्ट्रनायक तत्काल ध्यान दें और उनकी कला से राष्ट्र को वंचित न होने दें।

स्वतन्त्र भारत में रामराज्य स्थापित करने—सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता का उपभोग करने—की दिशा में जहाँ अन्य अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं, वहाँ कलाकारों के प्रति हमारी राष्ट्रीय सरकार की तनिक सी उदासीनता चिन्तनीय एवं खेदजनक है। कलाकारों की कला ही किसी राष्ट्र को समुन्नत बनाने में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायक होती है। यह कलाकारों की ही देन है कि गांधी, जवाहर, राजगोपालाचारी, राजेन्द्रप्रसाद, पटेल आदि नेता इस योग्य हो सके कि परतन्त्र भारत को स्वतन्त्र बना देने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई। अतः कलाकारों की उपेक्षा का अर्थ होगा स्वतन्त्रता की उपेक्षा; और स्वतन्त्रता की उपेक्षा हमें दुनिया के उन्नत राष्ट्रों के समक्ष कभी गर्वोन्नत न होने देगी।

अज्ञेय
[सन् १९११—....]

मार्ग-दर्शन

उस दिन लखनऊ जाना हुआ था। एक तो यों ही अजनबी आदमी, दूसरे पूछने का शौक, बार-बार भटक जाता और तब यों ही किसी राह चलते से पूछ बैठता : "क्यों साहब, अमुक स्थान का रास्ता कौन-सा है ?" फिर वह 'अमुक' स्थान अमीनाबाद हो, या चौक, या हजरतगंज, इमामबाड़ा या केसरबाग, पुरानी रेजिडेंसी या गोमती का पुल या छतरमंजिल........मतलब यह कि अगर मैंने अमीनाबाद का नाम ले ही दिया, तो यह नहीं कि मुझे वहीं जाना था, केवल यही कि जो दस-पाँच नाम सुन रक्खे थे, उनमें से एक का होना चाहिए, और हो सके तो ऐसा भी कि जिधर मैं जा रहा हूँ, उससे ठीक उलटी दिशा में तो न पड़े।

लेकिन जो बात मुझे कहनी है, उसका सम्बन्ध मेरे पूछने से नहीं, बतानेवाले के बताने से है; क्योंकि यह जानते हुए भी कि लोगों के मार्ग बताने के तरीके अलग-अलग होते हैं,। 'लखनऊ' का तरीका कुछ निराला ही मालूम हुआ। यह तो सुन रक्खा था कि किसी बंगाली से मार्ग पूछो, तो वह प्रश्न सुनने से पहले ही खीझे-से स्वर में कह देगा "जानि ना !" और किसी बनारसी (या कि बनरसिये) से पूछो, तो वह ठोढ़ी किसी तरफ को उठाकर सुरती की पीक सँभालते हुए कह देगा "इ का है सामने !"—फिर आप सामने का चाहे जो अर्थ लगाते रहिए, और ठोढ़ी किधर को उठी थी, यह निश्चय करने के लिए चाहे जितने पैंतरे कर लीजिए ! पंजाबियों का—विशेषकर लोमश-गोत्रीय पंजाबियों का—बना-बनाया उत्तर प्रसिद्ध ही है कि "जी, मैं तो इस शहर का नहीं हूँ"—फिर चाहे प्रश्न आपने यही पूछा हो कि सूरज किधर निकलता है ! एक बार पटने में एक सज्जन से गोलघर का रास्ता पूछा था, तो उन्होंने जिस वात्सल्यभरी टान के साथ कहा था, "गोलघर जावै क बाटे नू !" उसे लक्ष्य करके मैं मुग्ध होकर रह गया था—यह सोचकर कि पाटलिपुत्र में सवाल भी ऐसे पूछा जाता है, मानो

आशीर्वाद दिया जा रहा हो—पर फिर उन सज्जन ने मुझसे अधिक मुग्ध मुद्रा बनाकर बड़ी-बड़ी चकित आँखें मुझ पर जमाकर कहा था, "वह तो हम नहिएं बता सकते हैं", मानो सारा दोष कम्बख्त गोलघर का ही हो, जो रोज न जाने किधर मटरगश्ती करने निकल जाता है !

लेकिन लखनऊ में नफासत नहीं तो कुछ नहीं। जो बताने लगता, बड़े इतमीनान से आवाज में माधुर्य भरकर। लेकिन यहाँ से आगे उसे उसी के शब्दों में देना उचित होगा।

वह : "तो आप....जाएँगे ? हाँ साहब, तो इधर सीधे तशरीफ़ ले जाइए, वह दूसरा चौराहा दीखता है न—"

मैं : "हाँ—"

वह : "वही, जहाँ वह लाल साइनबोर्ड है, जिस पर लिखा है पं० रोशन लाल दिव्यचक्षु राज ज्योतिषी—"

मैं—(कुछ अनिश्चित-सा, क्योंकि इतनी दूर से बोर्ड पढ़ना मेरे लिए असम्भव है) "हाँ—"

वह—(मेरे अनिश्चय को लक्ष्य करके) "वहीं एक पानी का कल भी है, जिसमें पांच टोंटियां है, उसके पास से एक गली दाहने को मुड़ती है, जिसमें थोड़ी दूर पर पीतल के बरतनों की एक दुकान दीखती है—"

मैं—(इस सब ब्यौरे को स्मृति-पटल पर बैठाने की कोशिश करता हुआ) "अच्छा—"

वह—"उधर मत जाइएगा। सीधे आगे चलकर थोड़ी देर बाद एक ढलान शुरू हो जाएगा, जो आगे रेल की पटरी के नीचे से गुजरता है—दो मेहराबों वाला एक पुल है, जिसके नीचे से आने और जानेवाला ट्राफिक अलग-अलग जाता है—पुल से गुजरकर सड़क धीरे-धीरे मोड़ लेती है और सिनेमा घर के पास—"

मैं—"कौन-सा सिनेमा घर ?"

वह—"अजी, वह—निशात (या जो भी नाम रहा हो), लेकिन उधर मत जाइएगा। बल्कि पुल तक भी आपको जाना नहीं होगा, उससे पहले ही एक सड़क बाएँ को मुड़ जाती है, जिस पर थोड़ी दूर जाकर तांगों का अड्डा मिलता है। वहाँ से तीन रास्ते निकलते हैं। सबसे परला जरा सुनसान-सा दीखता है—"

मैं—(कुछ अधीर, और यह सोचता हुआ कि इतना सब तो मुझे याद नहीं रहेगा, आगे फिर पूछ लूंगा) "अच्छा, मैं समझ गया—"

वह—"उधर मत जाइएगा। जो दूसरा रास्ता—"

लेकिन इतने से आप लखनऊ की विशेषता अवश्य पहचान गए होंगे। अगर मैंने झल्लाकर यह नहीं कह दिया कि "हाँ साहब, सब समझ गया; जो-जो रास्ता आप बताते जाएँगे, वह-वह छोड़ता हुआ मैं चला चलूँगा और इस प्रकार ठीक वहाँ पहुँच जाऊँगा, जहाँ कि मुझे पहुँचना नहीं है," तो इसीलिए कि भला किसी लखनऊवाले को ऐसी रूखी बात कैसे कह दी जा सकती है? जो सुना है, गुलाबजामुन भी छीलकर तश्तरी में पेश करते हैं....

ऐसी स्थिति में लखनऊ में देखा क्या होगा, यह तो आप सोच ही सकते हैं। हाँ, जिन-जिन सड़कों पर नहीं गया, जिन-जिन मोड़ों पर नहीं मुड़ा, जिन-जिन गलियों में नहीं घुसा, उनका ब्योरा आपको काफी विस्तार के साथ सुना सकता हूँ—इतने विस्तार से कि आप जरूर मुझे लखनऊवाला मान लें (यदि आप स्वयं ही लखनऊवाले न हों)।

यों लखनऊ के मार्ग बता सकना पर्याप्त नहीं। बल्कि लखनवी संस्कार का उससे पुष्टतर प्रमाण यह होगा कि दूसरे शहरों के मार्ग भी लखनवी पद्धति से बता सकें। कहावत है कि किसी के मित्र कौन हैं, यह पता लगते ही बताया जा सकता है कि वह स्वयं कैसा है: हम तो समझते हैं कि मित्रों से परिचय की भी कोई जरूरत नहीं है। आप एक बार उससे उसके घर का रास्ता पूछ लीजिए: इस प्रश्न के उत्तर में ही उसके सारे संस्कार मुखर हो उठेंगे और उसके संस्कारों से आप उस सामाजिक प्रवृत्ति को भी पहचान सकेंगे, जिससे वह आया है—यानी उसकी संस्कृति से आपका परिचय हो जाएगा। चाहें तो इसे एक नया सिद्धांत समझ सकते हैं। इस प्रबन्ध को मार्ग-निर्देशन या 'मार्ग-निदर्शन' न कहकर 'मार्ग-दर्शन' कहने का कारण इसी नए सिद्धान्त का आग्रह है। यों जो लोग शीर्षक में पूरी की पूरी बात कह देने के समर्थक हैं, वे इसे 'मार्ग-निदर्शन-दर्शन' भी कह सकते हैं; और जो उसे साथ-साथ चमत्कारी रूप भी देना चाहते हैं, वे उसे 'दिग्दर्शन-दर्शन' भी कह सकते हैं।

संस्कृति देश-काल-मर्यादित होती है, यह तो सभी जानते हैं—यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर भी। यद्यपि कहीं आप उनकी बात समझ न लें, इसलिए वे इसे ऐसे कहेंगे कि 'संस्कृति का एक आयाम दैशिक होता है, दूसरा कालिक।' जिस प्रकार हम देश-काल-ज्ञान से किसी व्यक्ति के संस्कारों का अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के संस्कारों से हम उसके देश-काल को भी पहचान सकते हैं। लखनवी-बनारसी, बिहारी-बंगाली-पंजाबी की पहचान के सूक्ष्म संकेत तो हमने ऊपर दे ही दिये; अपने अनुसंधान को काल के आयाम में

बढ़ाएँ, तो इस दर्शन की उपयोगिता और मौलिकता और भी स्पष्ट हो जायगी। कोई स्थान-संकेत देते हुए कहता है :

पेड़ों के नीचे शुक-शावकों के मुँह से गिरे हुए तृण-धान्य हैं, पत्थर इंगुदीफलों के तोड़े जाने से तैलाक्त हो रहे हैं, आश्वस्त भाव से घूमते हुए मृग, शब्द सुनकर भी नहीं चौंकते, जलाशय के पथ पर वल्कल शिखा से झरी हुई बूंदों से रेखाएँ खिंच गई हैं—

इन संकेतों से यह समझ लेना कठिन नहीं है कि यह ऋषि-उपवन का मार्ग है, और यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई असाधारण बुद्धि नहीं चाहिए कि ऐसे मार्ग-संकेत का काल आश्रम-सभ्यता का काल है।

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किशलयरुचामाज्य धूमोद्गमेन—

पवनालोडित कुल्या के जल से वृक्षों के मूल धुले हुए हैं, और यज्ञ-धूम से उनके किसलयों का रंग बदल गया है : इन लक्षणों से हम केवल एक आश्रम की समीपता ही नहीं पहचानते, एक समूचे सांस्कृतिक वायुमंडल का स्पर्श हम पा लेते हैं। और इसीलिए अनन्तर जब हम पाते हैं कि आश्रम छोड़कर जाती हुई शकुन्तला अपनी सखियों को तो कण्व ऋषि को देती है, किन्तु 'अपसृत-पांडुपत्र'—रूपी आँसू बहानेवाली लता से गले मिलती है, क्योंकि वह माधवीलता तो 'लताभगिनी' है, तो हमें आश्चर्य नहीं होता—उस वातावरण में जीव और जीवेतर सभी का संवेदनशील होना ही सम्भाव्य है।

किन्तु साहित्यिक मार्ग-संकेतों के उदाहरण के बिना भी काल-सापेक्ष्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित हो सकता है। मार्ग-निर्देशन के तरीकों में पीढ़ी दर पीढ़ी कैसे परिवर्तन हुए होंगे, यह खोज का और कल्पना का बहुत अच्छा विषय हो सकता है। आपका गन्तव्य जो ग्राम है, उसका नाम 'जोशीमारा' न भी हो, तो भी अगर आपको 'सीतला की मढ़िया के आगे जो अमराई पड़ती है, उसके किनारे के भुतहे पीपल के आगे से मुड़कर, डायन के टीले की ओट में बसे हुए पुरवे' तक पहुँचने का मार्ग बताया जा रहा है, तो आप सहज ही मान ले सकते हैं कि यदि आप आज के किसी अन्धविश्वास-विजड़ित समाज के प्रदेश में नहीं आ गए हैं, तो निश्चय ही किसी ऐसे युग में जा पहुँचे हैं, जिसमें विज्ञान का स्थान अन्धश्रद्धा और धर्म का स्थान भय अर्थात् अन्धविश्वास को प्राप्त है....और 'राजा का साहसपुर' के पास 'ठाकुर फ़तेहसिंह की गढ़ी' 'सिंह पौर' और 'हाथी पोल'—ये क्या आपको वीर-सामन्त-काल में नहीं ले जाते ?

क्रमशः और इधर आइए। मद्रास में आप शहर के एक भाग से दूसरे भाग में जाते हैं, तो जिस राजमार्ग से होते हुए जाते हैं, उसका नाम है 'गान्धी-अरविन रोड।' गान्धी मार्ग तो देश में अनेक हो गए, दिल्ली में 'अरविन स्टेडियम', 'अरविन कालेज' आदि का नाम सुना है, पर 'गान्धी-अरविन रोड' एक साथ केवल दो नामों को नहीं, हमारे देश की राजनैतिक प्रगति के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना को हमारे सामने ले आती है। दिल्ली का 'कारोनेशन स्क्वेयर' तो बस्ती से दूर पड़ गया और कारोनेशनों की स्मृति भी देश के स्मृति पटल पर फीकी पड़ गई, पर 'म्यूटिनी मेमोरियल रोड' अभी तक पुराने दर्द को जगाती हुई बनी है। और 'क्रान्ति मार्ग', 'रिपब्लिक एवेन्यू' आदि नाम भी न केवल एक ऐतिहाहिक युग को, वरन् एक ऐसे संक्रान्ति काल को हमारे सामने लाते हैं, जिसमें राजनैतिक संघर्ष ही संस्कृति का मुख्य प्रश्न था।

कभी-कभी तो इन नामों से ऐसा जान पड़ता है कि नगर-निर्माण की एक नई पारिभाषिक शब्दावली बन गई है। पारिभाषिक कोशों का तो युग ही है, इसलिए इस विषय का भी एक कोश बन जाय तो अचम्भा क्या; किन्तु जिस परिभाषा की बात हम कह रहे हैं, वह सोद्देश्य नहीं बनी, वह 'अन्यथा सिद्ध' की श्रेणी में ही आ सकती है। उदाहरणतः हर नगर या कस्बे की बीच की सड़क 'गान्धी मार्ग' होती है। इस सड़क के बाईं ओर वाले पथ को 'कस्तूरबा पथ' कहा जाता है, और दाहिनी ओर के पथ को 'जवाहर रोड।' 'गान्धी मार्ग' पर कोई बड़ा चौक पड़े तो वह 'आज़ाद मैदान' कहलाता है। 'जवाहर रोड' को कोई सड़क तिरछी काटती हो तो 'पटेल पथ' कहलाती है, और अगर सड़क के पद के योग्य न हो, तो उसे 'पटेल गली' भी कह सकते हैं; अगर एकाधिक गली तिरछी पड़ती हो, तो उन्हें क्रमशः 'पटेल गली नं० १', 'नम्बर २', 'नम्बर ३', कहा जा सकता है। जो गली आगे जाकर बन्द हो जाती हो, जिससे निकलकर जाने का एकमात्र मार्ग उलटे पाँव लौटने का हो, तो उसे 'टण्डन गली' कहते हैं; दिल्ली या इलाहाबाद या ऐसे प्रदेशों में, जहाँ जीर्ण भारतीय संस्कृति का स्थान हिन्दुस्तानी कल्चर ले रही है, टंडन गलियों को 'कूचा टंडन' भी कहा जाता है।

विशेष उल्लेखनीय बात तो यह है कि ऐसी परिभाषा केवल भारतवर्ष में ही बनी है—इस दृष्टि से भी यह देश अद्वितीय ही है। महापुरुषों की स्मृति बनाए रखने के लिए और देशों में प्रयत्न न हुआ हो, ऐसा नहीं है; पर वहाँ ऐसे प्रयत्नों का समुचित साधारणीकरण नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए इंग्लिस्तान में केवल एक वाटरलू है, वह भी रेल का स्टेशन; केवल एक

ट्राफलागर स्क्वेयर; अमरीका में केवल एक वाशिंगटन, रूस में एक लेनिनग्राड, एक स्तालिन ग्राड। किन्तु आप कल्पना भी कर सकते हैं कि भारत में केवल नई दिल्ली को या वर्धा को गान्धी नगर कहकर समझ लिया जाय कि उस नाम को और भौगोलिक बन्धनों में डालने की आवश्यकता नहीं है ? या कि राष्ट्रपति भवन में इंडिया-गेट (अथवा राजघाट) तक के मार्ग को, जो आज किंग्सवे यानी राजपथ कहलाता है यद्यपि राजाओं के दिन अब—आशा करनी चाहिए—सदा के लिए लद गए) गान्धी मार्ग कह दिया जाय और समझ लिया जाय कि भारत के इस सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिवाले मार्ग को यह नाम दे देने के बाद एक महान् नाम का उचित सम्मान इसी में है कि उसे हर नगर की हर सड़क पर चिपकाने का प्रयास छोड़ दिया जाय ? न—गान्धी हमारे थे, सबके थे, इसे साग्रह प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है कि हमारी गली, हमारे कूचे, हमारी पटरी के साथ उनका नाम बँधा हो ! आप कहेंगे कि भारत भी तो हमारा है; तो साहब, ऐसे तो फिर दुनियाँ ही हमारी है, क्या इस मर्त्यलोक को ही गान्धी लोक कहने लग जाएँ ? तो इसलिए शहर-शहर, गाँव-गाँव में गान्धी मार्ग होंगे, प्रान्त-प्रान्त में गान्धी ग्राम और गान्धी नगर, हर कस्बे के मुहल्लों के नाम जवाहर नगर और कमला नगर हुआ करेंगे और हर एक में एक नेताजी पार्क या आजाद पार्क हुआ करेगा। हर शहर की हर म्युनिसिपैलिटी एक ही बात सोचे, अनेकता में एकता के प्राचीन भारतीय आदर्श का कितना सुन्दर निर्वाह है ! और यह भी कौन कह सकता है कि 'सेठ रामकिशोर लक्ष्मीनारायण लाल हरगुलाल का गली' जैसे गली से भी लम्बे नाम भी पारिभाषिक नामों से अच्छे थे, या कि 'गली कायस्थाँ' और 'मुहल्ला बिरहमनाँ' नई पद्धति के 'वाल्मीकि नगर' या 'रविदास स्क्वेयर' के सामने टिक सकते हैं ? और हम काशी के धुरन्धर पंडित प्रवर से अनुरोध करेंगे कि 'अभिनव नाट्य शास्त्र' के बाद 'अभिनव मानसार' लिखकर वह अपने नाम के आगे 'अभिनव भरत' के साथ-साथ 'अभिनव' का विरुद्ध भी जोड़ लें। भरतत्व को प्रमाणित करने के लिए यदि बम्बई के सिनेमा का अनुभव पर्याप्त है, तो ....त्व के तो भारतवर्ष के समूचे स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रमाण होगा।

किन्तु हम दिग्दर्शन-दर्शन की बात कह रहे थे, नामकरण की नहीं। कुछ बहक गए। लेकिन कोई बात नहीं, उलटे पाँव लौट आते हैं। समझ लेंगे कि कूचा टंडन में घुस गए थे और वहाँ से बिना बेआबरू हुए ही फिर निकल आये। तो हम कह रहे थे कि हर पीढ़ी और युग में मार्ग-दर्शन की अपनी परिपाटी रही होगी, और उदाहरण देते हुए क्रमशः समकालीन जीवन की ओर

बढ़े आ रहे थे। संघर्ष काल के मार्ग-निर्देशों का तो हम मार्गों के नाम से अनुमान लगा ही सकते हैं। और उसके अनन्तर आज ?

एक पीढ़ी भर में कितना बड़ा परिवर्तन हो गया है, इसका प्रमाण देने के लिए कुछ कल्पना-विहीन लोग कदाचित् आँकड़ों की ओर दौड़ें, कोई बुनियादी तालीम से लेकर भाखड़ा-नंगल तक के क्रिया-कलाप की दुहाई दें, किसी को कदाचित् यह भी ध्यान आ जाय कि पिछले सात वर्षों से वनमहोत्सव करते हुए जो गण्यमान्य लोग शहरों में सब्ज़-बाग़ लगाने और दिखाने का भगीरथ प्रयास करते रहे, उनमें से वन में बसकर सरल जीवन बिताने की एक को भी नहीं सूझी, यद्यपि वन-सभ्यता और ऋषियों के जीवन की चर्चा सभी ने की होगी। पर इस सबकी कोई आवश्यकता नहीं है, आप एक चौराहे पर खड़े होकर किसी से मार्ग पूछिए और उसी के उत्तर में युगान्तर बिजली-सा कौंध जाएगा।....

"वह जो बहुत बड़े-बड़े दो लाल बोर्ड हैं न, जिस पर छः-छः फुट के अक्षरों में लिखा है 'खाज', 'खुजली'—वहाँ से बाएँ को मुड़ जाइए। आगे एक गोल चक्कर आएगा, फिर एक मोड़, फिर एक तिरस्ता—वहाँ एक रास्ते के सिरे पर बहुत बड़े बोर्ड पर लिखा है, डोंट वाक टु योर डेथ' और मोटर के नीचे गिरते एक आदमी का चित्र है। उसी सड़क पर हो लीजिए : कोई पचास कदम आगे जाकर एक पक्की दीवार दीखेगी, जिस पर चूने से लिखा है 'नामर्दी-नामर्दी-नामर्दी।' दीवार आगे चलकर बड़े अस्पताल की दीवार से मिल जाती है—आप तुरन्त पहचान लेंगे, क्योंकि वहाँ बिगुल पर X का निशान बना हुआ है और लिखा हुआ है 'सायलेंस ज़ोन।' बस, वहीं तक आपको जाना है : उस निशान के सामने ही 'सिंहनाद' नाम की रेडियो की दूकान है (बोर्ड आप न भी देखें, तो उसके लाउड स्पीकरों का स्वर आप तीन फर्लांग से सुन सकते हैं, रात बारह बजे तक), और सिंहनाद की साथवाली दूकान में आपके मित्र रहते हैं। उनका बोर्ड तो लगा है, पर दिन में दीखता नहीं, रात को उसके पीछे बत्ती जलती है, तो पढ़ा जा सकता है। हैं, उन्हीं की छत के ऊपर एक बोर्ड है, जिसमें बिजली की बत्तियों से लिखा हुआ है 'न्यूरोसिस'। बस, आप सीधे न्यूरोसिस के बोर्ड के नीचे चले जाइए।"

मेरे मार्ग-दर्शन से निस्सन्देह आप ऊब गए होंगे। पर ऊब कर मुझे दोष न दीजिए। क़ुसूर मेरा नहीं, ज़माने का है। आप ज़माने पर हँस लीजिए और इस प्रकार परोक्ष मुझ पर भी—आपको हँसा सकूँ, तो मेरे धन्य भाग।

और आप ऊबे न हों, या हँसना न चाहें—तब ? तब भी कोई चिन्ता नहीं; तब तो मेरे मार्ग-निर्देशन की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है—आप मेरे बताए हुए मार्ग पर ही चल रहे हैं : बस, सीधे न्यूरोसिस के बोर्ड के नीचे चले जाइए—वह आधुनिकता का दूसरा नाम है, और समकालीन जीवी के लिए उपयुक्त बिल्ला ! संसार के न्यूरोटिको एक हो जाओ—तुम्हारे न्यूरोसिस के सिवा और तुम्हारा क्या कोई छीन लेगा ?

●

रामविलास शर्मा
[सन् १९१२—....]

युग की परिधि और साहित्य की व्यापकता

साहित्य के मूल्य स्थायी हैं और मनुष्य ने अपने सुदीर्घ विकासक्रम और जीवन-संघर्ष के बीच ही उन्हें पाया है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन, पशु और मनुष्य में समान रूप से हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के इन्द्रियबोध मनुष्य और पशु में समान रूप से विद्यमान हैं, लेकिन समान मात्रा में नहीं, समान-रूप से विकसित नहीं। अपने सामाजिक जीवनक्रम में मनुष्य जहाँ पशुओं से भिन्न स्तर पर विकसित हुआ है, वहाँ उसने अपने इन्द्रियबोध का भी परिष्कार किया है। शब्द पर मुग्ध होना, रूप-रंग पर रीझना, उसके विवेक का परिचायक है। यह विवेक सामाजिक विकास से ही संभव हुआ है, वर्ना मनुष्यभक्षी जंगली जातियाँ भी श्रेष्ठ संगीतज्ञ और चित्रकार पैदा कर देतीं।

रूप और शब्द के बिना न तो संसार की सत्ता सम्भव है, न साहित्य की। "ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य जाति, जगत नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड़ दी गई है।" (आचार्य शुक्ल : रसमीमांसा, पृ० २५९)। मनुष्य और प्रकृति की यह रूपात्मक एकता साहित्य का भी मूलाधार है। इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के सहारे कला की सृष्टि—यह अटल नियम मनुष्य के सामाजिक विकास के आदि से चला आ रहा है। मनुष्य के इन्द्रियबोध में आदिकाव्य से लेकर आज तक भौतिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि निर्झरों का संगीत, वन-पर्वत की शोभा, मनुष्य का रूप और यौवन जैसे हजार साल पहले कवियों के लिए आकर्षक था, वैसे आज भी है। और मनुष्य के इस इन्द्रियबोध का निखार हुआ उसके सामाजिक जीवन के कारण, उसके विकास के कारण। यह इन्द्रियबोध सामाजिक परिस्थितियों में सम्भव हुआ है, लेकिन वह उनका सीधा प्रतिविम्ब नहीं है। मनुष्य का इन्द्रियबोध उसके सामाजिक विकास के साथ आरम्भ नहीं हुआ, वह परिष्कृत रूप में उसके साथ पहले से था। इसीलिए उसे सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिविम्ब मानना गलत है। साथ

ही इन्द्रियवोध का परिष्कार सामाजिक विकास-क्रम ही में सम्भव हुआ है, इसलिए वह समाज-निरपेक्ष नहीं है।

मार्क्सवाद ने मानव संस्कृति समाज-व्यवस्था के परस्पर सम्वन्धों की व्याख्या करते हुए इस वात पर जोर दिया है कि संस्कृति सापेक्ष रूप से स्वाधीन है। यह सापेक्ष स्वाधीनता का सिद्धान्त मनुष्य के इन्द्रियवोध की, उसकी सौन्दर्य वृत्ति की वहुत अच्छी व्याख्या करता है। यह समझना कि समाज-व्यवस्था वदलने के साथ मनुष्य का इन्द्रिय-वोध भी मूलतः वदल जाता है, निराधार कल्पना है। मनुष्य की चेतना में सवसे व्यापक स्तर उसके इन्द्रिय-वोध का है। उसके विचार वदल जाते हैं, भाव वदल जाते हैं, लेकिन उसका इन्द्रिय-वोध फिर भी अपेक्षाकृत स्थायी रहता है।

साहित्य शब्द द्वारा, चित्रों द्वारा मनुष्य को प्रभावित करता है। उसका प्रभाव दर्शन और विज्ञान से ज्यादा व्यापक इसीलिए होता है कि उसका सम्वन्ध इन्द्रिय-वोध से है। उसका माध्यम ही रूपमय है; कल्पना के सहारे वह तरह-तरह के रूप पाठक या श्रोता के मन में जगाता है। उसकी विषयवस्तु भी रूपमय है। वह चिन्तन के निष्कर्ष ही नहीं देता, जीवन के चित्र भी देता है। दर्शन और विज्ञान से भिन्न उसकी निजी कलात्मक विशेषता जीवन के चित्र देने में है। इसीलिए मार्क्सवाद, फ़ार्मूलों के अनुसार साहित्य रचने का विरोध करता है, ऐसा साहित्य चित्रमय नहीं होता, उसके चित्रों में सजीवता नहीं होती। उसमें केवल जीवन के निष्कर्ष रहते हैं, जीवन के चित्र नहीं। वह अपनी निजी कलात्मक विशेषता खो देता है।

एंगेल्स ने कवि प्लाटेन के वारे में लिखा था; "प्लाटेन की गलती यह थी कि वह अपनी बुद्धि की उपज को कविता समझता था।" (लिटरेचर एण्ड आर्ट, ले० मार्क्स और एंगेल्स, पृ० ८४)। कविता के लिए विचार काफी नहीं है—प्लाटेन एक श्रेष्ठ विचारक था—उसके लिए चित्रमय कल्पना भी चाहिए।

सामाजिक विकास और इन्द्रिय-वोध का परस्पर सम्वन्ध दिखलाते हुए मार्क्स ने लिखा है :

"मनुष्य के वस्तुगत समृद्ध विकास से ही यह संभव होता है कि उसकी आत्मगत ऐन्द्रियता अंशतः विकसित हो और अंशतः रची जाय, जैसे कि संगीत प्रेम, रूप की पहचान, मानवीय भोग की क्षमता रखनेवाली सभी इन्द्रियां, जो मूलतः मानव शक्तियां सिद्ध होती हैं।" (उप०)

मनुष्य का इन्द्रिय-वोध अंशतः विकसित होता है, अंशतः रचा जाता है। मनुष्य की आत्मगत ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत सामाजिक जीवन से ही विकसित

और समृद्ध होती है; लेकिन यह ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत जीवन का सीधा प्रतिविम्ब नहीं है।

मनुष्य का इन्द्रियबोध उसके समूचे विकास का परिणाम है। मार्क्स का कहना है : "पाँचों इन्द्रियों का निर्माण अब तक के समूचे विश्व इतिहास का काम है।" (उप०)। मार्क्स आगे कहते हैं कि भूख से जिसके प्राण निकल रहे हों, उसके खाने में और पशु के खाने में क्या अन्तर है, यह कहना कठिन है। परेशान ग़रीब आदमी को सुन्दर से सुन्दर नाटक देखने का चाव नहीं होता। धातुओं का व्यापार करनेवाला सिर्फ उनकी बाजारू कीमत देखता है, उनकी मौलिकता और सौन्दर्य नहीं।

इस तरह जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य की सौन्दर्य वृत्ति को कुण्ठित भी करती हैं। मार्क्सवाद पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उसे उपयोगितावाद के अलावा सौन्दर्य से काम नहीं। लेकिन सौन्दर्य का विरोधी कौन है, वे जो करोड़ों आदमियों को ग़रीबी और भुखमरी के हवाले करके उनकी सौन्दर्य वृत्तियाँ कुण्ठित कर देते हैं या वे, जो उनके लिए भी इन्सान की ज़िन्दगी चाहते हैं, उनके अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उस समाज की रचना करते हैं, जहाँ मनुष्य की सौन्दर्य वृत्ति कुण्ठित न होकर पल्लवित हो सके? मार्क्सवाद को सौन्दर्य का विरोधी समझनेवाले सज्जन मार्क्स का यह वाक्य ध्यान से पढ़ें : "वे इन्द्रियाँ जो जीवन की स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओं से सीमित हैं, अपनी सार्थकता बहुत कम कर लेती हैं।"

मार्क्सवाद ऐन्द्रियता का विरोधी नहीं है। जीवन में भोग और आनन्द का स्थान है; साहित्य में भी उसका स्थान होना चाहिए। कवि वेर्थ के लिए एंगेल्स ने लिखा था कि वह जर्मन मजदूर वर्ग का पहला और सबसे महत्वपूर्ण कवि है। फ्राइलीग्राथ से उसकी तुलना करते हुए एंगेल्स ने लिखा था : दरअसल मौलिकता, व्यंग्य और खासतौर से ऐन्द्रिय उल्लास (सेक्सुअस फ़ायर) में उसकी सामाजिक और राजनीतिक कविताएँ फ्राइलीग्राथ से कहीं बढ़कर हैं।" (उप० १११)। एंगेल्स ने उसे हाइने से भी श्रेष्ठ बतलाया और "स्वाभाविक स्वस्थ ऐन्द्रियता और शारीरिक आनन्द की व्यंजना में," केवल गेटे को ही उससे ऊँचा दर्जा दिया।

यद्यपि इन्द्रियबोध मनुष्यों में प्रायः समान है, फिर भी उसका परिष्कार सबमें एक-सा नहीं होता। ऐसे युग में जब शासक वर्ग अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुका हो, यह बात बहुत साफ़ दिखाई देती है कि उसका इन्द्रियबोध अस्वाभाविक और अस्वस्थ हो जाता है। एंगेल्स ने व्यक्तिगत सम्पत्ति और

राज्य सत्ता के जन्म का विश्लेषण करते हुए यूनान के शासक वर्ग का जिक्र किया है, जिनके लिए प्रेम का अर्थ केवल भोग था और जिन्हें इसकी भी चिन्ता न रहती थी कि भोग का विषय नर है या नारी। दासों के स्वामी उस समय तक अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुके थे। उनका जीवन काहिल, कामचोर, निकम्मे विलासियों का जीवन बन गया था। उनकी इस सामाजिक स्थिति का प्रभाव उनकी साहित्यिक रुचि पर भी पड़ा और वह विकृत और अस्वाभाविक होती गई।

हिन्दी की रीतिकालीन कविता में नायिकाओं की भरमार, प्रकृति वर्णन के नाम पर घिसे-पिटे अलंकार, दरबारों की उर्दू शायरी में हुस्न और इश्क की आतिशबाज़ी—ये सब सामंती शासक वर्ग की विकृत रुचि की परिचायक हैं।

यूरोप और अमरीका का पूंजीवादी वर्ग आज मध्यकालीन पतित सामन्ती ऐन्द्रियता का प्रतिनिधि बनकर उसे और भी विकृत करता जा रहा है। नग्न स्त्रियों का चित्रण, अस्वस्थ काम चेष्टाएँ, सैडिज्म और मैसोकिज्म जैसी बीमारियां, सनसनीखेज़ घटनाएँ, हत्या, डकैती के रोमांचक वर्णन—पतनशील वर्ग अब इस तरह की ऐन्द्रियता में रस लेता है। उसकी और जनसाधारण की साहित्यिक रुचि में ऐसी दरार पड़ गई है, जो अब पाटी नहीं जा सकती। इस रुचि के विरुद्ध तमाम प्राचीन संस्कृति की स्वस्थ परम्पराओं को अपना आधार बनाकर जनरुचि को विकसित करने का काम यूरोप का मजदूर वर्ग कर रहा है।

भावों का विकास सामाजिक विकास पर ही निर्भर है। अपने प्रथम अवयव इन्द्रियबोध के रूप में भाव आदिम समाज के मानव में भी मिलेगा, लेकिन अपने परिष्कृत मानवीय रूप में, वह विकसित समाज-व्यवस्था ही में सुलभ है। मनुष्य का भावजगत उतना व्यापक और सार्वजनीन नहीं है, जितना उसका इन्द्रियबोध, पर उसके विचार जगत् से वह अधिक व्यापक है। रति, घृणा, उत्साह आदि के भाव मानव सभ्यता के आदिकाल से चले आ रहे हैं और इन्हें उचित ही स्थायी भाव की संज्ञा दी गई है। विज्ञान और दर्शन की अपेक्षा साहित्य की व्यापकता का यह दूसरा कारण है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और पितृ-सत्ता के उद्भव के बाद से पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहिन, पड़ोसियों आदि में जो परस्पर भाव सम्बन्ध क़ायम हुए थे—जिनका कारण आदिम समाज व्यवस्था के बाद मानव का विकास था—वे बहुत कुछ अब भी बने हुए हैं। यह भाव-जगत् बराबर समृद्ध होता गया है। मिसाल के लिए सुब्रह्मण्यम् भारती, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द में जो उत्कट देशप्रेम मिलता है, वह मध्यकालीन

कवियों के लिए दुर्लभ था। देशभक्ति की भावना का विकास हमारे नए सामाजिक विकास का ही परिणाम है।

कह सकते हैं कि रतिभाव मनुष्य में पहले से है। केवल आलम्बन बदल गया है। प्रेम तो प्रेम, चाहे रम्भा और उर्वशी से हो, चाहे शंकर और विष्णु से, चाहे गंगा और गोदावरी से हो, चाहे देश और जनता से। इस तर्क से इतना ही सिद्ध होता है कि देश-प्रेम की क्षमता मनुष्य में पहले से थी, लेकिन इस क्षमता का उपयोग आधुनिक युग की ही विशेषता है। यह स्वीकार करना होगा कि हमारा भाव-जगत् सामाजिक विकास के साथ अधिक समृद्ध और परिष्कृत होता गया है। लेकिन यहाँ भी अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुकनेवाले शासकवर्ग भाव-जगत् को संकीर्ण और विकृत ही करते हैं। १६वीं सदी के आस-पास यूरोप के नव-जागरण से पहले वहाँ के सामन्तवर्ग ने पुरोहितों की सहायता से कला और संस्कृति को रूढ़ियों से जकड़ रक्खा था। उन्हीं दिनों हिन्दी के दरबारी कवियों ने जहाँ चमत्कारवाद, अतिरंजित चित्रण, कृत्रिम भाव-व्यंजना का आश्रय लिया, वहीं सन्त कवियों ने जन-जागरण के विस्तृत भाव-जगत् को चित्रित और समृद्ध किया। आधुनिक यूरोप का पूँजीपति वर्ग अपने भावों में कुसंस्कृत और पतित दिखाई देता है। जनता से भय, भविष्य के प्रति निराशा, कुढ़न और खीझ, मनुष्य से घृणा, नई समाजवादी संस्कृति को कोसना—ये आज के पूँजीवादी भाव-जगत् की विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत देशप्रेम, संसार की जनता का भाईचारा, भविष्य में दृढ़ आस्था, आशा और उल्लास—ये शोषण से लड़नेवाली और नया समाज रचनेवाली जनता के भाव-जगत् की विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ गोर्की, प्रेमचन्द, रोमां-रोलां से लेकर हावर्ड फास्ट, फ़ादयेव, पाब्लो नरूदा आदि तक मिलती हैं। और यही धर्मवीर भारती के भय का कारण है। साहित्य उथला हो गया, स्थायी मूल्यों का नाश हो गया, सतही समाधान और शार्टकटों की भरमार हो गई, क्योंकि टी० एस० इलियट की तरह ये लोग नहीं कहते : "हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं, जिससे हम आँख नहीं मिला सकते।" वर्तमान युग में साहित्यकारों के आशावाद का एक ठोस आधार है—ग़रीबी और गुलामी के खिलाफ़ जनता का संगठन और संघर्ष, एक विशाल भूभाग में मेहनत करनेवालों के नए समाज को रचना। यह ठोस वास्तविकता ही इलियटवादियों के 'अज्ञात' भय का कारण है, यद्यपि उसमें अज्ञात रहस्य जैसी कोई बात नहीं है। ऐसे लोग रोने-कोसने के अलावा और कर ही क्या सकते हैं? उनके भाव-जगत् की यही विशेषता है।

भाव-जगत् की अपेक्षा मनुष्य के धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक विचार और

जल्दी बदलते हैं। पैदावार के तरीके और मनुष्यों के परस्पर आर्थिक सम्बन्धों से इनका गहरा सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि शेक्सपियर या तुलसीदास के अनेक विचारों से सहमत न होकर भी पाठक उनके साहित्य में रस लेता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साहित्य में विचारों की भूमिका नगण्य है या उसका सौन्दर्य इन्द्रियबोध और भावों पर ही निर्भर है। साहित्य में मनुष्य के विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका है और इसीलिए स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला और संगीत से उसका स्थान ऊँचा है।

समाज-व्यवस्था के बदलने के साथ, पैदावार का तरीका और मनुष्य के आर्थिक सम्बन्ध बदलने के साथ, उसके विचार भी बदलते हैं; लेकिन नई विचारधाराओं का विकास हवा में नहीं होता, वे पहले की विचारधाराओं से अपने लिए बहुत से तत्व समेटकर अपना विकास करती हैं। मिसाल के लिए क्रांतिकारी विचारक मार्क्स ने जर्मन दर्शन, फ्रांसीसी समाजवाद, अंग्रेजी अर्थशास्त्र की अनेक मान्यताओं को अपनाया, इन सबका मूल्यांकन करके मानव-ज्ञानकोष को और समृद्ध किया। सम्पत्तिशाली वर्गों ने भी अपनी क्रांतिकारी ऐतिहासिक भूमिका के समय ऐसी विचारधाराओं को जन्म दिया, जिनके बहुत से तत्व आज भी मूल्यवान हैं। परम्परा और प्रगति का यह सम्बन्ध ध्यान में रखना आवश्यक है। हम पुराने साहित्यकारों से रचना-कौशल, भाव-सौन्दर्य, इन्द्रियबोध का परिष्कार ही नहीं सीख सकते, उनसे विचारधारा के क्षेत्र में भी बहुत कुछ सीख सकते हैं।

प्रत्येक युग के प्रमुख विचारों की छाप उस युग के साहित्य पर मिलती है। इन विचारों से मनुष्य के भाव-जगत् का गहरा सम्बन्ध होता है। कवियों के भावचित्र, विचारों की ज्योति से दीप्त हो उठते हैं। इसीलिए यह प्रश्न महत्व-पूर्ण है कि साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या है, सामाजिक समस्याओं को वह कैसे समझता है, उन्हें किस तरह हल करता है। उच्च साहित्य में महान् विचारों, गंभीर भावों और सूक्ष्म इन्द्रियबोध का समन्वय मिलता है, इनका असन्तुलन साहित्य के प्रभाव और उसके कलात्मक सौन्दर्य को कम करता है।

यूरोप और अमरीका का पूंजीपति वर्ग आज बुद्धि के बदले अन्धविश्वासों को प्रश्रय देता है, अपनी शोषण व्यवस्था क़ायम रखने के लिए वह ऐसी विचारधारा का प्रचार करता है जिसका मूल आधार और उद्देश्य है—धोखा। जनता को ठगने के लिए वह सारी दुनिया में व्यक्ति की स्वाधीनता का ठेकेदार बनता है, जब कि हक़ीकत में वह करोड़ों को पगार पानेवाला गुलाम बनाकर रखता है और लाखों को बेकारी में मरने के लिए छोड़ देता है। सत्य से आँख

चुरानेवाली विचारधारा किसी में आशा और उत्साह कैसे भर सकती है? इसीलिए उससे प्रभावित लेखकों का मूल स्वर घुटन, निराशा और पराजय का है।

मनुष्य स्वतन्त्र हो, स्वतन्त्रता से रहे, सोए, लिखे-पढ़े, मध्यकालीन भाग्यवाद के खिलाफ़ यह विचार सामाजिक प्रगति के साथ-साथ अधिकाधिक जनता में फैलता गया है। "फ्रीडम फर्स्ट" (सबसे पहले स्वतन्त्रता) वाले प्रचारक इस विचार का बड़ा तूमार बांधते हैं; कहते हैं, समाजवादी देशों में इन्सान गुलाम है, उसकी स्वाधीनता के हिमायती हम हैं। मार्क्स ने लिखा था : "प्रेस की पहली आजादी उसके व्यापार न होने में है।" (उप०, पृ० ६३)।

पूँजीवादी समाज में प्रेस बराबर रुपया कमाने का साधन होता है और इसीलिए बड़े-बड़े पूँजीपति उसी तरह की विचारधाराओं को प्रोत्साहन देते हैं, जो उनके धनसंचय की पद्धति का किसी न किसी तरह समर्थन करता हो। समाजवादी व्यवस्था में प्रेस पैसा बटोरने की मशीन नहीं है, उसका काम चन्द पढ़े-लिखे लोगों का मनोरंजन करना नहीं है; सार्वजनिक शिक्षा के आधार पर ज्ञान का व्यापक प्रसार और साहित्य की समृद्धि उसका उद्देश्य है।

स्वाधीनता के पूँजीवादी हिमायती हर जन-आन्दोलन में स्वाधीनता का नाश देखते हैं। उनकी स्वाधीनता ऐसी नाजुक है कि वह अन्याय और अत्याचार के खिलाफ़ संघर्ष सहन नहीं कर सकती है। पूँजीवादी शोषण के खिलाफ़ रूसी जनता का संघर्ष; गोआ, ताइवान, कीन्या, मलाया, मोरक्को, वियतनाम आदि में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष—यह सब स्वाधीनता की लड़ाई नहीं है। उनके लिए स्वाधीनता की लड़ाई है, शान्ति और जनतन्त्र की शक्तियों को कोसना, अमरीकी युद्धप्रचार की सहायता करना।

मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उसके सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है, इसीलिए व्यक्ति और समाज की स्वाधीनता परस्परविरोधी न होकर एक दूसरे के आश्रित है। शोषण-मुक्त समाज में विकास की सुविधाएँ मिलने पर—कागज पर लिखे अधिकारों को अमल में लाने की भौतिक सुविधा मिलने पर ही मनुष्य अपनी स्वाधीनता चरितार्थ कर सकता है। संसार के शापित जन आज अपने राष्ट्रीय वर्गगत और व्यक्तिगत अधिकारों के लिए संगठित होकर लड़ रहे हैं। उनकी यह स्वधीनता—कामना सभी अच्छे लेखकों का सम्बल है।

साहित्य के रूप और उसकी विषयवस्तु का बहुत गहरा सम्बन्ध है। ये एक दूसरे से एकान्त भिन्न होकर परस्पर सम्बद्ध, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कविता की भाषा, उसकी चित्रमयता, छन्द-योजना आदि विषयवस्तु से तटस्थ न रहकर उसे प्रभावशाली बनाते हैं। साहित्य का शिल्प, उसके विभिन्न

रूप, सामाजिक विकास से ही सम्भव हुए हैं, उस पर बहुत कुछ निर्भर है। यह बात आकस्मिक नहीं है कि हर प्राचीन साहिय में महाकाव्य साहित्य का मुख्य रूप है और आधुनिक उद्योग-धन्धों की प्रगति के साथ उपन्यास साहित्य का मुख्य रूप बनाया गया है। जनता तक साहित्य पहुँचाने के साधनों में जो परिवर्तन हुए, उनका प्रभाव उसके रूपों पर भी पड़ा।

साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का गहरा सम्बन्ध मनुष्य के इन्द्रिय बोध से है। इंगलैण्ड में भौतिकवाद का प्रारम्भिक विकास होते ही साहित्यशास्त्र में कल्पना (इमैजिनेशन) चर्चा का महत्वपूर्ण विषय बन गई। कला की विशेपता उसकी चित्रमयता मानी जाने लगी। इन्द्रियबोध की व्यापक सार्वजनिकता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इससे कुछ लोगों ने यह परिणाम निकाला कि साहित्य में चित्र-सौन्दर्य ही सब कुछ है। रूप और विषयवस्तु के परस्पर सम्बन्ध की अवहेलना करके केवल रूप पर जोर देना ह्रासकालीन पूंजीवादी साहित्यकारों की विशेपता है। लेकिन रूप पर इतना जोर देने पर भी वे सुरूप साहित्य न रच सके, उनके चित्रों में वह भव्यता न पैदा हो सकी, जो पहले के साहित्कारों में मिलती है। इसका कारण यह है कि साहित्य में सजीव चित्र चाहिए, केवल रेखाएँ और रंग-रूप नहीं। शुक्लजी के शब्दों में "हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त रूप अंग—भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। हमारे अनेक प्रयोगवादी कवियों के जैसे बेजान-भाव हैं, वैसे ही कुघड़ उनके काव्य-चित्र हैं।

सामाजिक परिवर्तन के समय वर्गों की रूप सम्बन्धी रुचि का भेद स्पष्ट दिखाई देने लगता है। रीतिकालीन कवियों का शिल्प एक ओर, संत कवियों और छायावादियों का शिल्प दूसरी ओर—दोनों का अन्तर स्पष्ट है। एक में चमत्कार है, तो दूसरे में सहज सौन्दर्य है; एक में महीन पच्चीकारी है, तो दूसरे चित्रों और छन्दों में गरिमा, उदात्त भावव्यंजना के अनुकूल शिल्प की भव्यता। एक ही छन्द का प्रयोग करने पर भी गति और शब्द-संगीत में अन्तर है। पश्चिम के पूंजीवादी लेखक रूप के विचार से भी अब श्रेष्ठ रचनाएं नहीं दे पाते। उनकी विचारशृङ्खला टूटी हुई, चित्त भावशून्य, कथानक और चरित्र सामंजस्यहीन, भाषा अस्वाभाविक और दुर्बोध—उनके शिल्प की ये विशेपताएँ हैं। इसके विपरीत वे सभी लेखक, जो अपनी जनता और साहित्य की जातीय परम्परा को प्यार करते हैं, अपनी लोकमंगलकारी वस्तु के अनुरूप सुन्दर शिल्प का निर्माण भी करते हैं।

ऊपर के विवेचन से ये परिणाम निकलते हैं :—

साहित्य, आर्थिक परिस्थितियों से नियमित होता है, लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं : इन्द्रियबोध की अपेक्षा भाव और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील हैं। युग बदलने पर जहाँ विचारों में अधिक परिवर्तन होता है, वहाँ इन्द्रियबोध और भावजगत् में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है। यही कारण है कि युग बदल जाने पर भी उसका साहित्य हमें अच्छा लगता है। यही कारण इस बात का भी है कि पुराने साहित्य की सभी बातें हमें समान रूप से अच्छी नहीं लगतीं। सबसे ज्यादा मतभेद खड़ा होता है, विचारों को लेकर, उसके बाद भावों को, और सबसे पीछे और सबसे कम इन्द्रियबोध को लेकर। हमारी साहित्यिक रुचि स्थिर न होकर विकासमान है; पुराना साहित्य अच्छा लगता है, लेकिन उसी तरह नहीं, जैसे पुराने लोगों को अच्छा लगा था। इसीलिए मनुष्य अपनी नई रुचि के अनुसार नए साहित्य का भी सृजन करता है।

सामाजिक विकास-क्रम में सम्पत्तिशाली वर्गों ने एक समय अनिवार्य भूमिका पूरी की है, फिर विकास-पथ में बाधा बन गए हैं। दो विभिन्न युगों में अपने अभ्युदय और ह्रास की विभिन्न परिस्थियों में एक ही वर्ग दो तरह के साहित्य का पोषण करता है। यूरोप का वही पूंजीपति वर्ग, जो कभी तर्कसंगत ज्ञान, व्यक्ति की स्वाधीनता और नई सौन्दर्य-वृत्ति के लिए लड़ा था, आज इनका शत्रु हो गया है, अपनी ही सांस्कृतिक विरासत को मिटाने पर तुला हुआ है। विश्व में यह पूंजीवाद का ह्रासकाल है और श्रमिक जनता का अभ्युदय-काल। इस कारण आज श्रमिक वर्ग मनुष्य की तमाम सांस्कृतिक निधि की रक्षा करना चाहता है, पूंजीपति वर्ग द्वारा निर्मित सांस्कृतिक मूल्यों का रक्षक भी वही है, जब कि शासक वर्ग, आसन्न मृत्यु से आतंकित होकर, भय, निराशा, पराजय, मानव द्रोह और हिंसा की वृत्तियों का ही पोषक बनता जा रहा है। इसी कारण सचेत लेखक सामाजिक विकास की समस्याओं के प्रति उदासीन होकर शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र और जातीय संस्कृति के लिए संघर्ष करते हैं। आज की युग की परिधि में वे अब तक के संचित मानव मूल्यों की रक्षा करते हैं; इसी मार्ग पर चलकर वे इन मूल्यों को और भी समृद्ध करके अगले युगों को एक महान् विरासत के रूप में छोड़ जायंगे।

नगेन्द्र
[सन् १६१५—....]

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

साहित्य का मूल धर्म क्या है ? आलोचना में 'अहंवाद का पोषण करते हुए सामाजिक गुण का विरोध करने का जो आरोप मुझ पर लगाया गया है, उसे लेकर आत्मनिरीक्षण करने पर यह प्रश्न अनिवार्यतः मेरे मन में उठता है : साहित्य का मूल धर्म क्या है ? और अनेक पंडित मित्रों की विरोधी युक्तियों के बावजूद भी इसका उत्तर अब भी मेरे पास एक ही है : 'आत्माभिव्यक्ति।' जैसा कि मैं अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से व्यक्त करता आया हूँ, आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार में केवल दो तत्वों का ही अस्तित्व अंत में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है। और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। परंतु वास्तव में यह दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियाँ हैं और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत् की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है। और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को वह चाहे कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यों न माने, व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है।

साहित्य का संबंध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है, अतएव इसके लिए यह द्वैत स्वीकृति अनिवार्य है, चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण।' परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं—मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है, उसको व्यक्त करना ही इनकी

सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूँकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक हैं, इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। दर्शन में थोड़े-बहुत पारिभाषिक अंतर से इन्हें ही जीव और जगत्—आध्यात्मिक मनोविज्ञान में अहं और इत्थं, विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है, परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तु-रूप में नहीं ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूपवाला है—उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है, उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं, तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है—मैं जो चाहता था, वह कर रहा हूँ। यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं आत्म का प्रति-संवेदन या आस्वादन कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं, तो हमें एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनंद मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-अर्थ की पकड़ में आए कोई रूप ही नहीं रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड़ में नहीं आता, उसका अस्तित्व संवेदन से पृथक् कुछ भी नहीं है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है, जब वह शब्द और अर्थ में बँध जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभव को शब्द-अर्थ-रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का संबंध अनिवार्य नहीं है, परन्तु अनुभव और शब्द अर्थ का संबंध सर्वथा अनिवार्य है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का मूल्य क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है? तो जहाँ तक लेखक का संबंध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य-शास्त्रियों ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता तथा सूक्ष्मता और आंतरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो

आत्माभिव्यक्ति होगी, उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनंद अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनंद प्रदान करती है। मुझ जैसे व्यक्ति को तो, जो आनंद को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परंतु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनंद की ही ऐसी क्या उपयोगिता है? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों मे कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है।

शब्द और अर्थ अत्यंत आंतरिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से भी निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हों) अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यहीं एक और शंका का समाधान कर लेना उचित होगा—वह यह कि कहीं इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि अहंकार और अहं दो भिन्न वस्तुएँ हैं—अहंकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है, वहाँ अहं समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है, जिसे दूसरे शब्दों में आत्म भी कहते हैं। साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी सत्क्रियाओं की भाँति अहं अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय ही करती है; परन्तु अहंकार का पोषण उसके द्वारा सम्भव नहीं, क्योंकि उसके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा, निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में ही सम्भव हो सकती है—और आत्म-साक्षात्कार में दंभ के लिए स्थान कहाँ? अभिनव ने इसीलिए रस को उत्तम प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रकुमार से बातचीत हो रही थी।

उनका कहना था कि साहित्यकार का अहं स्वभावतः अत्यन्त तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य सृजन द्वारा वह इसी अहं से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी दृष्टि में वह इस अहं (अहंकार)[1] के नीचे दबी हुई पीड़ा को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है।

जैनेन्द्रजी के चिंतन पर गांधी की अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो संतों की आत्म-पीड़नमयी चिंता-धारा का प्रभाव है, इसीलिए उन्होंने आध्यात्मिक शब्दावली—'अहं का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव में अहं का संस्कार ही है—इसके द्वारा अहंकार का पूर्ण विसर्जन होकर अंत में सूक्ष्म रीति से अहं अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्म के इस गोपन में आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति में, जहाँ वासना अभुक्त रहती है, सम्पूर्ण आत्म-समर्पण की सम्भावना है, इसमें संदेह नहीं—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-निवेदन वैष्णव-साहित्य की अत्यंत परिचित घटना है। परन्तु इस समर्पण अथवा निवेदन में अहं का विनाश नहीं है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अहं को प्रेम-पात्र अथवा इष्ट देव में प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अंत में फिर उसे आत्मलीन कर लेता है। आत्म का यह संस्कार समष्टि के प्रेम में और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के संकुचित वृत्त से निकालकर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है। यहाँ अहं समाज के सम्मिलित अहं से तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है, उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है। यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्नपूर्वक वह आत्मदान नहीं करता, परन्तु इससे हमारी धारणा में बाधा नहीं पड़ती। हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अंत में आत्म का लाभ ही होता है, हानि नहीं।[2]

---

१ जैनेन्द्रजी दोनों का पर्याय-रूप में ही प्रयोग कर रहे थे।

२ परंतु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टिगत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टिगत प्रेम नहीं है। इसमें आत्मप्रवंचना एवं प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है, इसीलिए नेता लोग आत्म का संस्कार करने की अपेक्षा प्रायः अहंकार का संवर्धन कर लेते हैं। देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल धन और योग्यता होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि में असफल रहते हैं, और एक साधारण अपने में खोया हुआ व्यक्ति उसमें सफल हो जाता है। उसका कारण यही है कि नेता के जीवन में प्रदर्शन के अवसर

आत्माभिव्यक्ति होगी, उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनंद अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनंद प्रदान करती है। मुझ जैसे व्यक्ति को तो, जो आनंद को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परंतु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनंद की ही ऐसी क्या उपयोगिता है? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है।

शब्द और अर्थ अत्यंत आंतरिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से भी निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हों) अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यहीं एक और शंका का समाधान कर लेना उचित होगा—वह यह कि कहीं इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि अहंकार और अहं दो भिन्न वस्तुएँ हैं—अहंकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है, वहाँ अहं समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है, जिसे दूसरे शब्दों में आत्म भी कहते हैं। साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी सत्क्रियाओं की भांति अहं अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय ही करती है; परन्तु अहंकार का पोषण उसके द्वारा सम्भव नहीं, क्योंकि उसके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा, निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में ही सम्भव हो सकती है—और आत्म-साक्षात्कार में दंभ के लिए स्थान कहाँ? अभिनव ने इसीलिए रस को उत्तम प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रकुमार से बातचीत हो रही थी।

उनका कहना था कि साहित्यकार का अहं स्वभावतः अत्यन्त तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य सृजन द्वारा वह इसी अहं से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी दृष्टि में वह इस अहं (अहंकार)[1] के नीचे दबी हुई पीड़ा को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है।

जैनेन्द्रजी के चिंतन पर गांधी की अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो संतों की आत्म-पीड़नमयी चिंता-धारा का प्रभाव है, इसीलिए उन्होंने आध्यात्मिक शब्दावली—'अहं का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव में अहं का संस्कार ही है—इसके द्वारा अहंकार का पूर्ण विसर्जन होकर अंत में सूक्ष्म रीति से अहं अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्म के इस गोपन में आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति में, जहाँ वासना अभुक्त रहती है, सम्पूर्ण आत्म-समर्पण की सम्भावना है, इसमें संदेह नहीं—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-निवेदन वैष्णव-साहित्य की अत्यंत परिचित घटना है। परन्तु इस समर्पण अथवा निवेदन में अहं का विनाश नहीं है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अहं को प्रेम-पात्र अथवा इष्ट देव में प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अंत में फिर उसे आत्मलीन कर लेता है। आत्म का यह संस्कार समष्टि के प्रेम में और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के संकुचित वृत्त से निकालकर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है। यहाँ अहं समाज के सम्मिलित अहं से तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है, उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है। यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्नपूर्वक वह आत्मदान नहीं करता, परन्तु इससे हमारी धारणा में बाधा नहीं पड़ती। हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अंत में आत्म का लाभ ही होता है, हानि नहीं।[2]

---

१ जैनेन्द्रजी दोनों का पर्याय-रूप में ही प्रयोग कर रहे थे।

२ परंतु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टिगत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टिगत प्रेम नहीं है। इसमें आत्मप्रवंचना एवं प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है, इसीलिए नेता लोग आत्म का संस्कार करने की अपेक्षा प्रायः अहंकार का संवर्धन कर लेते हैं। देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल यश और योग्यता होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि में असफल रहते हैं, और एक साधारण अपने में खोया हुआ व्यक्ति उसमें सफल हो जाता है। उसका कारण यही है कि नेता के जीवन में प्रदर्शन के अवसर

अब प्रश्न का दूसरा अंश लीजिए। लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है? पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनंद की प्राप्ति होती है। यह परिष्कृत आनंद उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन से रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्लांति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है। हिंदी की रीति-कविता को ही लीजिए—आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कहकर लांछित किया जाता है, और एक दृष्टि से यह आरोप सर्वथा उचित भी है; परन्तु उसके मधुर छंदों ने पराभव-मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यंत महत्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध क्या आज कोई समाज-शास्त्री कर सकता है? बड़े-बड़े लोकनायकों ने अपने संघर्ष-क्लांत मनों को इसी की संजीवनी से सरस किया। लेनिन जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वयं लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनंद प्राप्त होता है, वह स्वयं एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से निरपेक्ष भी उसका एक स्वतंत्र महत्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है। परन्तु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अतर्क्य है—मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्वपूर्ण हैं, समाज की संघ-शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करनेवाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप में समाज का अविभाज्य अंग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है, अतएव उसी अनुपात से

अधिक और आत्म-साक्षात्कार के क्षण विरल होते हैं, और ऊपर से असामाजिक दिखनेवाले इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल होने के क्षण अधिक मिलते रहते हैं। किसी बृहत् आन्दोलन को लेकर खड़े होनेवालों की स्थिति इनसे भी अधिक जटिल है, क्योंकि उसमें सिद्धान्त की बौद्धिकता और उसके साथ प्रदर्शन का मोह भी अधिक रहता है।

उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिये, बौद्धिक और भावगत परंपराएँ दीं, उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की ही सिद्धि होती है। परंतु ये सब तर्क नैतिक हैं, साहित्यिक नहीं, उपर्युक्त कर्त्तव्य-निर्णय सामाजिक का है, लेखक का नहीं। और स्पष्ट शब्दों में सामाजिक के रूप में लेखक निःसन्देह उपर्युक्त दायित्व से बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह में यदि त्रुटि करता है, तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है; परंतु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बंधन नहीं है, लेखक-रूप में उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्व की भी हानि होगी; परंतु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती, क्योंकि निश्छलता का सात्विक आनंद वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है, जो सामाजिक दायित्व के प्रति अत्यंत सचेत है—वैयक्तिक स्वार्थ-साधन छोड़ समाज-सेवा में ही वह अधिकांश समय व्यतीत करता है। उसका व्यक्तित्व बहुत कुछ सामाजिक एवं सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत कुछ बलिदान किया है, उसकी आवाज में शक्ति है और मान लीजिए, यह व्यक्ति लेखक भी है, तो यह आवश्यक नहीं है कि उसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से, जिसके व्यक्तित्व में सामाजिक गुण नहीं हैं, अनिवार्यतः उत्कृष्ट ही होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमें एक और गुण होना चाहिए—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। आत्माभिव्यक्ति के दो अंग हैं—एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति, इनमें भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि उसके बिना कृति को साहित्य होने का गौरव ही नहीं मिल सकता। आत्म भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्म की गरिमा ही सापेक्षिक महत्व का निर्णय करेगी। वास्तव में महान् साहित्य की सर्जना उसी लेखक के लिए संभव है, जिसका आत्म महान् हो। जब तक उसका अहं महान् अर्थात् उन्नत, विस्तृत और गंभीर नहीं है, तब तक उसकी कृति महान् नहीं बन सकती—मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि अहं का यह उन्नयन, विस्तार और गांभीर्य व्यष्टि के वृत्त से निकलकर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही बहुत कुछ संभव है। (विश्वकवियों के जीवन में इस प्रकार का तादात्म्य सदैव रहा है।) परन्तु इस विषय में मेरे दो

निवेदन हैं—एक तो यह कि इतना सब कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है। महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती, पर निश्छल अभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं रहती, केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का गौरव नहीं दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गांभीर्य, जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादाम्य करने से प्राप्त होते हैं, और ये महत्तर मूल्य अंत में बहुत कुछ समष्टिगत मूल्य ही होंगे, यह ठीक है। परंतु इनका निर्णय स्थूल दृष्टि से, बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आंदोलनों को सामने रखकर नहीं करना होगा, वरन व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहती हुई अखंड-मानव चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ, इस सत्य का तिरस्कार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर भी अधकचरे निर्णय देता रहा है, परंतु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी ही रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाने पर उस अखंड मानव चेतना ने तुरंत ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है, और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है। 'समय ही साहित्य का सबसे बड़ा आलोचक है' यह मान्यता उपर्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृति है। यहाँ अखंड मानव चेतना की बात सुनकर शायद आप चौंक उठें, परंतु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह बड़ा निर्दोष शब्द है, इसके द्वारा मैं किसी आध्यात्मिक तत्व की ओर रहस्य-संकेत नहीं कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न, जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है, उसी से मेरा अभिप्राय है। ऐसी चेतना आध्यात्मिक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का संबंध राजनैतिक अथवा सामाजिक मूल्यों से है, और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का संबंध मानवीय मूल्यों से है। इन दोनों में साधारणतः कोई विरोध नहीं है, वास्तव में मूल्यों में सामाजिक नैतिक मूल्यों का अंतर्भाव हो जाता है, परंतु विशेष परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाए, तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जाएँगे।

विद्यानिवास मिश्र
[सन् १६२५—....]

धनवा पियर भइलें, मनवा पियर भइलें

धान पियरा गया है और 'धाना' (ग्राम-प्रेयसी) का मन भी पियरा गया है, धानी सारी अब उसे नहीं सुहाती। मघा में पछुआ की हहकाई ने माघ में घन-घोर पाले की नोटिस भी दे दी है। मन पीला न हो तो क्या हो? 'धनिया' का 'बलमु' परदेस गया हुआ है, परदेसिया न बने तो रोटी-कपड़ा कहाँ से चले? दशहरे-दिवाली में गाँव में राम-लीला और भरत-मिलाप देखने वह इस वर्ष भी आयेगा और कौन जाने, सदा की भाँति इस साल भी धानी रंग की साड़ी लानेवाला हो, सो इसलिए जांत के स्वर में अपना झीना स्वर डुबाते हुए भोर के बयार के द्वारा ग्राम-प्रेयसी सन्देश भेजती है—'ए राजा ले अइह धाना के सरिया न धानी, धनवा पियर भइलें, मनवा पियर भइलें।' अब जब धान ही पीला पड़ गया तो 'धाना' को धानी साड़ी कहाँ सुहाने लगी? उसका तन-मन-धन धान में मिलकर एकाकार हो गया है, वह दूर बसे प्रियतम के उछाह पर पानी फेर सकती है, पर अपने 'धानापन' से लगाव कैसे तोड़े? गीत लहरा रहा है, कुआँर की ओस लदी बयार थर्रा रही है—'मनवा पियर भइलें'।

जांत की चक्की की चुरुर-मुरुर से दूर कलजुगी देवताओं की हवाचक्की बोल रही है—यह आकाशवाणी है। भारत की खाद्य स्थिति सुधर गई है। १६५२ तक भारत स्वावलम्बी हो जायगा। खाद्य-मोरचे पर हमारा अभियान सफल रहा........हाँ, जरूर सफल रहा, तभी तो सुबह-शाम सावन के नजारों के गीत सुनाए जा रहे हैं, पपीहे की पुकार गुंजाई जा रही है और 'बादल', 'बरसात', 'काली घटा' की लरज छायी जा रही है। आखिर आकाशवाणी को दुःख-दैन्य से क्या लेना देना? आकाश-वाणी देवता की वाणी है, देवता का शरीर ही है सुख-भोग के लिए, पीड़ा की रंगीनी के लिए तो है ही नहीं।

पर जांत की चक्की हवा में चलती नहीं, वह तो जमीन पर चलती है, उसके राग में हवा का हलकापन नहीं, उसमें तो धरती का भारीपन है। धरती

में जीने-मरनेवाले पृथ्वी-पुत्रों की व्यथा के भार से वह चक्की दबी हुई है, उसकी कंठध्वनि उस व्यथा की कंठध्वनि है। वह कंठध्वनि धरती में ही खो जानेवालों की कंठध्वनि है, गगन में विहरण करनेवालों की कंठध्वनि बनने का वह कभी दावा नहीं करती। वह कंठध्वनि धरती से पुरस्कार नहीं माँगती, निर्ममता के साथ वह अपना मिहनताना नहीं वसूलती और न अपने को फैलाने और विश्व को कँपाने का दम भरती है। वह सूखती धरती को स्वर-सिंचन देती है, सोयी मिट्टी को साँस देती है और खोयी आत्मा को ध्वनि की राह देती है। आकाशवाणी की पहुँच पञ्चायत विभाग के बावजूद भी शहर वाली पान की दूकान से आगे नहीं हो सकी, पर इस चक्की की ध्वनि कण-कण में समायी हुई है। उसमें चहक न हो, पर जनसमूह के अन्तर्मन की लहक तो है ही, नहीं तो भोजपुरी देहात की वेदना कलकतिया दरवान या झरिया के कोयला-कुली या मोरंग के आराकश या बम्बइया भइया के हृदय में एक साथ कैसे गूँजती ? मीलों का अन्तर होते हुए भी धान की 'पियरई' उनकी आँखों में कैसे छा पाती ? धान की 'पियरई' उनके लिए कुछ अर्थ रखती है। उसकी पहली माँग है, शहर की महँगी में पेट काटकर कुछ अधिक पैसे जुटाने का दम तोड़ परिश्रम। उस परिश्रम का मतलब है मौत को नेवता देना।........

मौत ? मौत तो बुरी चीज नहीं है। जनसंख्या की बेथाम्ह बढ़ती पर रोक ही न लगेगी, इन घने बसे जनपदों में चार मुँह खानेवाले और कम होंगे। हाँ, पर ये चार मुँह खानेवाले ही नहीं, ये अपने पँचगुने मुँहों को खिलाने वाले भी हैं। उनकी मौत का अर्थ इन जनपदों का उजड़ना है। मंत्री लोग कहेंगे, स्थिति इतनी भयावह नहीं है, यह तो केवल जमींदारी के उन्मूलन तक रहेगी, उसके बाद सुराज आ जाएगा। आखिर मनु ने जो लिखा था 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' यह मनुष्य के रूप में बहुत बड़े देवता हैं, वह इन मंत्रियों के लिए ही तो। उस देवता का अपमान मामूली पाप है ? उसे पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय न देकर गँवई के डीह-डाबर पर बेला-कुबेला गीले गोवों का दूध चढ़ाना उसका घोर अपमान है। देवता कभी अपने विद्रोही को क्षमा करता है ? सो भी ऐसे विद्रोही को, जिसके जीवन का युगों-युगों से विद्रोह ही महामन्त्र रहा है।

सो देवता की दृष्टि भी इन पूर्वी जनपदों से (गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, गाजीपुर, बलिया, बस्ती) फिर गई है। देवता इधर आते भी कम हैं, पर हाँ एक बात है, ये देवता अमर नहीं हैं, ये तो पनसाला हैं, हर पाँच साल के बाद इनकी फेरी बदलती रहती है, इसलिए दूसरी फेरी में फिर घुसने के

लिए शायद अब राजगद्दी से उतरकर इधर भी रीझने-रिझाने आएँगे। किन्तु फूल-अक्षत उन्हें नहीं मिलेगा। फूल मुरझा गए हैं, अक्षत,क्षत-विक्षत हो उठा है, धान में बाली ही नहीं आनेवाली है, वहाँ से धान नहीं निकलेगा और उस धान में से कूटकर चावल तो और भी नहीं ! उन्हें मिलेगा अपनी उपेक्षा में विहँसनेवाला गान—'ले अइह धाना के सरिया न धानी, (अपनी धन्या के लिए धानी साड़ी न लाना) जनरागिनी की यह आत्म-उपेक्षा इसलिए इतनी तीव्र है कि उसके आस-पास का 'पर' दुःखी है। अपने सुख से जग का सुख मापनेवाली प्रतिभा इस जनरागिनी को मिली ही नहीं, यह उसका बहुत बड़ा दुर्भाग्य है। किसी ने कहा है 'आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह' सो 'ईश के इस परम अनुग्रह' से इन हतभागे जनपदों की अन्तर्वाणी वंचित है, लुभा-वनी आत्मवंचना की प्रसादी उसे कभी मिली नहीं, इसी लिए 'स्वर्णधूलि' का स्वप्न भी वह नहीं देख पाती, वह तो बस 'आगम' के अँधेरे की चिन्ता में डूबती चली जा रही है।....'मनवा पियर भइलें।'

मन पीला हो गया है, कदम्ब की डाल में कजली की तान नहीं उमड़ी, कहीं इसलिए तो नहीं पीला हुआ है, कजली की तान का क्या दोष, उसे उमड़ाने वाले कजरारे बादल तो इन्द्रपुरी में गोरे गातवाली अप्सराओं के नृत्य देखने के लिए अटके रहे, उन्हें काली कजली की सुधि खो गई। घनश्याम की सुधि लिये भादों की कृष्णाष्टमी तो आयी, पर अपनी अवधि पर आनेवाले श्याम घन नहीं आये। घनश्याम से श्यामघन का जब नाता ही टूट गया, तब भला घनश्याम की दुलारी कजली भवानी ही क्यों उमगने लगीं ? कजली की 'हरी हरी' तान नहीं मिली, इससे मन की हरियाली को पियराते ही बना। बादल ऐसे दगाबाज कि इन्द्र की वधूटियों को भी सरसाना उन्हें भूल गया। इन्द्र-वधूटियों की लाली भी नहीं छा पायी, ग्राम-वधूटियों ने हाथ-पाँव में इसी समवेदना में मेंहदी की लाली नहीं रची, क्योंकि दोनों ही तो 'बीर बहूटियाँ' हैं, एक दूसरे से इतना भी स्नेह न हो। हाँ, दोनों के 'वीर' एक दूसरे से विलग चाहे हों। वे विलग हैं भी। उनके 'वीर' रमते ही हैं, खटते नहीं; पर इनके वीर खटते हैं, तब कहीं एकाध पल रम भी लेते हैं। उनके 'वीर' को उनकी व्यथा की परवाह न होगी, पर इनके 'वीर' इनकी व्यथा के दहकते अक्षर दूर से पढ़कर सुलगते होंगे। उस सुलगाव की आशंका में इनका जितना मन पीला पड़ गया है, अपने दुःख में उतना नहीं।

असाढ़ में पहला डौंगरा बड़ी आशा लेके आया, सावन में धूल उड़ने लगी और भादों आये, उसके पहले ही कुँआर आ गया, सूना अनन्त आकाश लिये हुए उजले बादलों की छितरान लिये हुए। अलका की ओर जाते हुए मेघ के

दर्शन हुए, पर वहाँ से उनके लौटानी दर्शन नहीं मिले, जाने कहाँ बिलम गये, किस घाटी में अटक गये ? इसका पता-थाह लेने भी कौन जाय, आसमानी लोगों का सदा से यही रवैया रहा है। वे पृथ्वी से कर उगाहते हैं, पर कौन उनसे पूछने जाय कि उतनी ही मात्रा में अपना अनुग्रह भी वे बरसाते हैं ? समता और न्याय से भी उनको कुछ लेना-देना हो, तो वे अपना दायित्व समझें, वे तो बस किसी से छीनकर किसी दूसरे को देना जानते हैं, अपने आदान में सर्वग्राही बन जाते हैं, पर अपने दान में मनचाही छूट चाहते हैं। यही उनका बड़प्पन है। 'मधुकर सरिस सन्त गुन गहहीं' वे रस तो सब जगह से ले लेते हैं, पर देते उसी को हैं, जो उनकी दृष्टि में उसका पात्र है। मधुकर की भी तो जाति आसमानी है। कभी-कभी वे नीर-क्षीर विवेक में हंस भी बन जाते हैं, ऊँचे मानसरोवर में पैरते हुए वे सृष्टि-रचयिता के वाहन बनकर ऊँची-ऊँची बात भी करने लगते हैं। वे नीर नहीं छूते, बस क्षीर पीते हैं,—क्षीर जो रक्त का ही एक रूपान्तर है—क्षीर न मिले तो क्षीर जिससे बनता है, उसे भी पी लेते हैं, पर नीर नहीं लेते। आखिर पानी से परहेज़ न करें, तो उनका पानी न चला जाय ?

हंस पानी छोड़ देता है, उच्चवर्गीय साहित्यकार भी नीरस पानी साधारण लोगों के लिए छोड़ देता है, सरोवर के कमलों पर जीनेवाला हंस इतनी दया तो दिखाता ही है। परन्तु आकाश के मेघ, और धरती के 'परजन्य' जनता के शासक तो धरती का पानी उगाहकर, धरती का रक्त उगाहकर, धरती का रस उगाहकर, धरती का मधु उगाहकर और धरती का दूध उगाहकर पानी की एक बूंद भी नहीं देना चाहते। वे अपना संचित संभार निभृत कोनों में चोरी-चोरी लुटाते रहते हैं। इसी में उनकी 'परजन्यता' सिद्ध होती है। धान पियराए या मन पियराए, इससे उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता। उनके आस-पास मोर नाचते रहते हैं, वे उसी में आत्मविभोर रहते हैं, उन्हें कुररी का विलाप सुनाई भी नहीं पड़ता है।

पर कृषिकुररी बिलख रही है और शेषशायी की चौमासी नींद उस क्रन्दन से भंग होके रहेगी। धान पीला पड़ेगा, तो धान के मन में बसे हुए कृषि देवता का भी हरित मन पीला पड़ेगा। उस विराट् मन की विराट पीतिमा कुछ रंग लाके रहेगी।

०

मोहन अवस्थी
[सन् १९२९—....]

नाम नैनसुख

कल पुलिस ने दुर्घटना करके भागनेवाले एक ट्रक-ड्राइवर को पकड़ा। चालक महोदय का नाम था अर्राटेसिंह। उन्होंने अपने पिताश्री का नाम बताया बड़ाघड़सिंह। अर्राटेसिंह यदि सर्राटे से ट्रक भगाकर निकल जाने की कोशिश कर रहे थे, तो वास्तव में अपने नाम की गौरव-रक्षा में ही प्रयत्नशील थे। यह वाकया 'यथानाम तथागुण' की मिसाल है। लेकिन नाम हमेशा गुण पर प्रकाश डालते हों ऐसी बात नहीं है।

हमारे यहाँ नाम रखने का आधार बहुत व्यापक रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा देते हुए इंगित किया था कि कविता शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। यह कविता का कार्य है। किन्तु रचयिता की दृष्टि से देखने पर रचना-प्रक्रिया भी यही है। शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हुए बगैर कविता की रचना हो ही नहीं सकती। पर आचार्यजी ने नाम रखने की क्रिया को भी यदि ध्यान में रखा होता, तो उन्हें अपनी परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से अवश्य आक्रांत दिखाई पड़ती। फूलचन्द अथवा तमिल शब्द काशाम्बु से क्या यह नहीं मालूम पड़ता कि जिस व्यक्ति ने यह नामकरण किया, वह प्रकृति का अनन्य प्रेमी था। तुरई (वल्द लौकी, कौम काछी) नामक एक सज्जन का दर्शन-लाभ मुझे एक बार कचहरी में हुआ था। वे एक मुकदमे में गवाह होकर आये थे।

नाम का क्षेत्र बहुत बड़ा है। नारायण से लेकर घासीराम तक और कटोरी से लेकर जगदम्बा देवी तक उसका फैलाव है। पंजाब की ओर दरबारासिंह, गुरुद्वारासिंह सामान्य नाम हैं। अन्य प्रदेश भी यदि इनका अनुकरण करके मंदिरप्रसाद तथा मस्जिदबख्श-जैसे नामों का प्रचार करें, तो सांस्कृतिक एकरूपता में एक कड़ी और जुड़ जाए।

इसमें संदेह नहीं कि नाम व्यक्ति (नामकरणकर्ता) की भावनाओं को

प्रतिबिंबित करने के साथ भावनाओं में मंथन भी उत्पन्न करते हैं। हसीना नाम सुनकर कितने ही आंखें मलने लगेंगे। अड़कप्पन (सौन्दर्य का पिता) नाम सुन कर कितनी ही कुमारियों के हृदयों में हलचल हो उठेगी। माशूकअली में क्या आकर्षण है, यह किसी आशिकअली के दिल से पूछना चाहिए।

कोई-कोई नाम पढ़े-लिखे लोगों को भी चक्कर में डाल देता है। पिछले वर्ष हमारे यहां आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी डी० फ़िल० की मौखिक परीक्षा लेने आये। विषय उपन्यास से संबंधित था। प्रेमचंद के प्रसंग में उन्होंने पूछ लिया कि क्या कभी आपने प्रेमचंद के पात्रों के नामों पर विचार किया है, जैसे गोबर ? वहां डा० रामकुमार वर्मा, मैं तथा विभाग के अन्य दो-तीन अन्य सहयोगी प्राध्यापक भी उपस्थित थे। छात्रा कुशाग्रबुद्धि थी, पर इस अटपटे प्रश्न से कुछ सिटपिटा गई। डा० वर्मा उसे सँभालने के लिए कहने लगे—"शायद उसका नाम गोवर्द्धन रहा हो।" लेकिन मुझे मजाक सूझा। मैंने आचार्यजी से कहा, "पंडितजी ! गो-दान है तो गोबर नहीं होगा और क्या होगा !" बात हँसी में जरूर उड़ गई, मगर यह नाम क्यों रखा गया, इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। ऐसे कितने ही नाम हैं, जिनका अर्थ करने में लक्षणा-व्यंजना झख मारती हैं। अच्छा बताइए, मशालसिंह का क्या अर्थ है ? कल्लू, झब्बू, झंडू, लटूरी, झपड़ू, झाऊलाल, पटेसरी, कल्लन, मटरू आदि सैकड़ों नाम अपनी व्याख्या के लिए तड़फड़ाते नजर आते हैं। गटरूलाल पिंडीमल नाम की एक फर्म भी कानपुर में है। माच्चू, एच्चि आदि दक्षिण भारत के नाम भी इसी कोटि में आते हैं।

साहचर्य लगाव का सबसे प्रबल कारण है और अपना नाम तो व्यक्तित्व से भिन्न ही नहीं किया जा सकता। इसलिए नाम से व्यक्ति का लगाव स्वतः ही हो जाता है। मेरे साथ एक मिजाजीलाल दीक्षित पढ़ते थे। हमारे एक अध्यापक ने एक दिन उनके शुभ नाम की अवांछनीयता प्रकाशित करते हुए भरी कक्षा में उन्हें इतना बनाया कि बेचारे ने प्रार्थनापत्र देकर हाईस्कूल में अपना नाम बदलकर संतोषबिहारी रख लिया। लेकिन अगर उन्हें हम लोग संतोषबिहारी कहते, तो वे कभी उत्तर ही नहीं देते थे। एक दफा मैंने उन्हें पांच-छह बार पुकारा, मगर वे बोले ही नहीं। फिर ऊबकर मैंने कहा, "ओ मिजाजी" तो फौरन उत्तर मिला, "क्यों चिल्लाते हो यार ?" मैं झल्लाया—"हजरत को छह बार पुकार चुका हूं।" उन्होंने तुरुप जड़ी, "वाह म्यां, एक बार को छह बार गिनते हो।" तात्पर्य यह कि वे अपने व्यक्तित्व को मिजाजीलाल शब्द से भिन्न अनुभव कर ही नहीं पाते थे।

बात यह है कि शैशव में माँ-बाप ने जिस नाम से पुकारना प्रारंभ कर दिया, वही हम हो गये। धीरे-धीरे भावना के प्रभाव से वह शब्द हमारा स्वरूप बन जाता है। नाम के इस पार्श्व को लेकर प्रख्यात साहित्यकार श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने एक निबंध में अपने नाम पर पर्याप्त चर्चा की है। यद्यपि अनेक मित्रों को पदुम शब्द के बारे में बहुत-सी आपत्तियां हैं, पर बख्शीजी को यही नाम अच्छा लगता है। वे अपने नाम-परिवर्तन के लिए कभी सहमत नहीं हुए, हालाँकि उनका यह नाम एक बार दुर्घटनाग्रस्त तक हो चुका है। बात शायद सन् १९५३-५४ की है! बख्शीजी तथा पंडित देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' 'सरस्वती' के मुख्य सम्पादक थे। मैं भी 'सरस्वती' से संबद्ध था। संपादक-द्वय के नाम पत्रिका के मुखपृष्ठ पर छपते थे। उस बार प्रेस में छपते-छपते किसी प्रकार पदुम का 'प' टूटकर गिर गया। बहुत से फर्मे छप जाने पर यह गलती पकड़ी गई। सोचा गया कि उन फर्मों में 'प' ऊपर से चिपका दिया जाए, मगर बख्शीजी इस पर बिलकुल राजी नहीं हुए। अंत में उन फर्मों को रद्दी की टोकरी में फेंकना पड़ा। बख्शीजी का व्यक्तित्व ही निश्छल है, तो वे नाम पर यह आरोपण कैसे स्वीकार करते?

लेकिन कुछ लोग किसी सामाजिक हीन-ग्रंथि के कारण अपने नाम को छिपाते हैं। जहाँ आपको कोई साहब अपना नाम सदैव लघु बनाकर ही अँगरेजी में लिखते मिलें, वहाँ समझ लीजिए कि दाल में कुछ काला जरूर है। बी० दास बलखंडीदास हो सकते हैं, डी० ओझा दमड़ी ओझा निकल सकते हैं और सी० लाल में से कभी-कभी चोंगालाल प्रकट हो जाते हैं। किन्हीं-किन्हीं महोदयों का खयाल है कि अँगरेजी में रोब ज्यादा पड़ता है। जो बात के० राम कहने में है, वह खुशीराम में कहाँ! एक सज्जन तो ऐसे भी मिले, जो हिंदी नाम को अँगरेजी प्रकृति पर ढालकर लिखने में ही सौंदर्य के दर्शन करते। यानी कि वह अपना नाम कृष्ण Krishna न लिखकर Chrishna लिखते थे। हमारे एक मित्र ऐसे अँगरेजी-पुत्रों को खब्तुलहवास करार देते हैं। उनका कथन है कि लिप्यन्तर का अनर्थ ये बुद्धू लोग क्या समझें! उन्होंने बड़े खेद के साथ बताया कि अँगरेजी अखबारों की कृपा के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मंत्री गेंदासिंह को वे बहुत दिनों तक गंडासिंह ही कहते रहे और भंडारनायक को बंदरनायक कहना उन्होंने अभी थोड़े दिन पहले बंद किया है।

इन उच्चारायों के अतिरिक्त एक वर्ग ऐसा भी है, जो अपने असली नाम को नापसंद करता है। यह वर्ग साहित्यकारों एवं कलाकारों का है। कवि तथा कलाकारों को अपना छद्म नाम ही प्रिय लगता है। इसके दो कारण हैं—

पहला यह कि वह नाम उनके उस विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचायक है, जो उन्हें साधारण व्यक्तियों से पृथक् करता है। दूसरा यह कि लघु नाम अधिक सुरुचि-पूर्ण प्रतीत होने से वे अपने को लोकमानस के अधिक निकट अनुभव करते हैं।

नाम वस्तुतः कामरूप होते हैं। तद्भव तो कभी-कभी पहचान में भी नहीं आते। मेरे गाँव में एक लाला नवाबीलाल हैं। उनके परिवारवाले उन्हें लाड़ में नव्वी कहते थे। पड़ोसियों तथा कुछ प्रगतिशील मसखरों ने नव्बी शब्द को सुधारकर नव्बू कर दिया और अब वह रूप संशोधित होकर निब्बू तक पहुँच गया है। गाँव हो या शहर, चिरौंजीलाल कहीं न कहीं मिल ही जायँगे। दो-चार बार बादामसिंह और अखरोटसिंह से भी भेंट हो चुकी है, लेकिन किशमिश-लाल या छुहारेप्रसाद अभी तक मेरे सामने से नहीं गुजरे। सम्भवतः चिरौंजी-लाल सूखी मेवा से सम्बन्वित न होकर चिरंजीव शब्द से व्युत्पन्न है। कोई भाषाविज्ञानी मित्र 'कर्म कम्म काम' या 'धर्म धम्म धरम' की तरह कुछ न कुछ भिड़ाकर मेरी बात का अनुमोदन अवश्य करेंगे।

विभिन्न संस्कृतियों का प्रभाव होने से भारतवर्ष में संस्कृतियों के मिश्र प्रतीक नाम भी उपलब्ध हैं। जिस प्रकार सिकंदरबख्शसिंह, दारासिंह नाम सुन पड़ते हैं, उसी प्रकार प्यारे मियाँ, भूरे खाँ, लाल मियाँ-जैसे नाम भी अप्रचलित नहीं हैं। प्रसिद्ध देशभक्त राजा महेन्द्रप्रताप ने अपना नाम पीटर पीर प्रताप रखकर सांस्कृतिक एकता की पुष्टि की थी। जिन दिनों श्री बुल्गानिन हमारे देश में भ्रमण कर रहे थे, उन्ही दिनों पंजाब में उत्पन्न हुए एक बालक का नाम बुल्गानिनसिंह रख दिया गया था। फतेहगढ़ (उ० प्र०) के एक मुहर्रिर ने भी 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' नामक बुखार के दौरान अपने नवजात शिशु का नामकरण चाउ एन लाइ कर दिया था। बाद में वह नाम छोटा होकर चाऊ बना और अब बच्चे उसे चउआ रूप देने में समर्थ हो चुके हैं।

जिन दम्पतियों की संतान जीवित नहीं रहती, वे प्रायः खराब या तुच्छ नामकरण करते हैं। अनुमान यह है कि सुन्दर नाम ईश्वर को प्यारा होता है, अतः अच्छे नाम नहीं रखने चाहिए। इसी कल्पना से प्रेरित होकर घुरई, घसीटे, दुखई, कढ़ेर—जैसे नाम रखे जाते हैं, तमिल में इस ढंग के अनेक नाम हैं, उदाहरणार्थ—कुप्पन (पुं०-कूड़ा), कुप्पि-(स्त्री०-कूड़ा), ऊशि (सुई), मण्णांकट्टि (मिट्टी का चिखार), तुप्पुलान (नाभि)। इसी कारण दुर्देवताओं के नाम पर भी नामकरण मिलते हैं, यथा शंगिलिकरुप्पन, काट्टेरि, मुनियन। कुछ मजेदार नामों में एक नाम मूक्कात्ता (नाक की माँ) है। अमावास (अमावस्या) नाम भी कम प्रचलित नहीं है। कोई-कोई माता-पिता अपने पुत्र को जन्म होते ही कुछ

पैसों में किसी सम्बन्धी के हाथ बेच देते हैं। इसके मूल में यह अंधविश्वास काम करता है कि अब वह दूसरे का हो गया, अतएव अनिष्ट की आशंका नहीं रही। और काफी बड़ा हो जाने पर फिर क्रेता से खरीद लेते हैं। ऐसे बच्चों को बेचूलाल, छदामीलाल, रुपई आदि नामों से पुकारते हैं। कभी-कभी इस विश्वास पर कि अमुक इष्ट की मनौती मानने से संतान हुई है, उसी देवता से जोड़कर नाम रखते हैं। महावीर, विश्वनाथ, गंगाप्रसाद, रामबदल, माताप्रसाद आदि इसी विश्वास की प्रतिध्वनियाँ हैं।

इस प्रकार के नामों की भाँति ही ऐसे नाम हैं, जो किसी घटना-विशेष से सम्बद्ध होते हैं। हमारे गाँव में एक रेलचंद हैं, जो चलती ट्रेन में पैदा हो गए थे। कोई-कोई महानुभाव मेले में ही इस धरती को कृतार्थ कर देते हैं। इसलिए उन्हें मेलाराम नाम देने में किसे आपत्ति हो सकती है ?

पिछले युग के नाम सुनकर कम से कम लिंग-बोध निश्चय के साथ हो जाता था, पर समानता के इस युग में यह भेद मिट गया है। अब कमल, विमल सुनने मात्र से लिंग का अनुमान नहीं किया जा सकता। शान्ति शर्मा श्री हैं अथवा श्रीमती, यह जान पाना कठिन है।

ये नाम भ्रामक तो हैं, लेकिन स्त्री-पुरुष का मिश्रित भ्रम नहीं उत्पन्न करते। पुरुषों में बहुत से नाम स्त्री-पुरुष के संयुक्त रूप हैं, यथा राधेश्याम, सियाराम, रामसिया, उमाशंकर, सीतारामन्, राधाकृष्णन्, मीनाक्षीसुन्दरम्, लक्ष्मीनारायणन्। इन नामों में पति-पत्नी एक हैं, किंतु एक नाम बहुत विचित्र है लक्ष्मीशंकर। पता नहीं, किस रोमांटिक भक्त ने इस समाज के प्रति अपनी रुचि दिखाई है ? इन उदाहरणों के एकदम विपरीत वे नाम हैं, जिनमें एक व्यक्तित्व द्विगुणित नजर आता है, जैसे भोलाशंकर, शिवशंकर, कृष्णमुरारी, शेरसिंह, केशरीसिंह।

अपने पूज्य इष्ट के आगे 'दास' शब्द लगाकर अपने को अभिहित करना प्राचीन काल से चला आ रहा है। नारायणदास, रामदास, गुलाम-मोहम्मद, गुलामहुसैन नम्रता की भावना के परिचायक हैं। मगर यह 'दास' फिर अन्य शब्दों के साथ भी मैत्री कर बैठा। एक संत मलूकदास हो गए हैं। आधुनिक काल में बुलाकीदास उस परम्परा के अवरोह की अंतिम सीमा-रेखा प्रस्तुत करते हैं।